विशेष्यान्वयी विशेषणान्वयी क्रियान्वयी च एवकारार्थः तत्रान्ययोगव्यवच्छे
दको विशेष्यान्वयी यथा पार्थ एव धनुर्धरः पार्थसदृशो नान्यो धनुर्धरः किं तत्पा
र्थ एव विशेषधनुर्धर इति अयोगव्यवच्छेदको विशेषणान्वयी यथा शंखः श्वेत एव
श्वेतताभावः शंखे कदाचिन्नास्तीति भावः अत्यंतायोगव्यवच्छेदकः क्रियान्वयी यथा
दुष्टाः सर्वत्र सन्त्येव यत्र कुत्रचित्तु न तु कदापि दुष्टानामाप्यत्वबहूनां संभावनास्त्येव न तद्दुष्टा
नामत्यंताभाव इति भावः ॥ विरोधे गुणवादः स्यादर्थवादोऽवधारिते भूतार्थवादस्त
द्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः २ यथा सिंहो माणवक इति अग्निर्हिमस्य भेषजमिति
पंच पंचनखा भक्ष्या इति

॥ श्रीः ॥

मनुस्मृतिः ।

श्रीमत्कुल्लूकभट्टविरचितमन्वर्थमुक्तावल्यनुकूलवे-
रीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्त-
शास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकया भाषा-
भूषितया टीकया समेता ।

सुमेरुपुरनिवास्यावसथियाज्युपाह्वश्रीपण्डितहरिवंशशर्मणा
संशोधिता ।

इयं च
मुम्बय्याख्यराजधान्याम्
गौडवंशोद्भवभगीरथात्मजहरिप्रसादोपनामकेन
निर्णयसागरमुद्रणयन्त्रालये मुद्रयित्वा
प्राकाश्यं नीता ।

शकाब्दाः १८११ सनाब्दाः १८९० संवत् १९४६.

श्रीः

उपोद्घात कहते हैं.

परम आनंदरूप लक्ष्मीजीको आनंद देनेवाला मनुष्योंको मान देताहुआ ऐसा ईश्वर मनुजीकेद्वारा आनंद देनेवाले धर्मको कहताभया ?

यहां निश्चय मीमांसा–वेद–पुराण–व्याकरण–न्याय–योग–सांख्य–वेदांत आदि दर्शन-शास्त्र मनुष्योंको इसलोकमें और परलोकमें सुख देनेवाले कर्मके बोधक है तिन्होंके बीच-में स्वायंभुव मनुजीकरके कह्याहुआ धर्मशास्त्रही धर्म और अधर्मके निर्णयकी विधि-विषैं प्रथम प्रधानतासे अतिशयकरकै वर्तता है जिस्से वर्त्तमानसमयके अंग्रेजी राजाकी सभामेंभी न्याय और अन्यायको निश्चय करनेमें हाकिम और बालिष्टर वकील कौंशली आदि परम प्रमाणकरकै मनुशास्त्रको अंगीकारकर तिसके अनुसार धर्म और अधर्मके निर्णयको करते हैं तिस मनुजीकी उत्पत्ति वंशकी प्रवृत्ति धार्मिकपना धर्मोपदेशकपनाको कछुक कहते है—

इस वाराहकल्पमें एकसमय रचना और वृद्धिविषयक विचारको करतेहुये ब्रह्माजी-की इच्छाकरकै वह शरीर स्त्रीपुरुषरूपकरकै दो प्रकारसे भिन्न हुआ तिन्होंमें जो पुरुष हुआ वह स्वायंभुव मनु हुआ जो स्त्री हुई वह इस मनुकी शतरूपा नामवाली पत्नी होती भई पीछे तिन दोनोंसे मैथुन धर्मकरकै प्रजाकी वृद्धि हुई वह वृद्धि इसप्रकार है मनुजीकी शतरूपा पत्नीमें प्रियव्रत–उत्तानपाद–ऐसे नामोंवाले दो पुत्र और आकूति–देवहूति–प्रसूति ऐसे नामोंवाली तीन पुत्री ऐसे पांच संतान हुई तिन्होंमें १ विष्णुजीका उत्तम भक्त और उत्तम विरक्तभी प्रियव्रत भगवान् ब्रह्माजीकी आज्ञाकरकै धर्मसे पृथिवीको ग्यारह अर्व वर्ष पर्यंत शिक्षित करताभया तिसके वंशमें अतुल्यवीर्य्य शूरवीरता आत्माका साक्षात्कार इन आदि गुणोंसे संपन्न और जीवन्मुक्तभी निश्चय आश्रित होनेंवालोंको मुक्तिमार्ग विष-यक उपदेश करनेंवाले ऐसे ऋषभ और भरत आदि होतेभये २ उत्तानपादसेभी ध्रुव अंग पृथु प्राचीनबर्हि इन आदि नामवाले और अपने द्रव्यको तथा सर्वस्वको संपादित करनें-वाले और दुसरोंपर दया करनेंवाले और पृथिवीको शोभित करनेंवाले ऐसे राजे होतेभये ३ आकूति स्त्रीमें रुचि नामवाला पुरुष यज्ञावतार विष्णुको और दक्षिणानामवाली लक्ष्मी-पुत्रीको उत्पन्न करताभया तिन दोनोंसे तुषितनामवाले देवताओंके वंशकी वृद्धि हुई ४ देवहूतिमें कर्दम प्रजापतिसे संतानरूपकरकै कपिल भगवान् उत्पन्न हुये जिसनें यहां

संसारमें सांख्यशास्त्रमयी दृढरूप जहाज संपूर्ण जगत्को तारनेंकेवास्ते प्रवृत्त करी जागती है–अन्यभी देवहूतिकी पुत्रियां मरीचि अत्रि–भृगु–वसिष्ठ–अंगिरा–आदि ऋषि पतियोंकी संतान उत्पन्न करनेवाली होकै कृतकृत्यताको प्राप्त भई ९ प्रसूतिमेंभी दक्षप्रजापति त्रिलोकीमें अत्यंत विस्तारवाली संतानको उत्पन्न करताभया इसप्रकार संसारव्यापक वंशोंका आदिकारणरूप मनुजी सरस्वती नदीके तीरपर ब्रह्मावर्त क्षेत्रमें बर्हिष्मती अर्थात् विदुरनगरीमें मन्वंतरके अंतपर्यंत वसताहुआ सात द्वीपोंवाली पृथिवीकी रक्षा करताहुआ और बहुत दक्षिणावाले यज्ञोंसे यज्ञपुरुषकी पूजा करताहुआ योगसिद्धिमें निष्णात हुआ विषय और तृष्णासेरहित हुआ एकांतमें विष्णुके चरणोंका ध्यान करता हुआ पूछनेवाले भृगु आदि मुनियोंके अर्थ धर्मतत्वको प्रतिपादन करनेंवाला इस मनुस्मृतिरूप गुप्त धर्मशास्त्रको कहताभया–कहाहै–मुनियोंसे पूछाहुआ मनुजी वर्ण और आश्रमके शुभ धर्मोंको सब प्राणियोंके सब कालमें हित करनेंवाला होकै कहताभया–वह यह संहितारूप मनुशास्त्र सुननेंवाले मुनियोंके अर्थ भृगुजीनें कहा है इसविषैं आदिसे आरंभकर ब्रह्मा आदि देवतोंकी और पंचमहाभूत आदिकी उत्पत्ति और वर्णाश्रमवालेंकै अनुलोमज और प्रतिलोमज आदिकोंकै आपद और अनापदके विषयकरकै सामान्य और विशेष वेदप्रतिपादित ऐसा आवश्यक धर्म देशकाल आदिके अनुसारसे प्रकाशित है राजधर्मोंमें तो न्यायासनपर आरूढ हुये राजाकरके सूक्ष्म विचारसे नीतिधर्मका अनुष्ठान करना वह विस्तारसे प्रपंचित किया है पातकवालोंको तिसतिस पाप कर्मके अनुरूप कर्मविपाक गति प्रायश्चित्तका अनुष्ठान करनेंवालोंको तिसतिस आश्रमकी दूर करनेंके द्वारा स्वर्ग और मुक्तिकी प्राप्ति कही है आशा है कि विचारपूर्वक शोधित कियेभी इस ग्रंथमें कहीं कहीं अज्ञानसे अथवा दृष्टिदोषसे अशुद्ध होवै वह अनेक शास्त्रके सार और असारको जाननेंवाले पंडितोंकरके दयादृष्टिसे समानकरकै शोधित करना उचित है––

पंडित रविदत्तशास्त्रि राजवैद्य.

बेरी जिल्हा रोहतक.

मनुस्मृतिको सूचीपत्र.

अध्याय पहिला.

अथ दूसरा अध्याय २.

अध्याय पांचवा ५.

अध्याय नवमां ९.

अध्याय दशवां १०

श्रीपण्डितहरिवंशशर्मा सुमेरुपुरनिवासी.

श्रीः

श्रीगणेशाय नमः

अथ मनुस्मृतिः ।

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥

अथ मनुस्मृतिकी भाषाटीका ॥

श्लोकः

श्रीमद्गुरून्नमस्कृत्य बदरीपुरवासिना। क्रियते रविदत्तेन भाषामन्वर्थदीपिका ॥

अर्थ–एक समय स्वस्थचित्तसे बैठेहुए मनुजीके समीप भृगुआदि महर्षिसन्मुख जाके मनुजीसे पूजितहुए महर्षि यथार्थविधिसे मनुजीका पूजन कर इस वचनको बोलतेभये ॥ १ ॥

भगवन् सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अंतरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

अर्थ–हे भगवन् आप सब वर्णोंके अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र और वर्णसंकरोंके धर्मको यथार्थ क्रमसे हमारेवास्ते कहनेको योग्य हो ॥ २ ॥

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।
अचिन्त्यस्याऽप्रमेयस्य कार्यतत्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥

अर्थ–स्वयंभुव अर्थात् अपौरुष किसी पुरुषका नहीं कियाहुआ स्वयंसिद्ध और बहुतसी शाखा होनेंसे चिंतवन नहीं किया जावे, और जिसका प्रमाण न किया जावे ऐसे वेदका कार्यतत्वको धर्माधर्मकी व्यवस्थाको जाननेवाले तुमही हो अर्थात् स्वल्प बुद्धिमान् पुरुष नहीं जानसकते ॥ ३ ॥

सतैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥ ४ ॥

अर्थ–वह महान् सामर्थ्य वाला, तिन भृगुआदि महर्षियोंसे पूर्वोक्त श्रद्धा

भक्ति आदि प्रकारसे पूछाहुवा मनु तिन सबोंको सराहके बोला कि तुम सबलोग सुनो ॥ ४ ॥

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

अर्थ-यह जगत् प्रलयकालमें सूक्ष्मतासे प्रकृतिमें लीन होनेंसे दीखता नहीं था और लक्षणोंसे रहित था और बुद्धिसे तर्क करनेको, जाननेको, योग्य न था सब तर्फसे सोताहुवाकी तरह था अर्थात् अपने कार्यमें समर्थ नहीं था ॥ ५ ॥

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥

अर्थ-फिर प्रलयकालके अनंतर इच्छासे शरीरको धारण करनेवाले परमात्मा अव्यक्त अर्थात् अप्रकट और अप्रतिहत सामर्थ्यवाले और प्रलयअवस्थाके अंधकारको दूर करनेवाले भगवान् आकाश आदि महाभूतोंको प्रकट करतेहुए आप प्रकट होतेभये ॥ ६ ॥

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥

अर्थ-जो इंद्रियोंको उलंघके वर्तनेवाले मनसे ग्रहण करनेको योग्य और सूक्ष्म अर्थात वाह्येन्द्रिय अगोचर सनातन और सबजीवोंके आत्मा चिंतवन करनेको अयोग्य ऐसे भगवान है वे आपही महदादि कार्यरूपसे प्रकट होतेभये ॥ ७ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासुबीजमवासृजत् ॥ ८ ॥

अर्थ-अपने शरीरसें अनेक प्रकारकी प्रजाओंकी रचना करनेवाले वे भगवान पहले ध्यानमात्रसे जलोंको रचतेभये फिर तिन्होंमें अपनी शक्तिरूप बीजको रोपतेभये ॥ ८ ॥

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञेस्वयंब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

अर्थ-फिर वह परमेश्वरका बीज परमेश्वरकी इच्छा करके सुवर्णके समान और सूर्यकी किरणोंके समान कांतिवाला अंड होता भया फिर तिस अंडमें सब लोकोंको रचनेवाले ब्रह्मारूपसे वह परमात्मा अपाही उत्पन्न होतेभये ॥ ९ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणःस्मृतः ॥ १० ॥

अर्थ- जलको नारा ऐसा कहते है क्योंकि नर नामवाले परमात्मासे उत्पन्न हुआ संतानरूप जल है इसवास्ते नारा ऐसा कहा और वे जल पहले तिस भगवान्के अयन अर्थात् स्थान हुये इसवास्ते शास्त्रमें भगवान्को नारायण कहते है ॥ १० ॥

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

अर्थ- जो सब वस्तुवोंका कारण और बाह्यइंद्रियोंसे प्राप्त न होनेवाला और नित्य तथा सत् असत् वस्तुका आत्मारूप भगवान् है तिससे रचाहुआ वह पुरुष संसारमें ब्रह्मा कहा जाता है ॥ ११ ॥

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥ १२ ॥

अर्थ- वह भगवान् ब्रह्मा तिस अंडमें वर्षपर्यंत बास करताभया पीछे अपने ध्यानमात्रसे तिस अंडके दो टुकडे करताभया ॥ १२ ॥

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योमदिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ॥

अर्थ-तिन दो खंडोंसे स्वर्गको और पृथ्वीको रचता भया अर्थात् ऊपरके टुकडेसे स्वर्गलोक और नीचेकेसे भूलोकको रचताभया तिन्होंके मध्यमें आकाश आठ दिशा जलोंके स्थान समुद्र इन्होंको स्थिर रचता भया ॥ १३ ॥

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम् ।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥

अर्थ-फिर वह ब्रह्मा परमात्माके शकाशसे सत् और असत्रूप अपने मनको धारण करता भया तिस मनसे मैं ईश्वर हूं ऐसे अभिमान करनेवाला अहंकार उत्पन्न हुवा ॥ १४ ॥

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च ।

विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥

अर्थ-अहंकारसे मायासहित अपनेको महत्तत्व उत्पन्न किया तिस्से सब उत्पत्तियोंवाली और सत्त्व रज तम इन ३ गुणोंमे युक्त और शब्द स्पर्श आदि अपने अपने विषयोंको ग्रहण करनेवाली ऐसी पांच इंद्रियोंको धीरेधीरे रचता भया धीरेधीरे रचनेका क्रम दूसरे अध्यायमें कहा जावेगा ॥ १५ ॥

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम् ।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

अर्थ-बडेपराक्रमवाले तिन पूर्वोक्त ६ छहोंके अर्थात् अहंकार ५ पांच ज्ञानेंद्रिय इन्होंके सूक्ष्म अंगोंको इन्होंके अपने अपने विकारोंमें प्रवेशकरके मनुष्य पशु आदि सब जीवोंको रचताभया ॥ १६ ॥

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥

अर्थ-ये जो शरीरको उत्पन्नकरनेवाले सूक्ष्म छह अवयव हैं अर्थात् तन्मात्रा अहंकार और पांच इन्द्रिय ये तिस मायासहित ब्रह्मको आश्रय रहते हैं इसवास्ते बुद्धिमान् मुनिजन स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली परमात्माकी इस मूर्तिको शरीर कहते हैं ॥ १७ ॥

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः ।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥

अर्थ-तिस पूर्वोक्त तन्मात्रा आदिकोंसे युक्त स्थित हुए ब्रह्मको महान् आकाशादिक पांच तत्त्व अपने अपने कार्योंकरके सहित प्राप्त होजाते हैं अवकाश होना आकाशका कार्य है पाक होना अग्निका कार्य है ऐसे सबके जुदे जुदे कार्य हैं और अपने कार्य शुभाशुभ सुखदुःखादि रूपोंकरके युक्त हुआ तिस परमात्माका मन सबजीवोंको करनेवाला है और अविनाशी है ॥ १८ ॥

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम् ।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥ १९ ॥

अर्थ-पूर्वोक्त जो सात पुरुष महान् पराक्रमवाले हैं मायासहित परमात्मा १ महत्तत्त्व २ आकाशादि पंच महाभूत ५ ये हैं इन्होंकी तन्मात्राओंकरके और पांच इंद्रियोंकरके अविनाशी परमात्मासे नाश होनेवाला यह जगत् होता है ॥ १९

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः ।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

अर्थ–इन आकाश आदि महाभूतोंमेसे आद्यआद्यवालेका जो गुण है तिसको पर पर प्राप्त होता है और इन्हींमेसे जो जो जितनी संख्यावाला है वह उतनेही गुणोंवाला है जैसे आकाशका शब्दगुण वायुका शब्द स्पर्शगुण अग्निका शब्द स्पर्शरूप इस क्रमसे जानो ॥ २० ॥

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

अर्थ– वह परमात्मा सब जातियोंके नाम जैसे गौ जातिका गौ नाम और अश्वजातिका अश्व नाम और ब्राह्मण आदि सब वर्णोंके धर्मवेदके शब्दोंके अनुसार अर्थात् पहले कल्पमें जैसी जैसी रचना थी उसी तरह जुदीजुदी रचना करता भया ॥ २१ ॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः ।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥

अर्थ–वह प्रभु अर्थात् समर्थ ब्रह्माजीकर्मके स्वभाववाले प्राणी इन्द्रादिक देवताओंको रचता भया और अन्य देवताओंके समूहको तथा साध्यसंज्ञकदेवताओंके सूक्ष्म गणको और सनातन यज्ञको अर्थात् ज्योतिष्टोमादिक यज्ञको रचता भया ॥ २२ ॥

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ २३ ॥

अर्थ–ब्रह्माजी यज्ञोंकी सिद्धिकेवास्ते अग्नि वायु सूर्य इन्होंकेसकाशसे ऋक् यजु साम इन सनातन तीन वेदोंको प्रकट करतेभये अग्निसे ऋक् वायुसे यजु सूर्यसे साम इसक्रमसे प्रकट किये ॥ २३ ॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा ।
सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च ॥ २४ ॥

अर्थ–काल कालविभक्ति अर्थात् मास अयन आदिक नक्षत्र सूर्य आदिग्रह नदी समुद्र समानस्थान विषम ऊंचेनीचे स्थान इनसर्वोंको रचताभया ॥२४॥

तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च ।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

अर्थ-इसप्रजाको रचनेकी इच्छा करताहुआ ब्रह्माजी तप अर्थात् प्राजापत्यादि वाणी रति जिस्से मन प्रसन्न होता है इच्छा क्रोध इन सर्वोको रचताभया ॥ २५ ॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत् ।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजाः ॥ २६ ॥

अर्थ-कर्मोके जाननेके वास्ते धर्म और अधर्मको जनावताभया जैसे यज्ञादि धर्म कर्तव्य है और ब्रह्मवध आदि अधर्म अकर्तव्य है यह जनाया और तिन धर्मअधर्मोके फल सुखदुःखोंसे इनप्रजावोको युक्त करताभया ॥ २६ ॥

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः ।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

अर्थ-दशसे आधी पांच जो महाभूतोंकी सूक्ष्म तन्मात्रा रूप रस, गंध आदिक है और विनाशि अर्थात् महाभूतोंमें परिणाम होनेवाली है तिन्हों करके यह संपूर्ण जगत् क्रमसे उत्पन्न होता है ॥ २७ ॥

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

अर्थ- प्रभु समर्थ ब्रह्माजी पहले कल्पकी रचनामें जिसको जिसकर्ममें युक्त करताभया था वह वारंवार रचाहुआभी अपन कर्मके वशसे उसीतरह आचरण करने लगगया जैसे पहली सृष्टिमें सिंहजाति हिरण आदिकोंको मारनेमें युक्त थे वे उसी तरह आचरण करने लगगये ॥ २८ ॥

हिंसाहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशेत् ॥ २९ ॥

अर्थ-ब्रह्माजी पहले सर्गमें जैसे सिंहोंका हिंसाका कर्म और हरिण आदिकोंका अहिंसाकर्म रचताभया तथाब्राह्मणोंका कोमल क्षत्रियोंका क्रूर कर्म रचताभया ब्रह्मचारी आदिकगुरुकी शेवाकरनेका धर्म और मैथुन मांस सेवन अधर्म सत्यबोलना असत्य बोलना जैसा जिसका कर्म रचताभया वह अपने कर्मके वशसे तैसेही कर्मको करने लगगया ॥ २९ ॥

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये ।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

अर्थ–जैसे वसंतआदि ऋतु अपने कार्यके समय अपनैं चिन्होंको वृक्ष आदिकोंके मंजरी पत्ते आनेको आपही प्राप्त होजाती है तैसे देहधारी प्राणी अपने अपने कर्मोंको आपही प्राप्त होजाते हैं ॥ ३० ॥

लोकाना तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत् ॥ ३१ ॥

अर्थ–सृष्टिकर्तानें लोकोंकी वृद्धिके वास्ते ब्राह्मणमुखसे रचे क्षत्रिय बाहुओंसे वैश्य जंघोंसे और शूद्र पैरोंसे रचे ॥ ३१ ॥

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३२ ॥

अर्थ–वह ब्रह्मा आपनी देहके दो विभाग कर आधासे स्त्री और आधासे पुरुष रचा फिर तिस स्त्रीमें विराट्संज्ञक पुरुषको रचताभया ॥ ३२ ॥

तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ ३३ ॥

अर्थ–वह विराट्पुरुष आप तप करके जिस पुरुषको रचताभया हे द्विजोत्तमाहो तिसको मेरेको जानों अर्थात् मैं रचा और मुजको इस सबजगत्को रचनेवाला जानों ॥ ३३ ॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम् ।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

अर्थ–प्रजाओंको रचनेकी इच्छा करनेवाला मैं दुश्चर परम तपकरके पहले दश प्रजापतियोंको रचताभया क्योंकि वेभी प्रजाको रचनेवाले हैं ॥ ३४ ॥

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

अर्थ–मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु, नारद इनदशोंको रचता भया ॥ ३५ ॥

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥ ३६ ॥

अर्थ-ये दश प्रजापति बहुत तेजवाले अन्य सातमनुओंको और देवतोंको देवताओंके स्थानोको और अतुल तेजवाले महर्षियोंको रचतेभये ॥ ३६ ॥

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान् ।
नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितॄणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

अर्थ- जिनको यथार्थ क्रमसे रचते भये उन्होंको कहते है कि यक्ष, राक्षस,पिशाच गंधर्व, उर्वशी आदिक अप्सरा, वासुकीआदि नाग-सर्पउनसे नीचे सुपर्ण अर्थात् गरुडआदिक और जुदे जुदे पितरोंके गण ये रचे हैं ॥३७॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च ।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥

अर्थ-विजली-अशनि अर्थात् वृक्षादिकोंको नाशनेवाली वज्रसंज्ञक बिजली रोहित कहिये अनेक वर्णोंसे युक्त दंडाकार दीखै और इंद्रका धनुष, उल्का, आकाशसें जोतिका गिरना तारा टूटना निर्घात उत्पात शब्दपूछवाला तारा और ध्रुव अगस्त्य आदि अनेक तारे इन्होंको रचताभया ॥ ३८ ॥

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान् ।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥

अर्थ-किन्नर देव योनिविशेष जिनका मुख अश्वकेसमान होता है वानर मत्स्य अनेक प्रकारके पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य, व्याल, सिंहादिकजिनके दांतोंकी दोदो पंक्ती होती है ॥ ३९ ॥

कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
सर्वंच दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥

अर्थ-छोटे कीडे, बडे कीडे, पतंग पक्षी जूंम-मांखी खटमल, मच्छर इत्यादिक संपूर्ण डशनेवाले क्षुद्रजंतु और स्थावर अर्थात् अनेक प्रकारके वृक्ष लताआदिक ॥ ४० ॥

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥ ४१ ॥

अर्थ–इन मरीचिआदि महात्माओने मेरे संयोगकरके तपकेसंयोगसे कर्मके अनुसार यह सब स्थावरजंगम अर्थात् चराचर जगत् रचा ॥ ४१ ॥

येषा तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम् ।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि ॥ ४२ ॥

अर्थ–जिन प्राणियोंका जैसा कर्म इस संसारमें कहा है ब्राह्मण आदिकोंका अध्ययनआदिकर्म है वैसा वैसा तुह्मारेवास्ते कहूंगा और तिन्होंके जन्मआदिक योगको कहूंगा ॥ ४२ ॥

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥

अर्थ–अब जन्मयोगके क्रमको कहते है पशु मृग सिंहादिक विशेषकर जिनकेऊपर नीचे दोनोंतर्फ दांत होते हैं और राक्षस पिशाच मनुष्य ये सब जेरसे उत्पन्न होते है ॥ ४३ ॥

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः ।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥ ४४ ॥

अर्थ–पक्षी, सर्प, इत्यादिक स्थलमें रहनेवाले और मगर मत्स्य कच्छुवा इत्यादिक जलमें रहनेवाले ये सव अंडासे उत्पन्न होते है ॥ ४४ ॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम् ।
उष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम् ॥ ४५ ॥

अर्थ– पसीनासे उत्पन्न होनेवाले मच्छर काटनेवाले सूक्ष्मजीव और जूंम माखी खटमल ये और इनसरीखे अन्यजीव गरमाईकी बाफसे उत्पन्न होते हैं॥४५॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

अर्थ–पृथ्वीमें ऊगनेवाले सब स्थावर वृक्ष आदिक दो प्रकारके हैं बीजसे उत्पन्न होनेवाले और शाखा लगानेंसे होनेवाले और औषधी फलपकने के समय नाश होनेवाली होती है जैसे धानगेहूं जव और बहुतसे पुष्पफलोंसे युक्त होवेभी औषधी कहानी है ॥ ४६ ॥

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ।

पुष्पिणः फलिनः श्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥

अर्थ- जिनकै पुष्प नहीं लगै और फल लगते हैं वे वनस्पति कहाते है जैसे पीपलआदिक और जिनकै पुष्प तथा फलभी आते हैं वे वृक्ष कहाते है ऐसे वृक्षोंके दो भेद कहे है ॥ ४७ ॥

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥ ४८ ॥

अर्थ-जिनमें जडसेही लताका समूह हो और शाखाआदिकोंसें रहित हो सो गुच्छ कहाते है चमेलीआदिक और शरईख इत्यादिक गुल्म कहाते है ऐसे बीज और कांडसे उत्पन्न होनेवाली तृणोंकी अनेक जाति होती है और खीरा कुह्मडा तूंबी ये प्रतान कहातें है गुरचआदिक वेल कहाती है ॥ ४८ ॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

अर्थ-ये स्थावर वृक्षादिक बहुतसे रूपोंकरके कर्मरूप हेतुसे बंधेहुए और तमोगुणसे व्याप्त होते है और इन्होंके भीतर संज्ञा होती है और सुख दुःखोंसे युक्त है जैसें मेघके जलके संपर्कसे सुख प्रतीत होता है अभावमें नहीं ॥ ४९ ॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः ।
घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५० ॥

अर्थ-नित्य प्रति निरंतर जानेंआनेंवाले और जीवोंके जन्ममरणके प्रबंधवाले इस घोर संसारमें ब्रह्मासे आदिले इन वृक्षादिकोंपर्यंत उत्पत्ति कहदी है ॥ ५० ॥

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥ ५१ ॥

अर्थ-अचिंत्य पराक्रमवाले वे प्रजापति भगवान् इस उक्तप्रकारसे सब जगत्को रचके और मुजको रचके वारंवार सृष्टिकालको प्रलयकालमें नष्ट करते हुए आत्मामें शरीर त्याग करके अंतर्धान होजाते है ॥ ५१ ॥

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ ५२ ॥

अर्थ-जब वह प्रजापतिदेव जागता है अर्थात् सृष्टिकी स्थिति करनेकी इच्छा

करता है तब यह जगत् श्वास आहारादिकोंकी चेष्टा करता है और जब संहार-की इच्छावाला वह भगवान् इच्छासे निवृत्त होजाता है तब यह जगत् प्रलय होजाता है ॥ ५२ ॥

तस्मिन्स्वपति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः ।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥

अर्थ– जब वह ब्रह्माजी स्वस्थ होके सोवते है अर्थात् मनोव्यापारोंसे रहित होजाते हैं तब कर्मोंसे लब्ध शरीरवाले सब जीव अपनें अपने कर्मोंसे निवृत्त होजाते है और तिनका मन सब इंद्रियोंकरकेसहित वृत्तिसे रहित मूर्छित हो जाता है ॥ ५३ ॥

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।
तदायं सर्व भूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥

अर्थ– जब तिस परमात्मामें सब जीव एकही वार लीन होजाते है तब यह सर्वभूतात्मा अर्थात् सब जीवोंका आत्मारूप ईश्वर जाग्रत् अवस्थासे निवृत्त होके सुखसे सोवता है नित्यज्ञान और परमानंदस्वरूप आत्मामें सोवता नहीं वनता है परंतु यह जीवधर्मका उपचार कहा है ॥ ५४ ॥

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः ।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ५५ ॥

अर्थ– जब यह जीव तमोगुणके आश्रय हो अर्थात् अज्ञानकै आश्रय हो इं-द्रियोंसहित बहुतकालतक ठहरता है और श्वास प्रश्वासादिक कर्मकोभी नहीं करता है तब पूर्वदेहसे अन्य शरीरमें जाता है ॥ ५५ ॥

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च ।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

अर्थ– देहान्तर कैसे प्राप्त होता है सो कहते है–जब आणुमात्रिक होके अर्थात् शरीर प्राप्त होनेकी आठ सामग्री है. जीव १ इंद्रिय २ मन ३ बुद्धि ४ वासना ५ कर्म ६ वायु ७ अविद्या ८ ये है सो प्रथम अणुमात्रिक होकर वृक्षादिक वा मनुष्यादिकोमें हेतुभूत बीजरूप ठहरता है तब इन आठोंसेंयुक्त हो शरीरको धारण करता है ॥ ५७ ॥

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

अर्थ–वह ब्रह्माजी इसप्रकारसे अपनी जाग्रत् और स्वप्नअवस्थाकरके इस सब चराचर जगत्को निरंतर जिवावता है और मारता है वह ब्रह्मा अव्यय अर्थात् अविनाशी है ॥ ५७ ॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥

अर्थ– मनुजी कहते है कि ब्रह्माजी सृष्टिकी आदिमें इस धर्मशास्त्रको बनाके मेरेवास्ते ग्रहण करावताभया और मैने मरीचि आदि मुनियोंकेवास्ते ग्रहण करवाया ॥ ५८ ॥

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥ ५९ ॥

अर्थ–इस संपूर्ण धर्मशास्त्रको यह भृगु तुह्मारेवास्ते सुनावेगा क्योंकि यह मुनि इस शास्त्रको मेरेसे पढा है ॥ ५९ ॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥ ६० ॥

अर्थ– वह भृगु मनुजीसें तिस प्रकारसे कहे हुए वचनको सुनके तिन सब ऋषियोंके प्रति बोलाकि तुम मुजसे सुनो ॥ ६० ॥

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानोमहौजसः ॥ ६१ ॥

अर्थ–इस स्वायंभुवमनुके वंशमें होनेवाले छहमनु और है वे महात्मा महान् पराक्रमवाले मनु अपने अपने समयमें अपनी अपनी प्रजाको रचतेभये ॥ ६१ ॥

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ ६२ ॥

अर्थ– तिन छह मनुवोंको कहते है स्वारोचिष १ उत्तम २ तामस ३ रैवत ४ चाक्षुष ५ वैवस्वत ६ ये है ॥ ६२ ॥

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।

स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥ ६३ ॥

अर्थ–महान् तेजवाले स्वायंभुवसे आदि लेके ये सात मनु अपने अयने अधिकारके समय इस सब स्थावर जंगम जगतको रचतेभये ॥ ६३ ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ ६४ ॥

अर्थ–निमेष अर्थात् आंखिकी पलकका झपकनाको कहते है सो तिन अठारह निमेषोंकी काष्ठा होती है तीस ३० काष्ठाओंकी कला तीस कलाओंका मुहूर्त तीस मुहूर्तोंका अहोरात्र होता है ॥ ६४ ॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके ।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ ६५ ॥

अर्थ– मनुष्य और देवसंबंधी अहोरात्र अर्थात् दिनरातका विभाग सूर्य करता है तहां प्राणियोंके सोनेंकेवास्ते रात्रि है और कर्मोंकी चेष्टा करनेकेवास्ते दिन है ॥ ६५ ॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः ।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

अर्थ– मनुष्यका महीना पितरोंका अहोरात्र है तहां कर्मके अनुष्ठानकेवास्ते पक्षोंका विभाग है कृष्णपक्षमें दिन रहता है तहां कर्म करते है और शुक्लपक्ष रात्रि है तहां सोवते है ॥ ६६ ॥

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः ।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥

अर्थ– मनुष्योंका वर्षका देवताओंका अहोरात्र रातदिन होता है फिर तहां तिन दिन रातोंकाभी विभाग है मनुष्योंका उत्तरायणदेवताओंका दिन है और दक्षिणायन रात्रि है ॥ ६७ ॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः ।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

अर्थ– ब्रह्माजीके अहोरात्रका जो प्रमाण है तिसको सत्ययुग आदि युगोंके क्रमकरके संक्षेपमात्रसे सुनो ॥ ६८ ॥

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथा विधः॥ ६९॥

अर्थ– चार हजार देवताओंके वर्षोंका सत्ययुग होता है और तिसकी संध्या अर्थात् युगका पूर्वकाल ४०० वर्षका और संध्यांश अर्थात् उत्तरकाल ४०० वर्षका ऐसे ४८०० संख्या सत्ययुगकी है॥ ६९॥

इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ ७०॥

अर्थ– अन्य त्रेता आदि तीन युगोंमें संध्या और संध्यांशोंसहित एक एक सहस्र और शतकी हीनता है जैसे त्रेता ३६०० द्वापर २४०० संख्या कलियुग संख्या १२०० यहां सब जगंह देवताओंके वर्षोंकी संख्या जाननी॥ ७०॥

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ ७१॥

अर्थ– यह जो आदिमें चार युगोंकी संख्या बारहहजार कहीहै सो ये मनुष्योंके चार युग जाननें और यही १२००० संख्या होनेंमें देवताओंका एक युग होता है॥ ७१॥

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥ ७२॥

अर्थ–देवताओंके हजार युगोंका ब्रह्माजीका दिन होता है और हजार युगोंकीही एक रात्रि होती है अर्थात् देवताओंके दो हजार युगोंका ब्रह्माका अहोरात्र होता है॥ ७२॥

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ ७३॥

अर्थ–इस प्रकार हजार युगोंपर्यंत समाप्त होनेवाला ब्रह्माका दिन होता ह और इतनीही संख्यावाली रात्रि होती है इसप्रकार जो जानते है वे अहोरात्रसंज्ञ कहोते है और यह अहोरात्र पुण्य पवित्र है इस विशेषण करके ब्रह्माजीके अहोरात्रको जाननेवालोंकी स्तुति और पुण्यफलद्योतन किया है॥ ७३॥

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम्॥ ७४॥

अर्थ- वह ब्रह्माजी तिस पूर्वोक्त अहोरात्रके अंतमें शयनमें स्थित हुआ ब्रह्माजी बोध करता है अर्थात् जाग्रत् अवस्थामें प्राप्त होता है फिर प्रतिबुद्ध अर्थात् जागते है तब सत् असत्का आत्मक अपनें मनको रचते है ॥ ७४ ॥

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥

अर्थ- रचनेंकी इच्छा करताहुआ तिस परमात्माका मन सृष्टिको करता है पूर्वोक्त प्रकारसे महत्तत्त्वसे आकाश उत्पन्न हुआ तिस आकाशका गुण शब्द कहते है ॥ ७५ ॥

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।
बलवान् जायते वायुः सवै स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥

अर्थ-विकारको करनेंवाला आकाशसे संपूर्ण गंधों वहानेंवाला पवित्र और बलवान् वायु उत्पन्न हुआ तिस बायुका गुणस्पर्श कहा है ॥ ७६ ॥

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

अर्थ- वायुके विकारसे तम अर्थात् अंधेरेको नाशनेंवाला और अन्य वस्तुका प्रकाश करनेंवाला भास्ववत् अर्थात् प्रकाशवाला ऐसा अग्नि उत्पन्न हुआ तिसका गुण रूप है ॥ ७७ ॥

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥

अर्थ- अग्निके विकारसे जल उत्पन्न होते भये उन्होंका गुणरस, कहा है और जलोंसे गंधगुणवाली, गंधवती पृथ्वी उत्पन्न भई इस प्रकारसे आदिमें पंचमहाभूतोंकी सृष्टि अर्थात् रचना है ॥ ७८ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

अर्थ- पहले जो दिव्य बारहजार वर्षोंका एक दैविकयुग कहाथा वैसे इकहत्तर ७१ युगोंका मन्वंतर होता है अर्थात् तबतक एक मनुका अधिकार कहा है ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

अर्थ– ब्रह्माजी अपनें सुखसे क्रीडा करते हुएकीतरंह असंख्यात मनुवोंको रचता है और अनेक संहार वारंवार करता है यद्यपि शास्त्रमें १४ मनु कहे हैं परंतु अनंतसृष्टि होनेसे आवृत्तिद्वारा अनेक मनु कहे है ॥ ८० ॥

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ॥ ८१ ॥

अर्थ– सत्ययुगमे संपूर्ण धर्म चार पैरोसे युक्त रहा क्योंकि धर्मको बैलकेरूप करके निरूपण करते है सो चार पैरोंसेयुक्त होनेंसे सब अंगोंसे पूर्ण रहा और सत्य प्रधान रहा और शास्त्रकी मर्यादासेरहित, अधर्म करके धन बिद्या आदि किसी वस्तुकी प्राप्ति मनुष्योंको नहीं करी ॥ ८१ ॥

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः ।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः ॥ ८२ ॥

अर्थ– अन्यजो त्रेता आदितीन युग है उन्होंमें चोरी झूठ कपट इत्यादिकों-करके यज्ञादि धर्म एक एक पाद हीन होतागया जैसे त्रेतामें तीन पैर द्वापरमें दो पैर कलियुगमें एक पैर धर्म रहता है ॥ ८२ ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृतत्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः ॥ ८३ ॥

अर्थ– सत्ययुगमें धर्मके प्रभावसे सब मनुष्य संपूर्णसिद्धियोंवाले और चारसौ वर्षकी आयुवाले होतेभये और यह आयु त्रेता आदि युगोंमें एक एक पाद हीन होती गई जैसे त्रेतामें ३०० द्वापरमें २०० कलि युगमें १०० वर्षकी रह गई ॥ ८३ ॥

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम् ।
फलं त्वनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

अर्थ– इसप्रकार कहीहुई, वेदोक्त आयु और कर्मोके फलके विषयकी प्रार्थ-ना, और ब्राह्मण आदिकोंके शाप अनुग्रह क्षमा आदि प्रभाव युगयुगके अनुसार फलते है ॥ ८४ ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेताया द्वापरेऽपरे ।
अन्ये कलियुगे नृणा युगह्रासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

अर्थ– युगोंकी हीनताके अनुसार मनुष्योंके धर्म सत्ययुगके अन्य है और त्रेताके जुदे हैं द्वापरके दूसरे है कलियुगके अन्यही है ॥ ८५ ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥

अर्थ– सत्ययुगमें तप करना श्रेष्ठ है त्रेतामें ज्ञान और द्वापरमें यज्ञ कलियुगमें एकदानही प्रधान है यद्यपि तप आदि सब कर्म सब युगोंमें श्रेष्ठ है परंतु इनकी प्रधानता कही है ॥ ८६ ॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जाना पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

अर्थ– वह महान् तेजवाला ब्रह्माजी इस सब सृष्टिकी रक्षाकेवास्ते मुख बाहु जांघ पैर इन्होंसे उत्पन्न होनवाले ब्राह्मण आदि वर्णोंके जुदे जुदे कर्म कल्पित करताभया ॥ ८७ ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

अर्थ– ब्रह्माजी ब्राह्मणोंके छह कर्मोंको कल्पित करतेभये पढना १ पढाना २ यज्ञ करना ३ कराना ४ दान लेना ५ दान देना ६ ये कर्मकिये हैं ॥ ८८ ॥

प्रजाना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ८९ ॥

अर्थ–प्रजाकी रक्षा करनी दान देना यज्ञ करना पढना विषयोंमें आसक्त नहीं होना ये कर्म संक्षेपसें क्षत्रियोंके बनाये ॥ ८९ ॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

अर्थ– पशु अर्थात् गाय बैल आदिकोंकी पालना करनी दान देना यज्ञ करनी पढना वणिज करना व्याजकी वृत्ति करना खेती करना ये वैश्यके कर्म रचे ॥ ९० ॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

अर्थ–प्रभु समर्थ ब्रह्माजी ब्राह्मणआदि तीन वर्णोंकी सेवा करनी जिनके गुणोंकी निंदा नहीं करनी यही एक कर्म शूद्रका रचताभया यहां इस एक कर्मकी प्रधानता कही है और दान आदि अन्यभी कर्म करने श्रेष्ठ है ॥ ९१ ॥

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।
तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥

अर्थ–ब्रह्माजीने पुरुष पवित्र कहाहै और नाभिसे ऊपर अत्यंत पवित्र कहा है और मुख तिस्सेभी श्रेष्ठ कहा है अर्थात् पुरुषके सब अंगोंमें मुख श्रेष्ठ है ॥९२॥

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

अर्थ– उत्तमांग, मुखसे उत्पन्न होनेसे और क्षत्रिय आदिकोंसे प्रथम होनेसे वेदका धारण करनेंसे सब जगत्कों धर्मकी शिक्षा करनेसे सब वर्णोंमें ब्राह्मण प्रभु अर्थात् समर्थ है, बडा है ॥ ९३ ॥

तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

अर्थ– ब्रह्माजी सब जगतकी रक्षाकेवास्ते और देवताओंको हव्य और पितरोंको कव्य प्राप्त करानेकेवास्ते तप करके अपने मुखसे ब्राह्मणको रचताभया ॥ ९४ ॥

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः ॥ ९५ ॥

अर्थ– जिस ब्राह्मणके मुखके द्वारा सदा श्राद्ध आदिकोंमें देव जे हव्यको और पितर कव्यको भोजन करते है तिन ब्राह्मणोंसे अधिक क्या है ॥ ९५ ॥

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ९६ ॥

अर्थ– स्थावर जंगम भूतमात्रोंमें प्राणीजीव श्रेष्ठ है और तिन्होंमें बुद्धिवाले

जीव तोता मैना आदिक श्रेष्ठ है तिन बुद्धिवाले जीवोंमें मनुष्य श्रेष्ठ है मनुष्योंमें-भी ब्राह्मण श्रेष्ठ कहे है ॥ ९६ ॥

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ ९७ ॥

अर्थ– ब्राह्मणोंमें विद्वान् श्रेष्ठ है विद्वानोंमें कृतबुद्धि अर्थात् शास्त्रोक्त अनुष्ठानोंमें कर्त्तव्यता बुद्धिको करनेवाले श्रेष्ठ है तिन्होंमें तिस अनुष्ठानको करनेवाले श्रेष्ठ है तिन्होंमेंभी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण श्रेष्ठ है ॥ ९७ ॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ९८ ॥

अर्थ– ब्राह्मणकी उत्पत्ति यही धर्मकी शाश्वती अर्थात् अचल मूर्ति है क्योंकि यह ब्राह्मण धर्मकेवास्ते उत्पन्न हुआ है और धर्मके अनुग्रह आत्मज्ञान करके मोक्षकेवास्ते प्राप्त होता है ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ९९ ॥

अर्थ– पृथ्वीमें ब्राह्मणका उत्पन्न होना यही श्रेष्ठ है क्योंकि धर्मरूप खजानेकी रक्षाकेवास्ते सब जीवोंका ईश्वर ब्राह्मणही है अर्थात् ब्राह्मणद्वारा धर्म प्राप्त होता है ॥ ९९ ॥

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥ १०० ॥

अर्थ– जगतमें जो कुछ धन है सो सब ब्राह्मणकाही हैं और ब्रह्माजीके मुखसे उत्पन्न होनेसे तथा श्रेष्ठता होनेसे इस संपूर्णको ग्रहण करनेके योग्य ब्राह्मण है यहां स्तुतिकी उक्ति कही है ॥ १०० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः ॥ १०१ ॥

अर्थ– जोकि ब्राह्मण दूसरेका अन्नको भोजन करता है और दूसरेका वस्त्रको धारण करता है तथा दूसरेके वस्त्रादिको अन्यको दे देता है यह सब

ब्राह्मणकाही है यहां पहलेकी तरह स्तुति कही है और अन्य जन ब्राह्मण-
की करुणासे भोजनादिक करते है ॥ १०१ ॥

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।
स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

अर्थ– ब्रह्माका पुत्र बुद्धिमान् स्वायंभुव मनु ब्राह्मणके कर्म जाननेकेवास्ते और
क्रमके अनुसार क्षत्रिय आदिवर्णोंके कर्मके जाननेकेवास्ते इस धर्मशास्त्रको
रचता भया ॥ १०२ ॥

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित् ॥ १०३ ॥

अर्थ– विद्वान् ब्राह्मणोंको यह धर्मशास्त्र यतन करके पढना चाहिये और शि-
ष्योंकेवास्ते पढाना तथा व्याख्यान करना चाहिये और अन्य वर्णोंको सम्यक्
प्रकारसे अध्ययन करना योग्य नहीं है अर्थात् अध्ययन तो करैं व्याख्यान
आदिका अधिकार नहीं ॥ १०३ ॥

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

अर्थ– इस शास्त्रको पढताहुआ और इसके अर्थको जानके अपने नियमोंका
अनुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण मन, वाणी, काया, इन पापोंसें कर्मदोषोंसें लि-
प्त नहीं होता है ॥ १०४ ॥

पुनाति पङ्क्तिवंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् ।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥

अर्थ– जिस पंक्तिमें कोई भ्रष्ट पुरुष बैठा हो ऐसी भ्रष्ट पंक्तिको और
अपने वंशमें होनेवाले पिता प्रपिता आदि सात पहलेके और पुत्र आदि
सात पिछेके जनोंको इस शास्त्रको जाननेवाला विद्वान् पवित्र करता है और
वही एक सकल धर्मको जाननेवाला पुरुष पात्र होनेसे संपूर्ण पृथ्वीको ग्रहण
करनेको योग्य है ॥ १०५ ॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम् ।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

अर्थ– यह शास्त्र कल्याणको प्राप्त करनेवाला है श्रेष्ठ है बुद्धिको बढानेवाला है यशको करनेवाला तथा आयुष्यको बढानेंवाला है और मोक्षको देनेंमें यह शास्त्र परम श्रेष्ठ है ॥ १०६ ॥

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम् ।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

अर्थ– इस शास्त्रमें संपूर्ण प्रकारसे धर्म कहा है और मनुष्योंके कर्मोंके गुण दोष कहे है तथा चारोंवर्णोंके यथार्थ आचार कहे है ॥ १०७ ॥

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥१०८॥

अर्थ– वेद स्मृति इनमें कहाहुआ आचार परमधर्म है इसवास्ते आत्माके हितकी इच्छा करनेवाला द्विज आचारमें सदा प्रयुक्त रहै ॥ १०८ ॥

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ १०९ ॥

अर्थ– आचारसे विगडाहुआ विप्र वेदके फलको नहीं प्राप्त होता है और आचारसे युक्त पुरुष संपूर्ण फलको प्राप्त होता है ॥ १०९ ॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

अर्थ– पहले मुनिजन आचारको धर्मकी गति जानके संपूर्ण चांद्रायण आदि तपोंके मूलरूप परम उत्तम आचारको ग्रहण करते भये ॥ ११० ॥

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च ।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥

अर्थ– अब इस ग्रंथकी अनुक्रमणिकाको कहते है, जगतकी उत्पत्ति पहली अध्यायमें कही है और संस्कारकी विधि ब्रह्मचारीके व्रताचरणका उपचार ये दूसरी अध्यायमें कहे है और स्नानका परम विधान ॥ १११ ॥

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम् ।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वतः ॥ ११२ ॥

अर्थ– और विवाहकी विधि तथा ब्रह्मआदि विवाहोंके लक्षण और वैश्वदेव

आदि पंचमहायज्ञोंका विधान और जो सनातन चलाआता है वह श्राद्धविधान ये तीसरी अध्यायमें कहे है ॥ ११२ ॥

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥

अर्थ- वृत्ति अर्थात् आजीविकाओंके लक्षण गृहस्थके नियम ये चौथे अध्यायमें कहे है, भक्षण करनेके योग्य पदार्थ अभक्ष्य पदार्थ, शौच द्रव्योंकी शुद्धि ॥११३॥

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च ।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम् ॥ ११४ ॥

अर्थ- स्त्रियोंके धर्मका उपाय ये पांचवे अध्यायमें कहे है और वानप्रस्थका धर्म, मोक्ष, संन्यासीका धर्म यह छठे अध्यायका विषय है और राजाके सब धर्म सातवे अध्यायमें कहे है और ऋणआदि कार्योंका निर्णय ॥ ११४ ॥

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि ।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम् ॥ ११५ ॥

अर्थ- साक्षीके प्रश्नका विधान, येह आठवी अध्यायका विषय है, और स्त्रीपुरुषके धर्मका विधान और विभाग अर्थात् जुदे होनेका धर्म, जुवारी चौरोंका पत्ता लगाना ॥ ११५ ॥

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च संभवम् ।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६ ॥

अर्थ- और वैश्य, शूद्र इन्होंके धर्मका उपचार यह नवमें अध्यायका विषय है और वर्णसंकरोंकी उत्पत्ति, विपत्तिका धर्म ये दशवे अध्यायमें कहे है और प्रायश्चित्तकी विधि ग्यारवे अध्यायमें कही है ॥ ११६ ॥

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम् ।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम् ॥ ११७ ॥

अर्थ- देहान्तरमें प्राप्त होना यह संसारका गमन और उत्तम मध्यम अधम ऐसे तीन प्रकारके कर्म मोक्षका स्वरूप और कर्मोंके गुणदोषकी परीक्षा ॥ ११७ ॥

देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान् ।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः ॥ ११८ ॥

अर्थ– देशोंके धर्म और ब्राह्मण आदि जातियोंके धर्म और सनातन, कुलोंके और वेदसे विरुद्ध पाखंडीपुरुषोंके समूहोंके धर्म इन सब धर्मोंको मनुजी इस धर्मशास्त्रमें कहते भये ॥ ११८ ॥

यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया ।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत ॥ ११९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अर्थ– ऋषियोंके प्रति भृगुजी कहते है की, पहले मुजसे पूछेहुए मनुजी जिस प्रकार मेरेवास्ते कहते भये तैसेही आपभी अब मेरे सकाशसे सुनिये ॥ ११९ ॥

इति वेरीनिवासीबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितायां मन्वर्थदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥ १ ॥

अर्थ– नित्य रागद्वेषादिकोंसे रहित और वेदके अर्थोंको जाननेवाले श्रेष्ठपुरुषोंनें जिस धर्मका सेवन किया और अपनें हृदयमें कल्याणका साधन जाना तिस धर्मको सुनो, यह कथन भृगुजीका ऋषियोंके प्रति है ॥ १ ॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

अर्थ– पुरुषको किसी फलकी अभिलाषा करनी उसको कामात्मता कहते है, सो अच्छी नहीं है क्यौंकि कामना बंधनका हेतु है और नित्य नैमित्तिक कर्म आत्मज्ञान सहकारी होके मोक्षके हेतु है यहां इच्छामात्रका निषेध नहीं है क्योंकि वेदको अंगीकार किया है और वेदके सब धर्मोंका संबंध इच्छाकाही है इसवास्ते वैदिक कर्म करनें योग्यही है ॥ २ ॥

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

अर्थ– इस कर्मसे यह प्रयोजन सिद्ध होगा इस विचारको संकल्प कहते है संकल्प हो लेता है तब उसमें काम इच्छा होती है तब उसका यतन कराजाता है ऐसे यज्ञ संकल्पसे उत्पन्न होती है और व्रत नियम धर्म ये सब संकल्पसेही होते है ॥ ३ ॥

अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

अर्थ– संसारमें जो कुछ भोजन गमन आदिक क्रिया है सो विना इच्छा कभीभी नहीं दीखती है इसवास्ते वैदिक तथा लौकिक जो जो कर्म यह पुरुष करता है सो इच्छाका कार्य है ॥ ४ ॥

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।
यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥

अर्थ– यहां इच्छामात्रका निषेध नहीं है, इसीवास्ते कहते है की, जिन शास्त्रोक्त कर्मोंमें सम्यक् प्रकारसे वर्त्तता हुआ पुरुष बंधन हेतुफलकी अभिलाषा कियेंविना अमर लोक अर्थात् ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है और जो पुरुष जैसे जैसे संकल्पोंको यहां विचारता है वह वैसी वैसीही कामना पितरलोकादिकोंको प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

अर्थ– संपूर्ण वेद धर्ममूल है अर्थात् वेदमें धर्मही मुख्य कहा है और तिस वेदको जाननेंवाले मनु आदिकोंकी स्मृति और शील अर्थात् रागद्वेषका परित्याग येभी धर्म मूल है और श्रेष्ठ पुरुषोंका आचारही कंबल, वल्कल आदिकोंका धारण करना और मनका संतोष करना येहभी धर्ममूल है अर्थात् इन सबका उद्देश धर्मही है ॥ ६ ॥

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः ।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ ७ ॥

अर्थ– जो कछुक धर्म किसीक ब्राह्मण आदिका मनुजीनें कहा है वह सब धर्म वेदमें कहा है क्योंकि वह मनुजी सब ज्ञानको जाननेवाला है ॥ ७ ॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥ ८ ॥

अर्थ– विद्वान् पुरुष मीमांसा व्याकरण आदि ज्ञानचक्षुकरके शास्त्रमें उत्पन्न हुए संपूर्ण वेदके अर्थोंको विचारके वेदके प्रमाण कियेहुए अनुष्ठानसे अपनें धर्ममें स्थित रहै ॥ ८ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥

अर्थ– वेद और स्मृतिमें कहाहुआ धर्मका अनुष्ठान करताहुआ पुरुष इस लोकमें कीर्तिको प्राप्त होता है, और परलोकमें स्वर्ग, मोक्ष, आदिक उत्तम सुखको प्राप्त होता है यहां सिद्धान्त गुण कथन करनेसे यह विधि कही है की, श्रुतिस्मृतिमें कहाहुआ धर्मका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ १० ॥

अर्थ– श्रुति वेद है और स्मृति मन्वादिकोंका धर्मशास्त्र है ये दोनो संपूर्ण प्रयोजनोंमें अतर्क्य है अर्थात् किसीतरहका इन्होंमें तर्क न करे क्योंकि इन्होंसे कहाहुआ धर्म प्रकाशताको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ ११ ॥

अर्थ– जो द्विज श्रुतिस्मृति इन दो पुस्तकोंको हेतु शास्त्राश्रय अर्थात् वेदके वचनोंका प्रमाण नहीं इत्यादिक बचनोंकरके निंदा करता है वह पुरुष श्रेष्ठ पुरुषोंकरकै पंक्तिसे बाहिर निकासदेना चाहिये क्योंकि वेदकी निंदा करता है इसीवास्ते नास्तिक है ॥ ११ ॥

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

अर्थ– वेद मन्वादिकोंकि स्मृति सदाचार शील आदि और संतोष, यह चार प्रकारका साक्षात् धर्मका लक्षण है ॥ १२ ॥

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मं ज्ञानं निधीयते ।

धर्म जिज्ञासमानाना प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

अर्थ– जो पुरुष अर्थ कामना इन्होंमें आसक्त नहीं है उन्होंका यह ज्ञानरूप धर्म निरूपण किया है और धर्मको जाननेंकी इच्छावाले पुरुषोंका परम उत्तम प्रमाण श्रुति अर्थात् वेद है ॥ १३ ॥

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यग्युक्तौ मनीषिभिः ॥ १४ ॥

अर्थ– जहां श्रुति दो प्रकारकी है अर्थात् वेदमें दो प्रकारके धर्म कहे है वहां दोनों धर्म करनें मनुजीनें कहे है क्योंकि मनुजीसे पहलेके ऋषियोंनेभी वे दोनों धर्म अच्छी प्रकारसे कहे है ॥ १४ ॥

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

अर्थ– उदित अर्थात् सूर्य उदय हो रहा है और अनुदित नहीं उदय हो रहाहो और समयाध्युषित अर्थात् सूर्य नक्षत्र आदिकोंसें रहित ऐसा काल विरुद्ध है परंतु विकल्प होनेसे ऐसे सब कालोंमें यज्ञ करनी चाहिये यह वेदकी श्रुति है यहां यज्ञशब्द गौण है उदय होनेंके समय होम करना चाहिये यह वेदकी श्रुति है ॥ १५ ॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्ज्ञेयोनान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

अर्थ– जिस वर्णकी गर्भाधानसे लेके अंतेष्टीपर्यंत वेदके मंत्रोंकरके अनुष्ठान विधि कही है तिसका अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यका इस शास्त्रमें अधिकार है और यह अन्य शूद्रादिकको नहीं पढना चाहिये ॥ १६ ॥

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

अर्थ– सरस्वती, देवनदी अर्थात् गंगा यमुना इन्होंके मध्यका जो देश है वह देवताओंकरके रचाहुआ है उसको ब्रह्मावर्त्त कहते है ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णाना सान्तरालाना स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

अर्थ– ये जो व्रात्यसंज्ञक अपवित्र वर्ण हैं इन्होंके संग ब्राह्मण विपत्तिकालमें-भी कभी अध्यापन तथा कन्यादान भोजनआदि कर्मोंको न करे॥ ४० ॥

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्वेण शाणक्षौमादिकानि च॥ ४१ ॥

अर्थ– ब्रह्मचारी, कालामृग, रुरुमृग भेड इन्होंकी चर्मको ओढै ब्राह्मण आदिक यथाक्रमसे इन चर्मोंको धारण करैं और शण रेशमी वस्त्र इत्यादिकोंका अधोवस्त्र करै॥ ४१ ॥

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी॥ ४२ ॥

अर्थ– ब्राह्मणकी मेखला, मुंजकीसमान तीन गुणियोंसे बनाई हुई और बारीक अर्थात् सुखस्पर्शवाली ऐसी करनी चाहिये और क्षत्रियकी धनुषकेसमान रूपवाली और मूर्वा अर्थात् मरोडफली (तृणविशेष) की मेखला करै वैश्यकी शणके तंतुवोंकी करै॥ ४२ ॥

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा॥ ४३ ॥

अर्थ– मूंज न मिले तो कुशा, आपटा, वल्वज (तृणविशेष) इन्होंकी मेखला तीन गुणियोंवाली एक ग्रंथि करके अथवा तीन ग्रंथियोंकरके तथा पांच ग्रंथियोंकरके बनानी चाहिये॥ ४३ ॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्॥ ४४ ॥

अर्थ– ब्राह्मणका यज्ञोपवीत कपासके सूत्रका बनावे ऊर्ध्ववृतकरके त्रिगुण बनावे अर्थात् नवतारका बनावे और राजाका जनेऊशणका और वैश्यका भेडकी ऊनका बनावे॥ ४४ ॥

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥ ४५ ॥

अर्थ– ब्राह्मणका दंड बेलका अथवा पलाशका करै और क्षत्रियका दंड वडका अथवा खैरका और वैश्यका दंड पीलू तथा गूलरका करै यह धर्म इस क्रमसे सब वर्णोंका जानना॥ ४५ ॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥

अर्थ- ब्राह्मणका दंड केशोंतक प्रमाण का ऊंचा हो और क्षत्रियका दंड मस्तक पर्यंत हो और वैश्यका दंड नासिकातक प्रमाणका हो ॥ ४६ ॥

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।
अनुद्वेगकरा नृणा सत्वचो नाग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

अर्थ- वे ब्राह्मण आदिकोंके दंड सरल हो और छिद्रोंसेरहित हो सुंदर दीखते हौं मनुष्योंको भयंकर नहीं हो वकलासहित हो और अग्निसे जले हुए नहीं हो इस प्रकारके दंड तीनों वर्णोंके करै ॥ ४७ ॥

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

अर्थ- इप्सित अर्थात् प्राप्त होनेकेयोग्य दंडको ग्रहणकरके सूर्यके सन्मुख स्थित हो अग्निकी प्रदक्षिणा कर यथाविधिसे भिक्षाका आचरण करे ॥ ४८ ॥

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥ ४९ ॥

अर्थ- ब्राह्मणका उपनयनकर्म किया जावे तब भवत् शब्दको पूर्व उच्चारण करके भिक्षा मांगे जैसे भवति भिक्षां मे देहि और क्षत्रिय मध्यमें भवत् शब्दको कहै जैसे भिक्षां भवति देहि वैश्य अंतमे कहै जैसे भिक्षां देहि भवति ॥ ४९ ॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम् ।
भिक्षेत भिक्षा प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

अर्थ- यज्ञोपवीतसंबंधी भिक्षाको प्रथम मातासे मांगै अथवा वहन नसे तथा-मौंसीसे मांगै जोकि पहले इसका अपमान न करे तिस्से मांगनी चाहिये ॥५०॥

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदर्थममायया ।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

अर्थ- बहुतसे जनोंसे तिस भिक्षाको ल्याके निष्कपट होके गुरुकेवास्ते तृप्ति-पर्यंत देके आचमन कर पूर्वाभिमुख होके भोजन करै ॥ ५१ ॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः॥ ५२॥

अर्थ– आयुके हितकेवास्ते पूर्वकी तर्फ मुखकरके भोजन करै, यशकेवास्ते दक्षिणाभिमुख होके भोजन करै, लक्ष्मीकेवास्ते पश्चिमकी तर्फ मुखकरके भोजन करै, सत्यकेवास्ते उत्तरकी तर्फ मुखकरके भोजन करै ॥ ५२ ॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥ ५३॥

अर्थ–ब्राह्मण नित्यप्रति आचमनआदिकरके भोजन करै स्वस्थचित्त होके भोजन करनेके पीछे हाथ पैरोंको धोके जलका स्पर्श कर चक्षु, कर्ण, आदि इंद्रियोंकों स्पर्श करै ॥ ५३ ॥

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥ ५४॥

अर्थ–नित्यप्रति भोजनका पूजन करै अर्थात् अच्छा और निंदा नहीं करै भोजनको देखकै प्रसन्न होत्सदा हमारेको यह भोजन मिलो, ऐसें सराहके नमस्कार करै ॥ ५४ ॥

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥ ५५॥

अर्थ–पूजित भोजन नित्यप्रति बलको और वीर्यको बढाता है और विना पूजन कियाहुआ भोजन बल वीर्य इन दोनुवोंको नाशता है ॥ ५५ ॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्॥ ५६॥

अर्थ–झूठा भोजन किसीकों नहीं देवे और मध्यान्ह समयके तथा रात्रिके भोजनके बीचमें तीसरेवार भोजन नहीं करै और उच्छिष्टहुआ कहीं गमन न करे ॥ ५६ ॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ ५७॥

अर्थ–इस प्रकार ज्यादे भोजन कियाहुआ आरोग्य नहीं देता आयुमें हित

नहीं है इसीवास्ते अजीर्णआदि रोगोंमें मरनेंसे स्वर्गकोंभी नहीं प्राप्त होने देता, पवित्र नहीं है और लोगोंमें निंदा कराता है इसवास्ते तिस ज्यादै भोजनको वर्ज देवै ॥ ५७ ॥

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥

अर्थ—ब्राह्मण आदि वर्ण ब्राह्मतीर्थकरके आचमन करै अथवा देवतीर्थकरके आचमन आदि करै और पितृतीर्थ करके आचमन आदिकभी न करै ॥५८॥

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

अर्थ—अंगुष्ठ मूलके नीचे ब्राह्मतीर्थकों कहते है और कनिष्ठिका अंगुलिके मूलमें कायतीर्थकों और उसीके अग्रभागमें दैवतीर्थकों कहते है और अंगुष्ठ प्रदेशिनी इन दोनोंके मध्यमें पितृतीर्थकों कहते है ॥ ५९ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥ ६० ॥

अर्थ— पहले तीन आचमनकर पीछे दोवार मुखकै जल स्पर्शकरके मुखकी शुद्धि करै पीछे जलकरके चक्षु आदि इंद्रियोंको शिरको और हृदाको स्पर्श करै ॥ ६० ॥

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित् ।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥ ६१ ॥

अर्थ—आगरहित और गरमाईसेरहित अर्थात् शीतल जलसे, पवित्र होनेकी इच्छा करनेवाला धर्मको जाननेवाला पुरुष एकान्त जगहमें पूर्वकी तर्फ अथवा उत्तरकी तर्फ मुखकरके आचमन करै ॥ ६१ ॥

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः ।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥ ६२ ॥

अर्थ—इस प्रकार कहाहूआ आचमनका जल हृदातक पहुंचनेंसे ब्राह्मण शुद्ध होता है और कंठतक पहुंचनेसे क्षत्रिय शुद्ध होताहै और मुखमें पहुंचनेसे वैश्य पवित्र होता है और शूद्र जलका स्पर्श करनेसेही शुद्ध होजाता है ॥ ६२ ॥

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥ ६३ ॥

अर्थ–दहिना हाथ वाहिरको और बायेंहाथपर यज्ञोपवीत अथवा वस्त्र रहै उसको उपवीती द्विज कहते है और दहिनें हाथमें यज्ञोपवीत रहै उसको प्राचीनावीति कहते है और कंठमें यज्ञोपवीत तथा वस्त्र रहै उसको निवीती कहते है ॥६३॥

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत् ॥ ६४ ॥

अर्थ–मेखला अजिन अर्थात् मृगछाला, दंड, यज्ञोपवीत, कमंडलु ए टूट जावें तब पानीमें डाल देनें चाहिये और अपनें अपनें गृह्योक्तमंत्रोंकरके अन्य नवीन धारण करै ॥ ६४ ॥

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबंधोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥ ६५ ॥

अर्थ–केशान्त अर्थात् गृह्योक्तसमावर्तनकर्म ब्राह्मणकै सोलवें वर्षमें करै, क्षत्रियकै बाईसवें वर्षमें करै, वैश्यके चोवीसवे वर्षमें करै ॥ ६५ ॥

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

अर्थ–यह कहीहुई जातकर्मादि क्रिया स्त्रियोंकै शरीरके संस्कारकेवास्ते कहेहुए कालके क्रमसें अमंत्रक अर्थात् वेदके मंत्रोंकेविना करै ॥ ६६ ॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥

अर्थ–स्त्रीकै जो विवाहकी विधि है यही उपनयन संस्कार मनुआदिकोंको कहा है और पतिकी सेवा करनी यही वेदाध्ययनरूप गुरुकुलवास है और घरका कृत्य करना यही सायंप्रातःकाल अग्निहोत्रकर्म कहा है ॥ ६७ ॥

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

अर्थ–यह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनोंवर्णोंकी उपनयन संबंधी विधि कहदी

है यह विधि दूसरे जन्मको प्रकट करनेवाली है और पवित्रहै अब इससे आगे जो कर्म कर्तव्य है उसको सुनो ॥ ६८ ॥

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

अर्थ–गुरु शिष्यकों उपनयनसंस्कार कराके शौच आदिक आचार और सायंप्रातःकाल अग्निहवन संध्योपासन ए कर्म शिखलावे ॥ ६९ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः ।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ ७० ॥

अर्थ–पढनेंवाला शिष्य शास्त्रके अनुसार आचमन कर और उत्तरकी तर्फ मुखकर ब्रह्म अंजली बांधके पवित्र हलका वस्त्रकों धारण कर और जितेंद्रिय हो गुरुसे पढै ॥ ७० ॥

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

अर्थ–वेदके पढनेके आरंभमें और अंतमें गुरुके पैरोंको सदा ग्रहण करै और हाथ जोडके बैठके पढै इसकों ब्रह्मांजलि कहते है ॥ ७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

अर्थ–सूधा हाथ करके गुरुके पैरोंकों स्पर्श करै बाये हाथसें बायें पैरकों छूवै और दहिनें हाथसे दहिनें पैरको छूवै ॥ ७२ ॥

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः ।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥ ७३ ॥

अर्थ–आलस्यरहित गुरु नित्यप्रति, पढनेवाले शिष्यकों पढनेकेसमय अधीष्व भो अर्थात् हे शिष्य पढो ऐसे कहै और विरामोस्तु ऐसे गुरु कहै अर्थात् अबवश करो ऐसे कहै तब शिष्य पढना बंद करै ॥ ७३ ॥

ब्रह्मणःप्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
स्रवत्यनोंकृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥ ७४ ॥

अर्थ–ब्राह्मण सदा वेदके पढनेंके आरंभमें और अंतमें ॐ ऐसें कहै क्योंकि

जो पहले ॐकार नहीं कहता है उसका पढना धीरें धीरें नष्ट होजाता है और जो पीछे ॐ नहीं कहाता है उसकै यादही नहीं रहता है ॥ ७४ ॥

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति ॥ ७५ ॥

अर्थ-पूर्वाग्र कुशाओंको विछाके तिनपें बैठे और हाथोंमें कुशाके पवित्रोंसे पवित्र हो फिर तीन प्राणायामों करके पवित्र हो तब ॐकार कहनेको योग्य होता है ॥ ७५ ॥

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवः स्वरितीति च ॥ ७६ ॥

अर्थ-ब्रह्माजी अकार उकार मकार इन अक्षरोंको और भूर्भुवःस्वः इन तीन व्याहृतियोंकों तीनोंवेदोमांहसे क्रमसें निकासते भये ॥ ७६ ॥

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ७७ ॥

अर्थ-ब्रह्माजी ऋक्, यजु, साम इन तीन वेदोंसें तत् ऐसें प्रतीकसे ऋचा जिसमें है ऐसी गायत्रीके एकएक पादकों निकासते भये ॥ ७७ ॥

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥ ७८ ॥

अर्थ-जो वेदकों जाननेवाला ब्राह्मण ॐकारकों और व्याहृतियोंसहित इस-गायत्रीकों दोनों संध्याओमें पढता है वह विप्र वेदत्रयी पढनेके पुण्यको प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥

अर्थ-जो द्विज त्रिक अर्थात् ॐकारसहित त्रिपाद इस गायत्रीकों ग्रामसे बाहिर नदी आदिमें हजारवार एक महीनातक जपता है वह बहुत पापसेभी छूट जाता है. जैसे कांचलीसें सर्प छूट जाता है तैसे ॥ ७९ ॥

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

अर्थ-इस गायत्रीके जप करनेंसें रहित और सायंप्रातर्होम आदि अपनी क्रियासें रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सज्जनपुरुषोंमें निंदाकों प्राप्त होता है ॥८०॥

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

अर्थ-ॐकारपूर्वक तीन महाव्याहृति भूर्भुवः स्वः ए मोक्षफलके हेतु होनेसें अविनाशी है और यह त्रिपदागायत्री वेदका मुख जानना अथवा परमात्माकी प्राप्तिका मुख अर्थात् द्वार जानना चाहिये ॥ ८१ ॥

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

अर्थ- जो पुरुष दिन दिन प्रति आलस्यरहित होके तीनवर्षतक ॐकारयुक्त गायत्रीकों जपता है वह परमब्रह्मकों प्राप्त होता है और वायुकी तरह कामचारी होके ब्रह्मकी मूर्तिरूप हो जाता है ॥ ८२ ॥

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥ ८३ ॥

अर्थ-ॐ यह जो एकाक्षर है सो परमब्रह्म है मोक्षका हेतु होनेसें, और ॐकारसहित व्याहृतियोंकी तीन आवृत्तियोंके प्राणायाम जो है सो परमतप है, गायत्रीसें अधिक कोई मंत्र नहीं है मौन धारणसे सत्य श्रेष्ठ है ॥ ८३ ॥

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजति क्रियाः ।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

अर्थ-हवन आदिक और यज्ञ आदिक संपूर्ण वेदकी क्रिया फलकी अवधि होनेपर नष्ट होजाती है और नहीं क्षय होनेवाला ब्रह्मरूप प्रजाका पति ऐसा दुष्कर ॐकार है मोक्षका हेतु होनेसे क्योंकि ब्रह्मभावका विनाश नहीं है॥ ८४ ॥

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥८५॥

अर्थ-बलि वैश्वदेव आदि विधि यज्ञोंसें ॐकारआदिकोंकी जप यज्ञ दशगुनी अधिक है और उपांशु अर्थात् समीपमें स्थितहुआ मनुष्यकों नहीं सुनै ऐसा जपयज्ञ सौ १०० गुना है और मानस अर्थात् जिसमें जिह्वा ओष्ठ नहीं हिलै वह यज्ञ हजारगुना कहा है ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६ ॥

अर्थ-जो पंचमहायज्ञोंमें वैश्वदेव आदि चार पाकयज्ञ है, विधियज्ञ अर्थात् अमावस्या पौर्णिमा आदि उनसहित वे सबयज्ञ जपयज्ञके सोलहवेहिस्सेकोभी प्राप्त नहीं होते ॥ ८६ ॥

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

अर्थ-ब्राह्मण जपमात्र करनेंसेही सिद्धिको प्राप्त हो जाता है इसमें संदेह नहीं और अन्य यज्ञआदिकोंको करो अथवा मतकरो क्योंकि ब्राह्मण मैत्र कहाता है अर्थात् सबके संग मित्रता रखनेंवाला कहाता है और यज्ञ आदिकोंमें पशुवध होनेंसे सब प्राणियोंमें प्रियता नहीं होसक्ती यहां जपकी प्रशंसा कही है कछु यज्ञका निषेध नही जानना ॥ ८७ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

अर्थ-वशमें नही होसकें ऐसे विषयोंमें विचरती हुई इंद्रियोंको विद्वान् पुरुष यत्नसे वशमें रक्खे जैसे रथमें जुडेहुए घोडोंको सारथी वशमें रखता है तैसे॥८८॥

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

अर्थ-पहलेके पंडितजन जिन ग्यारह इंद्रियोंको कहतेभये तिन्होंको यथार्थक्रमसे अबके पुरुषोंकी शिक्षाकेवास्ते, कहैंगे ॥ ८९ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

अर्थ-तिन इंद्रियोंमें श्रोत्र १ त्वचा २ चक्षु ३ जिव्हा ४ नाशिका ५ गुदा ६ लिंग ७ हाथ ८ पैर ९ वाणी १० ए दश बाह्यइंद्रिय कही है ॥ ९० ॥

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

अर्थ—इन्होंमें क्रमसे श्रोत्र आदि ५ पांच बुद्धींद्रिय कहाती है और गुदा आदि पांच कर्मेंद्रिय कहाती है ॥ ९१ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥ ९२ ॥

अर्थ—तहां दशइंद्रियोंमें ग्यारहवा मन है यह अपनें गुणकरके ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय इन्होंका प्रवर्तक है जिस मनके जीतनेंसे दोनो प्रकारके इंद्रियपंचक ५ ज्ञानेंद्रिय कर्मेंद्रिय जीते जाते हैं ॥ ९२ ॥

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ९३ ॥

अर्थ—इंद्रियोंका विषयके संग प्रसंग होनेसे निसंदेह दोष प्राप्त होता है इसवास्ते तिन इंद्रियोंको रोकलेवे तब सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ९३ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

अर्थ—विषयोंके भोग करनेसे कभीभी तिनविषयोंकी इच्छा शांत नहीं होती है जैसे घृतकरके अग्नि फिर बढतीही है ऐसे फिर बढतीही जाती है ॥ ९४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

अर्थ—जो पुरुष इन सब विषयोंको प्राप्त हो जाता है और जो केवल इन विषयोंको त्याग देता है इन्होंमें सब विषयोंकी प्राप्ति होनेंसे त्याग श्रेष्ठ कहा है ॥९५॥

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

अर्थ—ये जो इंद्रिय विषयोंमें आसक्त हो रही है सो विषयोंके बर्जनेंसे तैसें नहीं रुकसकती है कि जैसें विषयोंके दोषके यथार्थ ज्ञानसे रुकती है ॥ ९६ ॥

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ ९७ ॥

अर्थ—वेद, भोग आदिकोंका त्याग, यज्ञनियम तप, ए सब दुष्ट भाववाले जनके कभीभी सिद्धिको प्राप्त नहीं होते ॥ ९७ ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥

अर्थ–स्तुतिवाक्य तथा निंदावाक्यको सुनके कठोर और कोमल वस्त्रको पहिनके, सुरूपकुरूपकों देखके स्वादवेस्वाद भोजन करके श्रेष्ठ गंध तथा दुष्टगंधको सूंघके जो पुरुष प्रसन्न नहीं होता है और दुःखित नहीं होता है वह जितेंद्रिय जानना ॥ ९८ ॥

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

अर्थ–सब इंद्रियोंमेसे जो यदि एक इंद्रियभी नहीं रोकी जाती है तो उसकरके इस पुरुषकी बुद्धि नष्ट हो जाती है जैसे मशकमेसे एक छिद्र करके सब जल निकस जाता है तैसे ॥ ९९ ॥

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

अर्थ–बाह्य इंद्रियोंके समूहको वशमें कर मनको रोक संपूर्ण अर्थ अर्थात् अर्थ काम धर्म मोक्ष इन प्रयोजनोंको युक्तिसें सिद्ध करै, और शरीरको पीडा नहीं देवै१००

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

अर्थ–प्रातःकालकी संध्यामें सूर्यके दर्शन होनेतक खडा होके गायत्रीका जप करै और सायंकालकी संध्यामें तारे दीखै तबतक बैठके जप करै ॥ १०१ ॥

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति ।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥

अर्थ–प्रातःकालकी संध्यामें स्थित हुआ जपकरता हुआ पुरुष रात्रिके पापको दूर कर देताहै और सायंकाल संध्या करनेंसे दिवसमें किये हुए पापको नष्ट कर देता है ॥ १०२ ॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥

अर्थ–जो पुरुष प्रातःकाल संध्योपासन नहीं करता और सायंकाल संध्या

और तद्विहित गायत्री जपनहीं करता है वह संपूर्ण कर्म द्विजाति सत्कार आदिसे शूद्रकी तरह पंक्तिसे बाहिर निकास देना चाहिये ॥ १०३ ॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

अर्थ—बनमें जाके समाधान हो नदीआदिके जलके समीपमें स्थितहो नियतेंद्रियहो के नैत्यक विधिमें स्थितहुआ गायत्रीका जप करै ॥ १०४ ॥

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥

अर्थ—वेदांग शिक्षादिकके पढनेमें नित्यकी ब्रह्मकी उपासनामें और होमके मंत्रोंमें अनध्याय नहीं है ॥ १०५ ॥

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—नैत्यक जप यज्ञमें अनध्याय नहीं है क्योंकि वह ब्रह्मसत्र अर्थात् ब्रह्मयज्ञ कहा है ब्रह्म आहुतिसे हुतजनितपुण्य अनध्यायसे कियाहुआ वषट्कारसे पुण्य प्राप्त होता है ॥ १०६ ॥

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७॥

अर्थ—जो पुरुष पवित्रहो जितेंद्रियहोके विधिपूर्वक स्वाध्याय जप यज्ञको वर्षदिनतक करता है तिसको वह जप यज्ञ दूध दही घृत मधु इन्होंको नित्य देता है क्योंकि इन्होंसें देवता पितर ए तृप्त होते हैं ॥ १०७ ॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥

अर्थ—उपनयन कियाहुआ द्विज समावर्त्तन कर्म अर्थात् गुरुसे पढके घरमे आनेकी विधि जबतक नहीं होवे तबतक सायंप्रातःकाल हवन करना भिक्षामांगनी पृथ्वीपे सोना गुरुकी सेवा करना इसप्रकार आचरण करै ॥ १०८ ॥

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥१०९॥

अर्थ–आचार्यका पुत्र १ टहैलकरनेवाला २ किसी वस्तुकाज्ञान देनेवाला ३ धर्मवित् ४ पवित्र ५ बांधव ६ धारणशक्तिवाला ७ धन देनेवाला ८ हितकी इच्छा करनेवाला ९ ज्ञातिका जन १० ए दशपुरुष धर्मसे पढानें चाहिये अर्थात् इनके पढानेका धर्म है ॥ १०९ ॥

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ ११० ॥

अर्थ–किसीके पूछेविना न बोलै और अन्यायसे छलसे पूछनेसेभी न बोले बुद्धिमान् पुरुष दूसरेके प्रयोजनको जानकेभी लोगोंमें अजानसा रहै ॥ ११० ॥

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १११ ॥

अर्थ–जो अधर्म करके बोलता है और जो अधर्मसे पूछता है इन दोनोंमें एक कोइसा मरजाता है अथवा तिन्होंका वैरभाव हो जाता है ॥ १११ ॥

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ ११२ ॥

अर्थ–जिस शिष्यके पढानेमें धर्म और प्रयोजन सिद्ध नहीं होता तथा कुछ टहैल नहींहो तहां विद्या नहीं पढानी चाहिये जैसे ऊषारभूमिमें सुंदर चावल आदिबीजोंका वोना योग्य नहीं तैसे ॥ ११२ ॥

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ ११३ ॥

अर्थ–ब्रह्मवादि पुरुषनें विद्याके संगही मरजाना योग्य है परंतु घोर विपत्तिमेंभी ऊषरभूमिमे नहीं वोवै अर्थात् दुष्ट शिष्यको न पढावे ॥ ११३ ॥

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ ११४ ॥

अर्थ–विद्या अर्थात् विद्याधिष्ठात्रीदेवता किसी अध्यापक ब्राह्मणके प्रति आके कहतीभई कि मैं तेरा खजानां हूं तू मेरी रक्षा कर निंदा करना आदि दोषवालेकेवास्ते मुजको मत दे ऐसे करनेंसे मैं असंत पराक्रमवाली हो जावूंगी ॥ ११४ ॥

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥ ११५ ॥

अर्थ–पवित्र और निरंतर ब्रह्मचर्यमें रहनेंवाले जिस शिष्यको जानों प्रमादसे रहित और विद्यारूप खजानेंकी रक्षा करनेंवाले तिस ब्राह्मणकेवास्ते मुजको कहो ॥ ११५ ॥

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात् ।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥ ११६ ॥

अर्थ–जो अन्य कोई पढरहाहो उसीको उसके पढानेंवालेसे सीखलेवे वह वेदकी चोरीसे युक्तहुआ नरकमें प्राप्त होता है ॥ ११६ ॥

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥

अर्थ–लौकिकज्ञान तथा वेदार्थज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान जिससे ग्रहण करे उसको बहु मान्यों के मध्यमें यथोत्तर प्रथम अभिवादन करे और उक्त तीनोंमें । प्रथम ब्रह्मज्ञानीको अभिवादन करना चाहिये ॥ ११७ ॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥ ११८॥

अर्थ–शास्त्रके नियमोंको करनेंवाला विप्र गायत्रीमात्रको जाननेंवालाभी श्रेष्ठ है और जो अभक्ष्य भोजनका भक्षण करता है तथा सब वस्तुवोंको वेचता है वह तीनोंवेदोंका पढा हुवा ब्राह्मणभी श्रेष्ठ नहीं है ॥ ११८ ॥

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

अर्थ–जिस समय गुरुशय्या तथा आसनमे स्थित हो रहे हो तब उनकेपास नहीं बैठे और आप शय्यापे तथा आसनपं बैठा हो तव गुरु आजावे तो उसको खडाहोके नमस्कार करै ॥ ११९ ॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

अर्थ–विद्यासे अथवा अवस्थासे वृद्ध पुरुष आजावे तब अल्प अवस्थावाले

पुरुषके प्राण शरीरसे बाहिर निकस ऊपर आनेकी इच्छा करते है इसवास्ते विद्या वा अवस्थादिकोंमें वृद्ध पुरुष आवे तब खडा होके नमस्कार करे पीछे तिन प्राणोंको सुस्थ करै ॥ १२० ॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ १२१ ॥

अर्थ–खडा होके सर्वदा वृद्ध पुरुषोंको नमस्कार करनेंवाले तथा नित्य वृद्धपुरुषोंकी सेवा करनेंवाले पुरुषके आयु, विद्या, यश, बल ये चार वस्तु वढती है१२१

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

अर्थ–बडे पुरुषको नमस्कार करताहुआ विप्र नमस्कारके अंतमें ऐसें कहै कि मैं नमस्कार करता हूं अमुक नामवाला हूं ऐसे अपनें नामका उच्चारण करै १२२

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ १२३ ॥

अर्थ–जिन वृद्धपुरुषोंको अभिवादन करै वे संस्कृतमें नामधेयके अर्थको नहीं जानते हों तो अभिवादये अमुकशर्माहमस्मि भोः ऐसे कहके निजभाषामें कहै कि मैं विद्वान् हूं आपको नमस्कार करता हूं ऐसेही निजभाषामें स्त्रियोंको कहना चाहिये ॥ १२३ ॥

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥ १२४ ॥

अर्थ–नमस्कार और नामके अंतमें भोः ऐसा शब्दको उच्चारण करै. नामोंके स्वरूपकी जो सत्ता है सो भोः शब्दके कहनेंसे सिद्ध होती है ऐसे ऋषियोंनें कहा है जैसे अभिवादये शुभशर्माहमस्मिभोः ऐसे ब्राह्मण कहै इसी प्रकार क्षत्रिय आदिभी कहै ॥ १२४ ॥

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥ १२५ ॥

अर्थ–नमस्कार करनेंवालेको आयुष्मान् भव सौम्य, शुभशर्मन् ऐसे ब्राह्मण कहै इस नमस्कार करनेंवालेके नामका पूर्व अक्षरको प्लुत करै ॥ १२५ ॥

योनवेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

अर्थ–जो पुरुष नमस्कार करनेंवालेको क्या कहना चाहिये इस बातको नहीं जानता है तिसकेवास्ते विद्वान्को नमस्कार नहीं करनी क्योंकि वह शूद्रके समान है ॥ १२६ ॥

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

अर्थ–ब्राह्मणसे मिलके नमस्कारादि अनंतर कुशल पूछै क्षत्रियसे अनामय पूछै वैश्यसे क्षेम पूछै शूद्रसे आरोग्य पूछै ॥ १२७ ॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत् ।
भो भवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित् ॥ १२८ ॥

अर्थ–दीक्षितहुआ जन कनिष्ठ होवे तोभी धर्मको जाननेंवाला पुरुष तिसका नाम लेके नहीं बोलै किंतु भो, भवत्, इन शब्दोंको पूर्वकहके बोलै जैसे भो दीक्षित इदंकुरु भवतायजमानेन इदं क्रियताम् ऐसे कहै ॥ १२८ ॥

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

अर्थ–जो अन्यकी स्त्री होवे असंबंधा अर्थात् सासू आदिसंबंधवाली न होवे तिसको सुभगे भगिनि ऐसे कहके बोलै ॥ १२९ ॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

अर्थ–मातुल, पितृव्य अर्थात् चाचा श्वशुर पुरोहित गुरु ये छोटी उमरवाले हो तो इनके आनेंपर खडा होके मैं अमुक नामवाला हूं ऐसे अपनें नामको प्रकट करै किंतु अभिवादन नहीं करै ॥ १२० ॥

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥

अर्थ–माताकी वहैन मांमी सासू पिताकी वहैन ये सब गुरुकी पत्नीकी

तरंह पूजनी योग्य है क्योंकि येभी गुरुकी भार्याके समान है इसवास्ते प्रत्युत्थान आदिभी करै ॥ १२१ ॥

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोषितः ॥ १३२ ॥

अर्थ–बडाभाईकी सजातीय स्त्री दिन दिन प्रति पूजनीय है तिसके पैरोंमें नमस्कार करै और जातिसंबंधी स्त्री मांमी, सासू इत्यादिक इन्होंको परदेशसे आनेंपर नमस्कारादि करै दिनदिनप्रति नहीं ॥ १३२ ॥

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि ।
मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ॥ १३३ ॥

अर्थ–पिताकी वहेन माताकी वहेन अपनी वडी वहेन इनका माताके समान आदरसत्कार करै परंतु माता इन्होंसे अधिक है ॥ १३३ ॥

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम् ।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

अर्थ–एक पुरमें रहनेंवाले जनोंमें आपसमें जो दशवर्षतक बडा हो तबतक सख्य अर्थात् मित्रभाव जानना यह नियमविना पढे हुएका है और जो गीत आदि कला जानता हो तिसका पांच वर्षतक जो वेदपाठी पंडित हो तिन्होंका तीनवर्षतक और स्वजातिबंधुमें थोडेही दिनतक है इस उक्तकालके पीछे तिन्होंका वडाकी तरंह व्यवहार है ॥ १३४ ॥

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।
पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

अर्थ–दशवर्षका ब्राह्मण और सौ१०० वर्षका क्षत्रिय इन्होंको पिता पुत्र जानै सौवर्षके क्षत्रियको दशवर्षका ब्राह्मण पिताके समान है ॥ १३५ ॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानीमान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

अर्थ–न्यायसे इकट्ठा कियाहुआ धन, पितृव्य आदि बंधु श्रुतिस्मृत्युक्त कर्म विद्या ये पांचों माननेंके स्थान है इन्होंमें एकसे एक बडा है ॥ १३६ ॥

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।

यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७ ॥

अर्थ–ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनवर्णोंमें इन पूर्वोक्त पांच गुणोंमाहसे जिसमें अधिक गुण हों वह माननेंके योग्य है जैसे वित्तबंधु इनसे युक्त अधिक अवस्थावालेसे मान्य है इन तीनोंसे युक्त हो वह कर्मवालेसे मान्य है इस क्रमसे जानो और नव्वै ९० वर्षसे अधिक अवस्थावाला शूद्रभी मानना योग्य है १३७

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥

अर्थ–रथ आदिपे सवार हुवा दशमीस्थ अर्थात् नव्वैवर्षसे अधिक, रोगी, बोझालिये आनेंवाला स्त्री, स्नातक, अर्थात् समावर्तन कर्म किये आताहो राजा विवाहकेवास्ते जानेंवाला, वर इन्होंकेवास्ते रास्ता छोडदेना चाहिये ॥ १३८ ॥

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥

अर्थ–ये पूर्वोक्त सब जन एकजगंह मिलें तो इन्होंमेंभी राजा और स्नातक ब्रह्मचारी ये मान्य है और इन दोनोंमेंभी राजासे स्नातक माननेंकौं योग्य है १३९

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

अर्थ–जो ब्राह्मण शिष्यका उपनयनकर्म कराके तिसको यज्ञविद्या और उपनिषद्सहित वेदको पढाता है तिसको आचार्य कहते है ॥ १४० ॥

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

अर्थ–जो ब्राह्मण वेदकी एक आधशाखा और वेदांगव्याकरण आदिकोंको वृत्तीकेवास्ते पढावे उसको उपाध्याय कहते है ॥ १४१ ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ १४२ ॥

अर्थ–जो ब्राह्मण निषेक अर्थात् गर्भाधान आदिक कर्मोंको यथार्थ विधिसे करता है और अन्न खिलाके पालता है वढाता है वह गुरु कहाता है यह गुरुत्वोपदेश पिताको कहा है ॥ १४२ ॥

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥ १४३ ॥

अर्थ-जो ब्राह्मण अग्न्याधेय अर्थात् आवहनीयादि अग्नि उत्पादककर्मकों करता है और अष्टक आदि पाक यज्ञोंकों और अग्निष्टोमादिक यज्ञोंकों जिस यजमानसें वरण लेके करता है वह उसका ऋत्विक् है ऐसे इस शास्त्रमें कहा है ॥ १४३ ॥

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ १४४ ॥

अर्थ-जो ब्राह्मण सत्यरूप वेदविद्याकों दोनों कानोंमें भर देवै वह मातापिताके-समान है तिसके संग कभीभी द्रोह नहीं करना चाहिये ॥ १४४ ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

अर्थ-दश उपाध्यायोंकेसमान एक आचार्यमें गौरवता है. और सौ १०० आचार्योंकेसमान पिता है और पितासे हजार गुनी अधिक मातामें गौरवता है ॥ १४५ ॥

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥

अर्थ-जन्म देनेवाला, और वेदकों पढानेवाला ये दोनों पिता है, परंतु इनमें वेदकों पढानेवाला पितासेंभी श्रेष्ठ है क्योंकि ब्राह्मणकों वेद प्राप्त होना इसलोकमें श्रेष्ठ है और मुक्तिका हेतु होनेसें परलोकमेंभी श्रेष्ठ है ॥ १४६ ॥

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

अर्थ-माता और पिता कामदेवके वश होके आपसमें इस बालककों उत्पन्न करते है जिस योनिमें यह बालक जाता है उसी प्रकारके हस्त, पादआदिक इसके होते है ॥ १४७ ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥ १४८ ॥

अर्थ–वेदकों जाननेवाला आचार्य विधिपूर्वक गायत्री उपनयन कर्मद्वारा बालककै जिस जातिकों करता है वह अजर है और अमर है क्योंकि उससें निश्चल ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥ १४८ ॥

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ॥ १४९ ॥

अर्थ–जो कोई उपाध्याय जिसबालककों थोडा अथवा बहुत वेदका उपकार करता है तिसकोंभी इस शास्त्रमें गुरू कहा है क्योंकि उसकों वेदकी क्रिया सिखलाई है इसवास्ते ॥ १४९ ॥

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

अर्थ–ब्रह्म जो वेद उसके पढानेकेवास्ते जो उपनयनकर्मकों करनेवाला और वेदकी शिक्षा देनेवाला ब्राह्मण बालक हो तोभी वह धर्मसें पिताके समान है अर्थात् वह शिष्य जो बडा हो तोभी उसमें पिताकेसमान धर्म वर्त्तै ॥ १५० ॥

अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥ १५१ ॥

अर्थ–अंगिरसका पुत्र बृहस्पति बालक अवस्थामें पंडित होता भया सो अपनें पितृव्य, चाचा तिसके पुत्र बडेभाई इन सर्वोको पढाताभया फिर तिनकों शिष्य करके पुत्रका अर्थात् हे पुत्रा ऐसे कहता भया ॥ १५१ ॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ १५२ ॥

अर्थ–वे पिताकेसमान बडी अवस्थावाले सबजन पुत्रका ऐसे कहे तब क्रोधकरके देवताओंके प्रति इस अर्थकों पूछते भये तब तिन्होंके प्रति देवता बोले कि तुमकों जो यह बालकपुत्र कहता भया सो योग्यही है ॥ १५२ ॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥ १५३ ॥

अर्थ–अज्ञही बालक होता है और मंत्रद अर्थात् वेदकों पढानेवाला पिता होता है इसवास्ते अज्ञविना जाननेवालेकों बालक कहते है और मंत्रदेनेवालेकों पिता कहा है ॥ १५३ ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ १५४ ॥

अर्थ-न बहुत वर्षोंकरके और नहीं बुढापाके सफेद वालोंकरके नहीं धनकरके और नहीं बंधुवोंमें बडा होनेकरके पुरुष बडा है किंतु ऋषियोंनें यह कहा कि जो वेदाध्ययनपूर्वक धर्मको जाननेवाला है वह बडा है ॥ १५४ ॥

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥ १५५ ॥

अर्थ-ब्राह्मणोंमें जो अधिक विद्यावान् है वह बडा है और क्षत्रियोंमें पराक्रमवाला बडा है और वैश्योंमें जो धनधान्यकी समृद्धिवाला है वह बडा है और शूद्रोंमें जो अवस्थामें अधिक है वह बडा है ॥ १५५ ॥

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ १५६ ॥

अर्थ-जिसके शिरपें सफेद बाल आजातें है वह वृद्ध नहीं कहाता है किंतु जो वेदकों पढाहुवा है तिसकों देवताओंनें वृद्ध कहा है ॥ १५६ ॥

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥

अर्थ-काष्ठका बनाया हुआ हस्ती चर्मका बनाया हुआ मृग और विना पढा हुवा ब्राह्मण ये तीनों नाममात्र हैं. अर्थात् जैसे वे मृगहस्ती कुछ न कर सकते तैसाही ब्राह्मण है ॥ १५७ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ॥ १५८ ॥

अर्थ-जैसे स्त्रियोंमें नपुंसक निष्फल है और गौवोंमें गौ निष्फल है और जैसे मूर्ख पुरुषकेवास्ते दिया हुवा दान निष्फल है तैसेही वेदकों नहीं जाननेवाला ब्राह्मण निष्फल है ॥ १५८ ॥

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥

अर्थ-धर्मकी इच्छा करनेवाला ब्राह्मणकरके शिष्योंकों कल्याणकी शिक्षा

हिंसाके विनाही देनी चाहिये अथवा रज्जुवांसकी कामकी इत्यादिक अल्प ताडना करके शिक्षा देवै और वाणी मधुर तथा सुंदर बोलनी चाहिये. क्रूर वचन न कहे ॥ १५९ ॥

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

अर्थ—जिसकी वाणी और मन शुद्ध हो और सदैव ये दोनों निषिद्ध विषयके प्रकरणसें रुकेहुए हों वह वेदान्तमें प्राप्त हुआ संपूर्ण फलकों प्राप्त होता है अर्थात् मोक्षभावकों प्राप्त हो जाता है ॥ १६० ॥

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

अर्थ—किसीवस्तुसें पीडित हुआ पुरुषभी दूसरेके मर्मकों छेदन करनेवाली वाणीकों न बोले और पराये द्रोहकेवास्ते कर्म तथा बुद्धिकों न करै और जिसवाणीसें इसकों तकलीफ हो ऐसी वाणी न कहै परलोकमें अहित करनेवाली वाणी न कहे ॥ १६१ ॥

संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

अर्थ—ब्राह्मणकों अपनें सन्मानकरके विषकी तरह डरना चाहिये और सदैव अपमानकों अमृतकीतरह इच्छा करता रहै अर्थात् मानअपमान दोनों सहनें चाहिये ॥ यह द्योतन किया है ॥ १६२ ॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुद्ध्यते ।
सुखं च रति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

अर्थ—परपुरुषसें अपमान किया हुआ पुरुष जो खेद नहीं मानता है वह सुखसें सोवता है और सुखसें जागता है और इस संसारमें सुखसें विचरता है और अपमान करनेवाला पुरुष तिस पापकरके आपही नष्ट हो जाता है ॥१६३॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन् संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

अर्थ—गर्भाधान आदि उपनयनकर्मपर्यंत संस्कार किया हुआ द्विज इस पू-

र्वोक्त क्रमकरके गुरुकुलमें वास करता हुआ शनैशनै वेदके पढनेके समय तपका आचरण करै ॥ १६४ ॥

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः स रहस्यो द्विजन्मना ॥ १६५ ॥

अर्थ–विधिसें कहे हुए तप अनेक प्रकारके व्रत इन्होंकों करते हुए ब्राह्मणकों रहस्य अर्थात् उपनिषद् आदिकोंसहित संपूर्ण वेद पढना चाहिये ॥ १६५ ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥

अर्थ–तपका आचरण करता हुवा ब्राह्मण सदा वेदकाही अभ्यास करै क्योंकि इसलोकमें ब्राह्मणकों वेदका अभ्यासही परम तप कहा है ॥ १६६ ॥

आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥१६७॥

अर्थ–पुष्पोंकी मालाकों धारण करनेवालाभी ब्राह्मण जो शक्तिके अनुसार दिन दिन प्रति वेदकों पढता है वह पैरोंके नखोंसें लेके शिखातक परम तप करता है यहां पुष्पोंकी माला धारण किये हुए इस वचनसें ब्रह्मचर्यके त्याग- मेंभी वेदपढनेकी स्तुति वर्णन की है ॥ १६७ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

अर्थ–जो विप्र वेदके पढेविना अन्यशास्त्रमें परिश्रम करता है वह जीवता हुआही अपनें कुलसहित शूद्रभावकों प्राप्त हो जाता है ॥ १६८ ॥

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

अर्थ–पहले तो पुरुषका जन्म मातासें होता है फिर मौंजीबंधनकर्म करनेमें अर्थात् यज्ञोपवीत धारणमें दूसरा जन्म होता है और अग्निष्टोमादिक यज्ञकी दीक्षामें वेदके श्रवण होनेसें तीसरा जन्म होता है तहां प्रथम, द्वितीय, तृतीय जन्मका कथन द्विजन्माकी स्तुति है ॥ १६९ ॥

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जिबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

अर्थ– तिन तीन जन्मोंमें जो इस बालकका मेखलाबंधनसें उपलक्षित उपनयनकर्म वेद पढनेंकेवास्ते है इस जन्ममें इस बालककी माता गायत्री है और पिता आचार्य है ॥ १७० ॥

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते ।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात् ॥ १७१ ॥

अर्थ–वेदके पढानेंसे आचार्यकों पिता कहते है क्योंकि मौंजीबंधन अर्थात् उपनयनकर्म कियें पहले इस बालककों श्रुतिस्मृति आदि कछुभी कर्म करनेका अधिकार नहीं है ॥ १७१ ॥

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ॥ १७२ ॥

अर्थ–जिस ब्राह्मणका उपनयनकर्म नहीं हुआ हो वह स्वधानिनय अर्थात् श्राद्धके मंत्रोंकेविना वेदका उच्चारण नहीं करै क्योंकि जबतक उपनयनकर्म होके वेदका ग्रहण नहीं होता है तबतक ब्राह्मण शूद्रके समान है ॥ १७२ ॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

अर्थ–जोकि उपनयन कियाहुआ ब्राह्मणकों विधिपूर्वक प्रातःसायं हवन करना दिनमें न सोना इत्यादिक व्रतोंकी शिक्षा ये सब विधिपूर्वक उपदेश कहे हैं इसवास्ते विना यज्ञोपवीत कर्म हुए ब्राह्मणकों वेदउच्चारण नहीं करना ॥ १७३॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

अर्थ–जिस वर्णकों यज्ञोपवीतकर्ममें जो सूत्र, जो मेखला, जो दंड तथा जो वस्त्र धारण करना कहा है वही सब गोदानादि व्रतोंमें नवीन ग्रहण करने चाहिये ॥

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

अर्थ–ब्रह्मचारी गुरूकेसमीप वास करताहुआ इंद्रियोंकों रोकके अपने तपकी वृद्धिकेवास्ते इन नियमोंका आचरण करै ॥ १७५ ॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

अर्थ-ब्रह्मचारी दिन दिनप्रति स्नानकर देवता, ऋषि, पितृ इन्होंका तर्पण करै और देवताओंका पूजन करै सायंप्रातः हवन करै ॥ १७६ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥

अर्थ-शहत मांस इन्होंका भक्षण न करै और कपूर, कस्तूरीआदि गंधपुष्पोंकी माला इन्होंकों वर्ज देवै गुड आदि रसोंकों नहीं खावे स्त्री सेवन न करै खट्टी कांजी आदि वस्तुओंकों न खावे प्राणियोंकि हिंसा न करे ॥ १७७ ॥

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥

अर्थ-शरीरपे तैलआदिकोंका मर्दन करना कज्जल आदिकोंसे नेत्रका आंजना, छत्र धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य करना. गाना बजाना इन सवोंको वर्ज देवै ॥ १७८ ॥

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७९ ॥

अर्थ-जुंवा खेलना, झगडा करना, पराया दोषका विवाद करना, झूठ, मैथुनकी इच्छाके अनुरागसहित स्त्रियोंका देखना, अन्यका निरादर करना इन्होंकों वर्ज देवै ॥ १७९ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८०

अर्थ-ब्रह्मचारी सदा अकेला शयन करै और कामना करके कहींभी वीर्यकों नहीं गिरावे क्योंकि इच्छाकरके अपने लिंगसें वीर्यकों गिराते हुए पुरुषके व्रतका नाश हो जाता है ॥ १८० ॥

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ १८१ ॥

अर्थ-जिस ब्रह्मचारीका वीर्य विना इच्छा किये स्वप्नआदिकोंमें छूट जावे वह स्नानकर चंदन, पुष्प, धूपआदिकों करके सूर्यका पूजनकर पुनर्मामैत्विन्द्रियम् इस ऋचाकों तीनवार पढै यह प्रायश्चित्त है ॥ १८१ ॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान् ।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत् ॥ १८२ ॥

अर्थ–जलका घडा पुष्प, गोवर, मृत्तिका, कुशा इनमेसें जितनी वस्तु आचार्यकेवास्ते चाहिये वे सब गुरुकेवास्ते ले आवे और दिन दिन प्रति भिक्षा मांगले आवे ॥ १८२ ॥

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥ १८३ ॥

अर्थ–जो वेदयज्ञोंकरके हीन नहीं है और अपने कर्ममें चतुर है ऐसे गृहस्थियोंके घरसें ब्रह्मचारी दिन दिनप्रति भिक्षा ले आवे ॥ १८३ ॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

अर्थ–जिस गुरुसें पढता हो उनके घरों तथा उनके विरादरोंके तथा मातुल आदिज्ञातियोंके घरोंमे भिक्षा नहीं मागै और जो यदि अन्य घरोंमें भिक्षा न मिले तो इनमेसे पहिले पहिलेकों वर्ज देवै. जैसे पहिले बंधुवोंसें मागै तिनका अभावमें मामाआदि ज्ञातियोंसें फिरगुरुके ज्ञातियोंसें भिक्षा मागे ॥ १८४ ॥

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे ।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

अर्थ–पहले कहे हुए वेद यज्ञ करनेवाले न मिले तो संपूर्ण ग्राममेमेसें नियम धारणकर मौन धारण करके भिक्षा मांगे और महापातकी आदिकोंकी भिक्षाकों नहीं लेवे ॥ १८५ ॥

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि ।
सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

अर्थ–दूरसें समिधोंकों ल्याके उंचे आकाशपर रख देवै फिर आलस्यसें रहित हो तिन समिधोंकरके सायंप्रातःकाल हवन करै ॥ १८६ ॥

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम् ।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

अर्थ–जो ब्रह्मचारी रोगसेंरहित स्वस्थचित्तमेंभी सातदिनतक भिक्षाचरण

समिधहोम नहीं करता है तिसके व्रतका नाश हो जाता है. तिसकों अवकीर्णि-व्रत करना चाहिये यही प्रायश्चित्त है ॥ १८७ ॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥ १८८ ॥

अर्थ–ब्रह्मचारी एकके अन्नकों भक्षण नहीं करे किंतु नित्यप्रति भिक्षाके अन्नका भोजन करे क्योंकि भिक्षाकी वृत्ति ब्रह्मचारीको उपवासकेसमान कही है॥

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते॥ १८९ ॥

अर्थ–देवतोद्देश और पितृकर्म अर्थात् श्राद्धादिकोंमें अभ्यर्थित कियाहुआ ब्रह्मचारीव्रतवत् अर्थात् मधुमांस आदिकोंकों वर्जके एकके अन्नकों इच्छापूर्वक भोजन करे तिसका व्रत लोप नहीं होता है ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

अर्थ–ब्रह्मचर्यमें रहना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनोंवर्णोंको कहा है सो एकके घरका अन्नका भोजन करे यह नियम क्षत्रिय, वैश्य इन्होंको नहीं विधान किया है ॥ १९० ॥

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥

अर्थ–गुरुसें प्रेराहुआ अथवा विना प्रेराहुआ शिष्य अपनें पढनेंमें और आचार्यके हितोंमें नित्य उद्योग करे॥ १९१ ॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२ ॥

अर्थ–अध्ययन करनेवाला शिष्य शरीर, वाणी, बुद्धि, इंद्रिय, मन इन्होंको रोक अंजली बांध गुरुके मुखकों देखता हुआ खडा रहे ॥ १९२ ॥

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥ १९३ ॥

अर्थ–निरंतर उत्तरीय अर्थात् ओढनेंके वस्त्रसे दाहिनें हाथको बाहिर

निकास शुभ आचारसे युक्त शिष्य बैठ जावो ऐसे· कहाहुआ गुरुकेसन्मुख स्थित हो बैठ जावे ॥ १९३ ॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ १९४ ॥

अर्थ–गुरुसे उत्तम भोजन न करे और गुरुके वस्त्रोंसे उत्तम वस्त्र न पहिरे और गुरुके उठें पहले ऊठे गुरुसे पीछे शयन करै ॥ १९४ ॥

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥ १९५ ॥

अर्थ–सोवताहुआ शिष्य गुरुकी आज्ञाको ग्रहण न करे और सोता हुआ शिष्य गुरुसे संभाषण न करे और आसनमे बैठा हुआ तथा भोजन करता हुआ तथा स्थित होता हुआ तथा विमुख होता हुआ गुरुसे संभाषण न करे १९५

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥ १९६ ॥

अर्थ–आसनमे स्थित हुए गुरुसे संभाषण आदिकरे तब शिष्य आसनसें नीचे बैठ जावे और खडे हुए गुरुके सन्मुख कितनेंक पद गमन करके शिक्षाको ग्रहण करै और सन्मुख आतेहुएके सन्मुख गमन करके तथा भाजते हुए गुरुके पीछे भाजता हुआ शिष्य शिक्षाको ग्रहण करै ॥ १९६ ॥

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

अर्थ–विमुखहुए गुरुके सन्मुख होके और दूरमें स्थित हुएके समीप जाके और सोते हुएको नम्र होके और खडे हुए गुरुके समीपमें खडा होके शिष्य संभाषण आदि करै ॥ १९७ ॥

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

अर्थ–शिष्यको गुरुकेसमीप छोटासा आसन तथा शय्यामे स्थित होना चाहिये गुरुके नेत्रोंके सन्मुख यथेष्ट आसनमे स्थित नहीं होवे ॥ १९८ ॥

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।

न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥

अर्थ–गुरुके पीछेसेभी उपाध्याय, आचार्य आदि वचनोंसे शून्य गुरुके नामका उच्चारण न करै और गुरुका गमन , संभाषण, चेष्टा इन्होंकी नकल न करे ॥ १९९ ॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

अर्थ–जहां गुरुका परीवाद अर्थात् गुरुके दोषको कोई कर रहाहो और निंदा अर्थात् विना दोष हुए गुरुको दोष लगाते हों तहां कान ढकलेनें चाहिये अथवा तहांसे चलाजाना चाहिये ॥ २०० ॥

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ २०१ ॥

अर्थ–गुरुके परिवाद करनेंसे शिष्य मरके गधा होता है निंदा करनेंसे कुत्ता होता है और अनुचित गुरुके धनसे उपजीवन करनेंसे कृमि होता है और मत्सर अर्थात् गुरुकी उत्कर्षता नहीं सहनेंसे कीट अर्थात् स्थूल कृमि होता है२०१

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

अर्थ–दूर जगंह स्थितहुआ शिष्य गुरुका पूजन न करे अर्थात् मूर्ति वगैरे बनाके तिसका पूजन न करे और स्त्रीके समीपमें बैठा हुआ शिष्य गुरुका पूजन न करे और सवारी तथा आसन आदिसे नीचे उतरके गुरुको नमस्कार आदि अभिवादन करे ॥ २०२ ॥

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

अर्थ–प्रतिवात अर्थात् गुरुकेतर्फसे शिष्यकी तर्फ वायु आती हो और अनुवात अर्थात् शिष्यकी तर्फसे गुरुकी तर्फ वायु आती हो तब शिष्य गुरुके सन्मुख बराबर नहीं खडा रहे और जब गुरु नहीं सुनताहो तब गुरुकी तथा अन्यकी कछु वार्ता न कहै ॥ २०३ ॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च ।

आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥

अर्थ—बैल, घोडा, ऊंट इन्होंसें जोती हुई गाडी आदि सवारीमे हवेलीकी छतपर चटाई आदि बिछौनामे शिलामे तखतआदिमे नौकामें शिष्य गुरुके संग बैठे ॥ २०४ ॥

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

अर्थ—अपनें आचार्यके गुरुसमीपमें बैठे हो तब तिनकोभी अपनें गुरुकी तरंह नमस्कार आदि करै और गुरुके कुलमें अपनें गुरू अर्थात् माता पिता आदि आवे तब गुरुके कहेंविना तिनको नमस्कार आदि न करे ॥ २०५ ॥

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

अर्थ—वेदके अध्यापकसे अन्य जो विद्या गुरुहों उन्होंकेविषैं और अपनें चाचा बाबा आदि बडे बिरादरोंमें तथा पाप आदिकोंसे हटानेंवाले उपदेश देनें-वालोंविषै और हितका उपदेश करनेंवालोंविषै गुरुकेसमान सत्कार करना चाहिये ॥ २०६ ॥

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

अर्थ—विद्या, तप आदिकोंमें वृद्ध, श्रेष्ठ, गुरुकेपुत्र और गुरुके बांधव इन सबोंमें गुरुकेसमान वृत्ति रक्खे ॥ २०७ ॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

अर्थ—बालक हो अथवा अपनेंसमान अवस्थावाला हो, अथवा शिष्य हो परंतु यज्ञकर्ममें आया हुआ वेदको पढाहुआ गुरुका पुत्र गुरुकेसमान पूजनीय है २०८

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने ।
न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

अर्थ—शरीर मलना स्नान कराना उच्छिष्ट भोजन भक्षण पैरोंका प्रक्षालन करना ये सब कृत्य गुरुकेपुत्रके नहीं करै ॥ २०९ ॥

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः ।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

अर्थ–सजातीय गुरुकी स्त्री गुरूकेसमान पूजनी चाहिये और असवर्णा अर्थात् ब्राह्मणवर्णकी न हो क्षत्रियवर्णकी हो उनको केवल प्रत्युत्थान नमस्कार आदि करै ॥ २१० ॥

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥

अर्थ–तैल आदिकोंका शरीरकै लगाना स्नान कराना शरीर मलना बालोंमें पुष्पआदि गूंथनें ये सब शेवा गुरुकी स्त्रीकी नही करै ॥ २११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥ २१२ ॥

अर्थ–बीस वर्षकरके पूर्ण जवान अवस्थावाली गुरूकी स्त्रीके पैरोंको छुहके नमस्कार आदि न करे ऐसे गुणदोषोंको जाननेंवाला शिष्य करै ॥ २१२ ॥

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥

अर्थ–स्त्रियोंका यही स्वभाव है कि शृंगार चेष्टाआदिकोंसे पुरुषोंको मोहके तिन्होंके दूषण लगा देती है इसवास्ते पंडित जन स्त्रियोंमें प्रमत्त नहीं होत्रे २१३

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

अर्थ–कामक्रोधके वशमें हुए मूर्खपुरुषको अथवा विद्वान् पुरुषको स्त्री कुमार्गमें प्राप्त करनेंकेवास्ते बडी समर्थ होती है इसवास्ते अपनेंको विद्वान् समझके स्त्रियोंका संग न करे ॥ २१४ ॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

अर्थ–माता वहैन पुत्री इन्होंकेभी संग एकांतस्थानमें न रहे क्यौंकि इंद्रियोंका गण बलवान् है सो विद्वान्कोभी अपनें वशमें कर लेता है ॥ २१५ ॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।

विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

अर्थ–जवान् अवस्थावाला शिष्य युवाअवस्थावाली गुरूकी स्त्रियोंको विधिपूर्वक यथोक्त विधिनाभिवादयेऽमुकशर्माहं भो ऐसे अभिवादन करै पृथ्वीमें दंडवत् करै पैरोंको न छूवे ॥ २१६ ॥

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

अर्थ–बहुतदिनोंमें परदेशसे आनेपर शिष्य गुरुकी स्त्रीके पैरोंको उक्तप्रकारसे छुवे और दिन दिन प्रति पृथ्वीमे अभिवादन करे ऐसे श्रेष्ठपुरुषोंका आचार है ॥ २१७ ॥

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

अर्थ–जैसें फाहुडाकुदारआदिसे पृथ्वीको खोदता हुआ पुरुष जलको प्राप्त हो जाता है तैसेही गुरुकी टहैल करता हुआ शिष्य गुरुगत विद्याको प्राप्त हो जाता है ॥ २१८ ॥

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः ।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥ २१९ ॥

अर्थ–मुंडन करायेंहुए अथवा जटाधारण किये हुए तथा जटारूप शिखावाला ऐसे तीनप्रकारका ब्रह्मचारी होता है सो यह ब्रह्मचारी सूर्य अस्त होनेपर ग्राममें शयन न करे और ग्राममें सूता हो तबतक सूर्यउदय होना नहीं चाहिये अर्थात् ऐसा न हो कि सूर्य उदयहोनेंके बादभी सोताही रहे ॥ २१९ ॥

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः ।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

अर्थ–तिस ब्रह्मचारीके सोते हुए जो यदि सूर्यउदय हो जावे अथवा अज्ञानसे इच्छापूर्वक सोते हुए सूर्यअस्त हो जावे तो एक दिन उपवास करै और गायत्रीका जप करै ॥ २२० ॥

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः ।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

अर्थ-जो ब्रह्मचारी सूर्यके अस्त होनेंपर सोता रहे और सूर्यउदय होनेंके पीछेतक सोता रहे वह यदि पूर्वोक्त प्रकार प्रायश्चित्त न करे तो असंत पापसे युक्त हो जाता है ॥ २२१ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

अर्थ-नित्यप्रति आचमन कर पवित्रहो पवित्रदेशमें सावधानहोके गायत्री-का जप करता हुआ ब्रह्मचारी दोनों संध्याओंका उपासन यथार्थ विधिसे करे ॥ २२२ ॥

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत्।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

अर्थ-जो यदि स्त्री अथवा शूद्र इसका किंचित् कल्याण करे तिस सबका आचरण यह ब्रह्मचारी सेवक करे और जहां इसका मन लगै तथा शास्त्रसे विरुद्ध न हो तिसकाभी आचरण करै ॥ २२३ ॥

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

अर्थ-धर्म अर्थ ये कल्याणके हेतु है और कईक ऐसे कहते है कि काम अर्थ येही सुखहेतु होनेंसे कल्याणरूप है कईक धर्मकोंही कल्याण कहते है कईक लोकमें द्रव्यकोही कल्याण कहते है ऐसे सब मतोंको कहके निश्चय करते है कि त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम ये तीनों कल्याणरूप है ऐसी स्थिति है मुमुक्षुपुरुषोंका कल्याण मोक्षही जानना ॥ २२४ ॥

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२५ ॥

अर्थ-आचार्य परमात्माकी मूर्ति है पिता ब्रह्माकी मूर्ति है माता पृथ्वीकी मूर्ति है और भाई अपनी आत्माकी मूर्ति है अपनें सगर्भ सहोदर होनेंसें यहां आत्मा कहा है ॥ २२५ ॥

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥

अर्थ–आचार्य पिता माता बडाभाई इन्होंका अपमान पीडित हुआ पुरुषभी न करै और ब्राह्मणको विशेषकरके इनका अपमान नहीं करना ॥ २२६ ॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

अर्थ–पुरुषके गर्भाधान होनेंके अनंतर जिस कष्टको माता पिता प्राप्त होते है तिसको दूर करनेंको यह मनुष्य सैंकडोंवर्षोंकरके अनेक जन्मोंमेंभी बदला उतारनेंकों समर्थ नहीं है ॥ २२७ ॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

अर्थ–तिन मातापिताको तथा आचार्यको जो प्रिय हो सो करे तिन्होंको प्रसन्न रक्खे इन तीनोंके प्रसन्न होनेंसे संपूर्ण तप समाप्त हो जाता है ॥२२८ ॥

तेषां त्रयाणा शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

अर्थ–इन तीनोंकी जो सेवा करनी है यही परमतप कहा है इसवास्ते इन्होंकी आज्ञाकेविना अन्यधर्मका आचरण नहीं करे ॥ २२९ ॥

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥

अर्थ–वेही माता पिता आचार्य तीनों लोक है वेही तीनों आश्रम है वेही तीनोंवेदहै वेही तीनों अग्नि कहे है इन तीनोंसे संपादन उत्पत्ति वेदाध्ययनआदि हेतु होनेंसे तीनों लोककी प्राप्ति आदि सबप्रयोजन हो सकते है ॥ २३० ॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

अर्थ–इसका पितागार्हपत्यअग्नि है माता दक्षिणाग्नि है गुरु आहवनीय अग्नि है सो यह अग्नित्रय अत्यंत श्रेष्ठ कहा है यहां इन तीनोंकी प्रशंसा कही है सिद्धांतमें उन अग्नियोंका विरोध नहीं जानना ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीँल्लोकान्विजयेद्गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ॥ २३२ ॥

अर्थ—इन तीनोंमें प्रमादको नहीं करता हुआ ब्रह्मचारी और इसीप्रकार वर्तता हुआ गृहस्थी तीनों लोकोंको जीतता है और अपनें शरीरसे देवताकी तरंह प्रकाशमान हुआ स्वर्गमें आनंदको प्राप्त होता है ॥२३२ ॥

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम् ।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥

अर्थ—यह मनुष्य माताकी भक्तिकरके इस लोकको प्राप्त होता है और पिताकी भक्तिकरके मध्यम अंतरिक्षलोकको प्राप्त होता है गुरुकी सेवा करनेंसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥ २३३ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यनें माता पिता आचार्य इन तीनोंका आदरसत्कार किया है तिसको सबधर्म फलको देनेंवाले है और जिकने इन तीनोंका अनादर किया है तिसके श्रुतिस्मृत्योक्त सब कर्म निष्फल होते है ॥ २३४ ॥

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥ २३५ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके ये तीनों जीवतेहौ तबतक वह पुरुष स्वतंत्र होके अन्यधर्मका अनुष्ठान नकरे किंतु नित्यप्रति तिनकीही सेवा करे तिनके हितमें रत रहे ॥ २३५ ॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

अर्थ—माता पिता गुरु इन्होंकी सेवा करताहुआ पुरुष परलोककेवास्ते जिस जिस धर्मका आचरण करता है उसीउसीको मन वचन कर्म करके तिन्होंके अर्थ निवेदन करदेवै ॥ २३६ ॥

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

अर्थ—माता पिता आचार्य इन तीनोंकी सेवा करनेवाला पुरुषका संपूर्ण श्रुतिस्मृत्योक्त अनुष्ठान पूरा किया जाता है इन्होंकी सेवा करनी यही साक्षात् धर्म है और अन्य उपधर्म कहेहै ॥ २३७ ॥

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥

अर्थ—श्रद्धाको धारण करनेंवाला पुरुष शुभविद्या गारुड आदि विद्याको शूद्रसेभी ग्रहण करै और परम मोक्षधर्मको चांडालसेभी ग्रहण करै और स्त्रीरत्नको दूषित कुलवालेसेभी विवाहकेवास्ते ग्रहण करै ॥ २३८ ॥

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ २३९ ॥

अर्थ—जो यदि विषसे मिलाहुआ अमृत होतो विषको हटा तिसमेसे अमृतको ग्रहण करे और सुंदर कहाहुआ हितवचन बालककाभी ग्रहण करै और सज्जनका वृत्तांत शत्रुसेभी ग्रहण करै और अशुद्ध वस्तुमेसेभी सुवर्णको ग्रहण करै ॥ २३९ ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ २४० ॥

अर्थ—स्त्री रत्न विद्या धर्म शौच अच्छा वचन अनेक प्रकारकी शिल्पविद्या इन्होंको सबसे ग्रहण करै ॥ २४० ॥

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारीको आपत्कालमें क्षत्रिय वैश्यसेभी पढना कहा है और जबतक अध्ययन करे तबतक पीछे पीछे चलना सेवा करनी सब रहै करे पाद प्रक्षालन उच्छिष्ट भोजन खाना इत्यादि नकरे ॥ २४१ ॥

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ॥ २४२ ॥

अर्थ—आत्यंतिक वास अर्थात् जीवनपर्यंत वास करनेवाला ब्रह्मचारी शिष्य क्षत्रिय वा वैश्य वर्णके गुरुकेपास न रहे और जो वेदवेदांगोको नहीं जानता हो ऐसे ब्राह्मण गुरुकेपासभी मोक्षकी इच्छा करनेंवाला ब्रह्मचारी न रहे ॥ २४२ ॥

यदि त्वात्यंन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले ।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥

अर्थ-जो यदि गुरुकुलमें बहुत दिनोंतक वास करनेंकी इच्छा होवे तो साव-धान होके जबतक जीवै तबतक गुरुकी सेवा करता रहै ॥ २४३ ॥

आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम् ।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम् ॥ २४४ ॥

अर्थ-जो पुरुष शरीरकी समाप्ति अथार्त् जीवनपर्यंत गुरुकी सेवा करताहै वह तत्वसे ब्रह्मके अचलरूप पदको प्राप्त होताहै अर्थात् ब्रह्ममें लीन होजाताहै ॥२४४॥

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

अर्थ-धर्मको जाननेंवाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी स्नान किये पहले गुरुकेवास्ते गौ वस्त्र आदि धन अवश्य नहीं देवै अर्थात् स्वतःसिद्धं मिलाहुआ धनको तो देदेवै और स्नान करके ब्रह्मचारी अपनी शक्तिकेअनुसार गुरुसे आज्ञा पाके धनियों से याचनाकर गुरुकेवास्ते अवश्य धन देवै ॥ २४५ ॥

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमाहवेत् ॥ २४६ ॥

अर्थ-गुरुकेवास्ते प्रसन्नताके अर्थ खेत अर्थात् पृथ्वी सुवर्ण गौ अश्व छत्र जू-ती जोडा आसन धान्य शाक वस्त्र इन्होंको आपनी शक्तिके अनुसार देवै ॥२४६॥

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

अर्थ-आचार्य मरजावे तब गुणवान् गुरुका पुत्र अथवा गुरुकी स्त्री अथवा गुरुके चाचा आदि बिरादर इन्होंकी सेवा गुरुके समान करै ॥ २४७ ॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् ।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः ॥ २४८ ॥

अर्थ-ए तीनों विद्यमान नहीं होवे तो निरंतर स्नान आसन विहार इत्यादि-कोंकरके सायंप्रातः होम करके अग्निकी सेवा करताहुआ पुरुष अपनें शरीरको साधै अर्थात् जीवको ब्रह्म प्राप्तियोग्य साधै ॥ २४८ ॥

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

अर्थ–नैष्ठिक अर्थात् अखंडित ब्रह्मचर्यवाला जो पुरुष इस पूर्वोक्त प्रकारसे आचरण करता है वह उत्तम स्थान मोक्षको प्राप्त हो इस संसारमें फिर जन्म नहीं लेता है ॥ २४९ ॥

इति मनुस्मृतौ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितायां मन्वर्थदीपिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥

अर्थ–त्रैवेदिकव्रत अर्थात् ऋक् यजु साम इन वेदोंका पठणरूप व्रत छत्तीस वर्षतक करे अथवा अठारह वर्षतकतथा नववर्षतक वा जवतक पठनकी सामर्थ्य हो पढसके तवतक पढै ॥ १ ॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥

अर्थ–यथाक्रमसे तीनों वेदोंको पढै अथवा दो वेदोंको पढै वा एक वेदको पढै और पहलेकहाहुआ स्त्रीसंयोग मधुमांसभक्षण इन्होंका त्याग रक्खे पीछे गृहस्थाश्रममें प्राप्त होवे ॥ २ ॥

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीन मर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥

अर्थ–वह ब्रह्मचारी जब पितासे या आचार्यसे वेदको पढाहुआ और ब्रह्मचारिधर्मके अनुष्ठानसे प्रसिद्ध ऐसा मालूम होवे तब पिता वा आचार्य विवाहसे पहले पुष्पोंकी मालाको धारण कियेहुए और शय्यामे बैठेहुएका तिसका मधुपर्क करके पूजन करै ॥ ३ ॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

अर्थ–पीछे गुरुसे आज्ञा पाके स्नान कर और स्वगृह्योक्तविधिसे समावर्तन कर्म कर शुभ लक्षणसेयुक्त अपनें वर्णकी स्त्रीको विवाहै ॥ ४ ॥

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥

अर्थ–जो माताके सपिंड अर्थात् सातपीढीतक नहों च अर्थात् माताके गोत्रकी न हो पिताके गोत्रकी नहो वह स्त्री ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन्हों को पुत्रादिक उत्पादन करनेंमें मैथुनमें तथा अग्न्याधान कर्ममें श्रेष्ठ कहीहै ॥ ५ ॥

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसंबन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ–गौ घोडा बकरी धन धान्य इत्यादिक समृद्धियोंसे महान् उत्कृष्टभी हौं परंतु आगे कहे जातेहै ए दश कुलविवाहमें त्यागदेनें चाहिये ॥ ६ ॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दोरोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥ ७ ॥

अर्थ–तिनको कहते है जातकर्म आदि क्रियाओंसे रहित १ जिनकै कन्याही उत्पन्न होती हों ऐसा निष्पुरुष २ वेद पठनसे शून्य ३ बहुत दीर्घ रोमोंवाला ४ बावासीररोगसे युक्त ५ क्षयीरोगसे युक्त ६ मंदाग्निसे युक्त ७ मिर्गीरोगसे युक्त ८ श्वित्रकुष्ठि ९ गलितकुष्टवाला १० इन दश कुलोंको त्याग देवै ॥ ७ ॥

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥ ८ ॥

अर्थ–कपिल केशोंवाली अधिक अंगवाली नित्य व्याधीसे युक्त बे बालोंवाली तथा ज्यादे रोमोंवाली बहुत पुरुषोंसे बतलानेंवाली पिंगल नेत्रोंवाली ऐसी कन्याकेसंग विवाह न करे ॥ ८ ॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥

अर्थ–नक्षत्रके नामवाली तथा वृक्ष नदी पर्वत इन्होंके नामवाली वा पक्षी सर्प दास इन्होंके नामवाली स्त्रीको और भयंकर नामवाली स्त्रीको नहीं विवाहै ॥ ९ ॥

अव्यङ्गांगीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥

अर्थ–व्यंगसेरहित अंगवाली सौम्य अर्थात् मधुर सुखसे उच्चारण होवे ऐसा

नामवाली हंसहस्ती इन्होंके समान सुंदर गमनवाली सूक्ष्मरोम पतले केश और सूक्ष्म दांतोंवाली कोमल अंगवाली ऐसी स्त्रीकेसंग विवाह करे ॥ १० ॥

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता ।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ ११ ॥

अर्थ–जिस कन्याके भ्राता नहीं हो और उसके पिताकापता नहीं हो ऐसी कन्याको बुद्धिमान् मनुष्य नहीं विवाहै तहां पुत्रिकाके धर्मकी शंकासे और अधर्मकी शंकासे इस कन्याको नहीं विवाहै जिस कन्याका पिता यह विचारकर लेता है कि इस कन्याके जो पहले पुत्र होगा उसको मैं गोद लेवूंगा ऐसी कन्यामें पुत्रिकाधर्म कहाहै ॥ ११ ॥

सवर्णाग्रेद्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ १२ ॥

अर्थ–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन्होंके प्रथम विवाह करनेमें सवर्णा अर्थात् अपने वर्णकी स्त्री श्रेष्ठहै और दूसरा विवाह करे तो आगे कहेहुए इस क्रमसे ए स्त्री श्रेष्ठहै ॥ १२ ॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥ १३ ॥

अर्थ–तिस क्रमको कहतेहै शूद्रकी स्त्री शूद्राही है किंतु उत्तम वैश्य जाति आदि नहीं हो सके और वैश्यकै शूद्रा स्त्रीभी हो सकती है क्षत्रियकै वेदोनों कन्या उचितहै ब्राह्मणको शूद्रा आदि तीनों कन्या विवाहमें उचित है ॥ १३ ॥

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥

अर्थ–आपत्कालमेंभी प्राप्तहुए ब्राह्मण क्षत्रियको जो यदि अपनें वर्णकी कन्या मिले तो कभीभी इतिहास अथाख्यानोंमेंभी शूद्रकी कन्यासे विवाह कराना नहीं कहाहै ॥ १४ ॥

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

अर्थ–ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ए द्विजाति जो यदि अपनें वर्णकी कन्याके संग

विवाह करायें पीछे अज्ञानसे शूद्राकेसंग विवाह करतेहै वे अपनी संतानसहित कुलोंको शूद्रभावको प्राप्त करदेतेहै ॥ १५ ॥

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥ १६ ॥

अर्थ–शूद्रकी कन्याको विवाहनेंवाला द्विज पतित होजाताहै यह अत्रिका मत है और गौतमकाभी यही मतहै शौनकका यह मतहै कि शूद्रामें संतानकी उत्पत्ति होनेंसे पतित होताहै और भृगुजीका यह मत है कि उस शूद्राहीमें संतान उत्पन्न करे और अन्य अपने वर्णकी स्त्रियोंमें संतान उत्पन्न नहीं कीहों ॥ १६ ॥

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥

अर्थ–जो द्विज सवर्णा स्त्रीको विवाहके फिर स्नेहत्वादि शूद्राकेसंग विवाह कर तिसको शय्यापे प्राप्त करताहै वह नरकमें जाताहै और तिसमें संतान उत्पन्न करे तो ब्राह्मण भावसे हीन होजाता है ॥ १७ ॥

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति ॥ १८ ॥

अर्थ–जिस पुरुषके सवर्णा स्त्रीके अभावमें शूद्रास्त्रीकी हाथसे बनायेहुए भोजन आदिक होतेंहै तिसके हव्यकव्यको देवता पितर ग्रहण नहीं करतेहै और अतिथिअभ्यागतको भोजन आदिकरनेंसे वह स्वर्गकोभी प्राप्त नहीं होता ॥ १८ ॥

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च ।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥

अर्थ–शूद्रास्त्रीके ओष्ठ मुख चुंबनवाले पुरुषकी तथा तिसके श्वाससे उपहत अर्थात् तिसके संग शयनकरनेंवाले वा तिसमें संतान उत्पन्न करनेंवाले द्विजकी शुद्धि नहीं कही है ॥ १९ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान् ।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ २० ॥

अर्थ–ब्राह्मण आदि चारोंवर्णोंके हित और अहित स्त्रीकी प्राप्ति हेतु इन आठविवाहोंको संक्षेपसे सुनो अगले श्लोकमें कहे जातेहै ॥ २० ॥

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

अर्थ–उन्होंके नाम कहते है ब्राह्म १ दैव २ आर्ष ३ प्राजापत्य ४ आसुर ५ गांधर्व ६ राक्षस ७ पैशाच ८ येहै यहां ब्राह्मराक्षस आदि संज्ञाशास्त्रके व्यवहारसे स्तुतिनिंदाकेवास्ते कही है ॥ २१ ॥

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

अर्थ–जो विवाह जिसके धर्मसे युक्त है और जिनमें जो गुणदोष है और तिन विवाहोंसे उत्पन्न हुई संतानोंके गुण औगुन यह सब तुह्मारेवास्ते संक्षेपमात्रसे कहैंगे ॥ २२ ॥

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान् ।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान् ॥ २३ ॥

अर्थ–ब्राह्मणकै यथाक्रमसे ब्राह्म दैव आर्ष प्राजापत्य आसुर गांधर्व ए छह विवाहधर्म संबंधी कहेहै और क्षत्रियकै आसुर गांधर्व राक्षस पैशाच ए चार विवाह उत्तम कहें है वैश्यशूद्रकै आसुर गांधर्व पैशाच ए विवाह करनें कहेहै॥२३॥

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः ।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

अर्थ–ब्राह्मणकै ब्राह्म दैव आर्ष प्रजापति ए चार विवाह श्रेष्ठ कहेहै क्षत्रियको राक्षस विवाह और वैश्य शूद्रको आसुर विवाह करना श्रेष्ठ कहा है ॥ २४ ॥

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥

अर्थ–प्राजापत्य आदि पांच विवाहोंमें प्राजापत्त्य गांधर्व राक्षस ए तीन विवाह धर्म संबंधी है और पैशाच आसुर ए विवाह कभीभी नहीं करावे यहां प्राजापत्यविवाह ब्राह्मणोंको गांधर्व राक्षस ए विवाह वैश्य तथा शूद्रको श्रेष्ठ कहेहै २५

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

अर्थ–पहले कहेहुए गांधर्व राक्षस ए दोनों विवाह जुदे जुदे अथवा मिलेहुए करनें क्षत्रियको धर्मसंबंधी कहे है ॥ २६ ॥

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥

अर्थ–वेदको पढाहुआ और सुंदर शीलस्वभाववाला ऐसे बरको आदर सत्कारसे बुलाके फिर कन्याको तथा बरको वस्त्र आभूषण आदि देके पूजन करके तिस बरकेवास्ते जो कन्यादान दिया जाता है वह ब्राह्मसंज्ञक विवाह कहाता है॥२७

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

अर्थ–सम्यक् प्रकारसे जो अग्निष्टोम आदिक यज्ञकी जावे तिसमें ऋत्विक् अर्थात् कर्मकर्त्ताकेवास्ते कन्याको आभूषण पहिनाके तिसका दान देवै यह दैव धर्म विवाह कहाता है ॥ २८ ॥

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥

अर्थ–गोमिथुन अर्थात् एक गौ एक बैल ऐसा एक जोडा वा दो जोडा धर्मके वास्ते यज्ञादिकोंकी सिद्धिकेवास्ते अथवा कन्याहीको देनेंकेवास्ते वरसे ग्रहण करके फिर तिस बरको देनेंकेवास्ते कन्यादान देना यह आर्षधर्म कहाता है ॥२९॥

सह नौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

अर्थ–तुम दोनों साथ धर्मका आचरण करो ऐसे कन्याके तथा वरके प्रति कहके नियमसे प्रार्थना कर जो कन्यादान किया जाताहै वह प्राजापत्य विधि कहाती है ॥ ३० ॥

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

अर्थ–कन्याके संबंधी बंधुवोंकेवास्ते वा कन्याके पिता आदिकेवास्ते तथा कन्याकेवास्ते जो शक्तिके अनुसार धन देके विवाह किया जाता है वह आसुरधर्म कहाता है॥ ३१ ॥

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ३२ ॥

अर्थ–कन्या और वरके आपसमें देखनेंसे स्नेह आदिकसे वे जो आपसमें संयोगकर लेते है वह गांधर्वविवाह कहाता है सो यह विवाह मैथुनकी इच्छासे होता है ॥ ३२ ॥

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ–कन्याके पिता आदिकोंको मारवा मकान आदिको फोड तिन्हींके हाथ पैर आदि तोड हठसे गाली देती हुई तथा रोती हुई कन्याको जो घरसे हरके ले जाते है वह राक्षस विवाह कहाता है ॥ ३३ ॥

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

अर्थ–सोतीहुई तथा मदिरा आदिसे प्रमत्तहुई और एकांतमें स्थितहुई ऐसी कन्याके संग विवाहविधि कर मैथुन करता है वह पापरूप सब विवाहोमें अधम पैशाचविवाह कहाता है ॥ ३४ ॥

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

अर्थ–ब्राह्मणोंको जल हाथमें लेके कन्यादान करना श्रेष्ठ कहाहै और क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंके आपसमें वचन मात्रसेभी कन्यादान उचित है ॥ ३५ ॥

यो यस्यैषां विवाहनां मनुना कीर्तितो गुणः ।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥

अर्थ–इन विवाहोमें जिस विवाहको जो गुण दोष मनुनें कहा है हे विप्रा तिस सबको कहते हुए मुजसे सुनो ऐसा यह वचन भृगुजीका है ॥ ३६ ॥

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम् ।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितृन् ॥ ३७ ॥

अर्थ–सुकृतको करनेवाला ब्राह्मसंज्ञक विवाहवाली स्त्रीका पुत्र पिता आदि दश पहिले पितर और पुत्र आदि दश अगले और एक आप ऐसे इकीस पुरुषोंको पापसे छुटा देता है ॥ ३७ ॥

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान् ।
आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट्षट् कायोढजः सुतः ॥ ३८ ॥

अर्थ–दैवसंज्ञक विवाहवाली स्त्रीमें उत्पन्न हुआ पुत्र सात पहले और सात पिछले ऐसे १४ को आर्ष विवाहवालीका तीन पहले ३ पीछले ऐसे ६ और प्राजापत्यविवाहवाली स्त्रीका पुत्र छह पहले छह पिछले ऐसे १२ और एक आप ऐसे इस क्रमसे इन्होंके पापका नाश करता है ॥ ३८ ॥

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥

अर्थ–ब्राह्म आदि चार विवाहोंमें वेदाध्ययनकी संपत्ति तेजसे युक्त अति उत्तम और श्रेष्ठपुरुषोंसे पूजित ऐसे पुत्र उत्पन्न होते है ॥ ३९ ॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवंति च शतं समाः ॥ ४० ॥

अर्थ–सुंदर रूप और सत्वगुणसे युक्त धनवाले और यशवाले संपूर्ण इच्छित भोगोंसे युक्त धर्मवाले ऐसे पुत्र उत्पन्न होते है और सौवर्षतक जीवते है ॥४०॥

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायंते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥

अर्थ–ब्राह्म आदि चार विवाहोंसे जुदे आसुर आदि चार विवाहोंमे क्रूरकर्म करनेंवाले, झूठ बोलनेंवाले वेदसे द्वेष करनेवाले ऐसे पुत्र उत्पन्न होते है ॥४१॥

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिंद्या भवति प्रजा ।
निंदितैर्निंदिता नृणां तस्मान्निंन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

अर्थ–विना निंदावाले, उत्तम स्त्रीसंग विवाह करानेसे उत्तम संतान होती है और निंदित विवाह करानेंसे निंदावाली संतान होती है इसवास्ते निंदित विवाहोंको वर्ज देवै ॥ ४२ ॥

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।
असवर्णा स्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि ॥ ४३ ॥

अर्थ–जो अपनी जातिकी स्त्री है उसके संग विवाह करानेंमें पाणिग्रहण अर्थात् हाथग्रहण करना यह संस्कार कहा है और अन्य जातिकी स्त्रीके

संग विवाह करानेमें यह विधि करनी चाहिये तिसको अगले श्लोकमें कहते है ॥ ४२ ॥

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया ।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

अर्थ–जो यदि उत्तम वर्णका पुरुष विवाह करे तो क्षत्रियकी कन्याको बाणका एकसिरा पकडना चाहिये और वैश्यकी कन्याको चाबुकका एकसिरा पकडना और उत्तम ब्राह्मण आदिकोंके साथ विवाह होनेंमें शूद्रकी कन्याको कपडा एक तर्फसे पकडना चाहिये ॥ ४४ ॥

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥

अर्थ– पुरुषको ऋतुकाल अर्थात् स्त्री रजस्वला होवे तो निश्चय तिसके संग मैथुन करना चाहियें और सदा अपनी स्त्रीमें रत रहे और मैथुनकी इच्छाकरके अपनी स्त्रीमें रत हुआ पुरुष अमावास्यादि पर्वको वर्जके मैथुन करे और पर्वकालमे तो रजस्वला स्त्रीके संगभी मैथुन न करे ॥ ४५ ॥

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥ ४६ ॥

अर्थ–महीनाके महीना रजस्वला होना यह ऋतुकाल स्त्रीकै स्वभावसेही होता है सो सोलह दिनतक कहा है तिनमें पहले चार दिन श्रेष्ठ पुरुषोंनें निंदित कहे है अन्यदिनोंमें मैथुन करै ॥ ४६ ॥

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥

अर्थ–तिन सोलह रात्रियोमें पहलेंकी चार रात्री और ग्यारहवी तथा तेरवी ये रात्री वर्जित है बाकीकी १० रात्री श्रेष्ठकही है ॥ ४७ ॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

अर्थ–पहले कही हुई १० रात्रियोंमें ६, ८, १०, १२, १४, १६, ये युग्म रात्री है इन्होंमे विषय करे तो पुत्र होते है अन्य अयुग्म रात्रियोंमें कन्या होतीहै इसवास्ते पुत्रकी इच्छावालेको युग्मरात्रियोंमें मैथुन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समे पुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥ ४९ ॥

अर्थ–पुरुषका वीर्य अधिक होवे तो पुत्र उत्पन्न होता है और स्त्रीका वीर्य अधिक होवे तो कन्या उत्पन्न होतीहै और दोनौंका वीर्य बरावर होवे तो नपुंसक होता है अथवा एक कन्या और एक पुत्र ऐसे जोडा होता है और वीर्य निकस जावे अथवा वीर्य अल्प होवे तो गर्भ नही ठहरता है ॥ ४९ ॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ ५० ॥

अर्थ–पहले कही हुई अनिंदित रात्रियोंमें तथा अन्य अयुग्म रात्रियोंमें स्त्रियोंका वर्जके बाकीकी रात्रियोंमें मैथुन करता हुआ पुरुष जिस किसी आश्रममें वसता हुआभी ब्रह्मचारीही है ॥ ५० ॥

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णंश्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥ ५१ ॥

अर्थ–धन लेनेके दोषको जाननेवाला कन्याका पिता कन्याके विवाहमें थोडासाभी धन बरसे नहीं लेवे क्योंकि लोभसे कन्यादानके निमित्त धनको ग्रहणकरनें वाला पुरुष संतानको वेचनेवाला होजाता है ॥ ५१ ॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः ।
नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम् ॥ ५२ ॥

अर्थ–जो बांधव अर्थात् पति पिता आदिक स्त्री पुत्री आदिकोंके धनको अज्ञानसे ग्रहण कर लेते है और स्त्रीकी सवारी वस्त्र इन्होंको हरते है वे पापी पुरुष नरकमें जाते है ॥ ५२ ॥

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ॥ ५३ ॥

अर्थ–आर्षविवाहमें कईक आचार्य कहते है कि वरसे गो मिथुन गौ बैलको लेके कन्याका विवाह कर देवै सो यह असत्यही है क्योंकि थोडा हो अथवा ज्यादै हो यह तो कन्याका बेचनाही है ॥ ५२ ॥

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।

अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ ५४ ॥

अर्थ–जिन कन्याओंकेवास्ते प्रीतिकरके वरसे दिये हुए धनको पिता आदिक ग्रहण नहीं करते हैं किंतु कन्याहीकेवास्ते देदेते है वहभी वेचना नहीं है किंतु तिनकन्याओंका केवल पूजन है क्रूर कर्म नही है ॥ ५४ ॥

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥

अर्थ–केवल विवाहहीमें वरसे दियाहुआ धन कन्याकेवास्ते अर्पण करना यह नही है किंतु विवाहके वादभी पिता भाई पति देवर इन्होंनें आपको बहुत सुखकी प्राप्तिके लिये तिनका पूजन करना और आभूषण आदिकोसे शृंगार करना उचित है ॥ ५५ ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥

अर्थ–जिस कुलमें स्त्रियोंका पूजन हो वहां देवते प्रसन्न होते है और जहां इन्होका पूजन नहीं होता वहां देवताओंकी प्रसन्नता हुएविना संपूर्ण कर्म निष्फल होते है ॥ ५६ ॥

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

अर्थ–जिस घरमें स्त्री बेटाकी बहू पुत्री इत्यादिक स्त्री दुःखसे शोच करती है वह कुल शीघ्रही नष्ट होजाता है जहां ये शोच नहीं करती है वह कुल नित्य धन आदिकोंसे बढता है ॥ ५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥

अर्थ–जामय अर्थात् बहैन पुत्री बेटाकी बहू स्त्री ये दुःखित होके जिन घरोंको शाप देती है वे घर भूतादिकरके नाश हुएकीतरंह शीघ्रही नष्ट हो जाते है ॥ ५८ ॥

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

अर्थ–इसवास्ते समृद्धिकी इच्छा करनेंवालोंको अच्छे कामोंमें और विवाह आदिकोंमें आभूषण वस्त्रादिकोंकरके इन स्त्रियोंका सदा सत्कार करना चाहिये ॥ ५९ ॥

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥

अर्थ–जिस घरमें अपनी स्त्रीसे भर्त्ता प्रसन्न रहता है अर्थात् अन्य स्त्रीकी अभिलाषा नहीं रखता है और स्त्री अपनें भर्तासे प्रसन्न रहती है तिस कुलमें निश्चय सुख होता है ॥ ६० ॥

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥

अर्थ–जो स्त्री वस्त्र आभूषण आदिकोंसे शोभितहुई दीप्त नहीं रहती है तो अपने पतिको प्रसन्न नहीं करती है पतिके प्रसन्नहुए विना संतान नहीं होती है ॥६१॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

अर्थ–जिस कुलमें स्त्री शोभित रहती है तहां भर्त्ताके स्नेह होनेंसे वह संपूर्ण कुल प्रकाशित रहता है और स्त्री प्रसन्न नहीं होवे तो अन्य पुरुषका संग होनेंसे वह संपूर्ण कुल मलिन हो जाता है ॥ ६२ ॥

कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥

अर्थ–आसुर आदि निंदित विवाहोंकरके और यथाविहित जात कर्म आदि संस्कारोंका नाश होनेंसे वेदके नहीं पढनेंसे ब्राह्मणोंका पूजन नही होनेंसे श्रेष्ठकुल दूषितकुलपनेंको प्राप्त हो जाते है ॥ ६३ ॥

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः ।
गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

अर्थ–चित्रकर्म आदिक शिल्पविद्या मूर्ति आदि बनानेंसे व्यवहारसे केवल शूद्रास्त्रीकी संतानकरके गौ अश्व रथ इन्होंके वेचनें खरीदनेसे खेती करनेंसे राजाकी सेवा करनेसें ब्राह्मणोंका कुल नष्ट हो जाता है ॥ ६४ ॥

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम् ।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥ ६५ ॥

अर्थ–व्रात्य आदि नीच पुरुषोंके यज्ञ करानेसे श्रुति स्मृतिके कर्मोंकी नास्तिक्य अर्थात् निंदा करनेवाले वेदके मंत्रोंसे रहित ऐसे ब्राह्मणोंके कुल शीघ्रही नष्ट हो जाते है ॥ ६५ ॥

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छंति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ ६६ ॥

अर्थ–वेदका अध्ययन और तिसके अर्थ ज्ञानसे युक्त ऐसे निर्धन कुलभी बडे कुलोंकी गिनतीमें प्राप्त हो जाते है और महान् यशका विस्तार होता है ॥ ६६॥

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥

अर्थ–गृहस्थी पुरुष यथार्थ विधिसें विवाहमें होनेंवाली अग्निमें गृह्यकर्म अर्थात् सायंप्रातर्होम करै और बलि वैश्वदेव आदि विधान करै और दिन दिन प्रति तिसी विधानसे संपादित कीहुई अग्निमें पाक बनावे ॥ ६७ ॥

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥

अर्थ–गृहस्थीके पांच हिंसाके स्थान है चुल्हा चक्की बुहारी ऊखल मूसल जलका घडा इन्होंको अपनें कार्योंमें लावताहुआ पुरुष इन पांच हिंसाओंसे बंध जाता है ॥ ६८ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

अर्थ–चुल्ही आदि तिन पांच स्थानोंमें उत्पन्न होनेंवाली सब हत्याओंके नाशके वास्ते मनु आदिकोंने गृहस्थियोंको पांच महायज्ञ करनी कही है ॥६९ ॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥

अर्थ–पढना पढाना यह ब्रह्मयज्ञ है जल आदिसे तर्पण करना यह पितृयज्ञ है अग्निमें हवन करना यह देवयज्ञ है भूतोंको बलि देना यह भूतयज्ञ है अभ्यागतका पूजन करना यह मनुष्ययज्ञ है ॥ ७० ॥

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥ ७१॥

अर्थ–जो पुरुष शक्तिके अनुसार इन पांच महायज्ञोंको करता है वह घरमें बसताहुआभी नित्यहत्याओंके दोषसें नहीं लिपता है॥ ७१॥

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति॥ ७२॥

अर्थ–देवता अभ्यागत भृत्य मातापिता आत्मा इन पांचोंको अन्न नहीं देता है वह जीवताहुआभी मराहुआ है जीवतेहुएके कार्योंके नहीं करनेसे वो जीवता नहीं हैं॥ ७२॥

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते॥ ७३॥

अर्थ–अहुत हुत प्रहुत ब्राह्म्यहुत प्राशित, इन पांच नामोंवाली यज्ञोंको मुनिजन कहते है॥ ७३॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम्॥ ७४॥

अर्थ–जपयज्ञोंको अहुत यज्ञ कहते है होम करना यह हुतयज्ञ है प्रहुतयज्ञ भूतबलिको कहते है उत्तम ब्राह्मणकी पूजा करनी यह ब्राह्म्यहुत यज्ञ हैं और पितृतर्पणको प्राशितयज्ञ कहते है॥ ७४॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्॥ ७५॥

अर्थ–वेदाध्ययनमें युक्त हो दैवकर्म अर्थात् अग्निहोत्रमें युक्त रहै दैवकर्ममें युक्तहुआ ऐसा ब्राह्मण इस चराचर जगत्को धारणकरता हैं यह स्तुति वर्णनकी है॥ ७५॥

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ ७६॥

अर्थ–अग्निमें दीहुई आहुति सम्यक् प्रकारसे सूर्यको प्राप्त होती है फिर वह

आहुतिका रस सूर्यसे वर्षारूप होके वर्षता है तिसवर्षासे अन्न होता है अन्नसे प्रजा वढती है ॥ ७६ ॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥

अर्थ–जैसे प्राणवायुके आश्रय होके संपूर्ण प्राणी जीवते है तैसेंही गृहस्थाश्रमकै आश्रय होके सब आश्रम निर्वाह करते है ॥ ७७ ॥

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥

अर्थ–जिसवास्ते तीनों आश्रमवाले पुरुष वेदार्थ व्याख्यारूप ज्ञान और अन्न करके गृहस्थाश्रमी पुरुषसेही निर्वाह करते है इसवास्ते गृहस्थी पुरुष ज्येष्ठ अर्थात् बडा है ॥ ७८ ॥

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥

अर्थ–जो दुर्वल इंद्रियोंसे धारण करनेंमें समर्थ नहीं है ऐसा वह गृहस्थाश्रम अक्षय स्वर्गकी इच्छा करनेवाला और इस लोकमें सुखकी इच्छा करनेवाला पुरुषको नित्य धारण करना चाहिये ॥ ७९ ॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥

अर्थ–ऋषि पितर देवता भूतादिक अभ्यागत ये सब गृहस्थीके सकाशसे आसा रखते है इसवास्ते शास्त्रको जाननेवालेकरके तिन्होंकेवास्ते कर्त्तव्य है॥८०॥

स्वाध्यायेनार्चयेदृषीन्होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

अर्थ–वेदाध्ययनकरके ऋषियोंका पूजन करै और होमकरके यथार्थ विधिसे देवतावोंका पूजन करै पितरोंका पूजन श्राद्ध करके करै और मनुष्योंको अन्न करके भूतोंको बलिकर्मकरके पूजै ॥ ८१ ॥

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

अर्थ-पितरोंकी प्रीतिकरनेवाला पुरुष दिन दिन प्रति तिलयव इत्यादि अन्न करके अथवा जलकरके तथा मूलफल दूध इन्होंकरके श्राद्ध करै यहां श्राद्ध-शब्द कर्मविधिका वाक्य है ॥ ८२ ॥

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके ।
न चैवात्राशयेत्किंचिद्वैश्वदेवं प्रतिद्विजम् ॥ ८३ ॥

अर्थ-यहां पंच यज्ञान्तर्गत पितृयज्ञमे एक ब्राह्मणको भोजन करानाभी उचित हैं और यहां विश्वेदेवासंबंधी ब्राह्मणको भोजन कराना योग्य नही है॥८३

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

अर्थ-आवसथ्य अग्निमें सिद्ध कियाहुआ विश्वेदेवोंके अन्नको द्विज विधिपूर्वक इन देवताओंकेवास्ते होम करै, तिनको अगले श्लोकमें कहते है ॥ ८४ ॥

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥

अर्थ-तिन देवताओंको कहते है अग्नये स्वाहा ऐसे अग्निके अर्थ सोमाय स्वाहा ऐसे सोमके अर्थ विश्वेभ्योदेवेभ्यः स्वाहा ऐसे विश्वेदेवोंके अर्थ धन्वंतरये स्वाहा ऐसे धन्वंतरीके अर्थ होम करै ॥ ८५ ॥

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥

अर्थ-कुह्वै स्वाहा अनुमत्यै स्वाहा प्रजापतये स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा अग्नयेस्विष्टकृते स्वाहा ऐसे स्वाहा शब्द अंतवाले इन मंत्रोकरके अग्निमें हवन करै८६

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥

अर्थ-ऐसे सम्यक् प्रकारसे देवताओंके वास्ते अग्निमें हवन करके संपूर्ण दिशाओंमें प्रदक्षिणा कर अनुचरोंसहित इंद्र आदि देवताओंके अर्थ चारों दिशाओंमें वलि देवै जैसे प्राच्यामिंद्राय नमः इंद्र पुरुषेभ्यो नमः दक्षिणस्यां यमा० यमपुरु० पश्चि० वरुणा० वरुणपुरु० उत्तरस्यां सोमाय नमः सोमपुरुषेभ्यो नमः ॥ ८७ ॥

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुशलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥

अर्थ–मरुद्भ्यः नमः ऐसे कहके-द्वारके आगे बलि देवै अद्भ्यः नमः ऐसे कहके जलमें डालै और वनस्पतिभ्यो नमः ऐसे कहके ऊखल मूसलमें बलि डालै ॥ ८८ ॥

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः ।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥ ८९ ॥

अर्थ–वास्तु पुरुषके शिरःप्रदेशमें उत्तर पूर्व दिशामें लक्ष्मीके अर्थ बलि देवै और वास्तुका पाद प्रदेश अर्थात् पश्चिम दक्षिणकी दिशामें भद्रकालीके अर्थ बलि देवै और ब्रह्मवास्तोष्पतिके अर्थ घरके मध्यमें बलि देवै ॥ ८९ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥ ९० ॥

अर्थ–विश्वेदेवोंके अर्थ घरके आकाशमें बलि देवै दिनमें दिवाचरेभ्योभूतेभ्यो नमः ऐसे कहके आकाशमें भूतोंके अर्थ बलि देवै और नक्तंचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ऐसे कहके रात्रिमें भूतोंके अर्थ बलि देवै ॥ ९० ॥

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्म भूतये ।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥ ९१ ॥

अर्थ–घरके ऊपरके मकानोंको पृष्ठवास्तु कहते हैं तहां सर्वात्मभूतये नमः ऐसे कहके बलि देवै और बलिदानोंसे बाकी रहे अन्नको दक्षिणकी तर्फ मुख कर स्वधापितृभ्यः ऐसे कह पितरोंके अर्थ बलि देदेवै ॥ ९१ ॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ ९२ ॥

अर्थ–कुत्ते पतित पुरुष चांडाल कुष्ठरोगी जन इन्होंके अर्थ अन्नको पात्रमे डाल फिर तिसको शनैशनैः पृथ्वीमें रख कर देवै मिट्टी न लगे इसवास्ते शनै शनै रक्खे ॥ ९२ ॥

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्य मर्चति ।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्ति पथर्जुना ॥ ९३ ॥

अर्थ–जो द्विज इस उक्त प्रकारसे संपूर्ण भूतोंको अन्नादिकोंसे नित्य पूजता है वह तेजकी मूर्तिरूप परम स्थानको ऋजुमार्ग अर्थात् स्वयंप्रकाश होके प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्ममे लीन हो जाता है ॥ ९३ ॥

कृत्वैतद्बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे ॥ ९४ ॥

अर्थ–इस तरंह उक्तप्रकारसे बलिदान देके फिर अतिथि अभ्यागतको भोजन करावे और भिक्षा मांगनेंवाले ब्रह्मचारीके अर्थ भिक्षा देवे पीछे गृहस्थी मनुष्यों को भोजन करना चाहिये ॥ ९४ ॥

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्वा विधिवद्गुरोः ।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्वा द्विजो गृही ॥ ९५ ॥

अर्थ–विधिपूर्वक अर्थात् सुवर्णकी सींगडी आदिकोंसहित गौ दान अपनें गुरु के वास्ते देके जिस फलको प्राप्त होता है उसी पुण्यके फलको गृहस्थी द्विज विधिवत् भिक्षादान देनेसे प्राप्त हो जाता है ॥ ९५ ॥

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ९६ ॥

अर्थ–शाक आदिसे सत्कृतकी हुई भिक्षा अथवा जलके पात्रको विधिपूर्वक वेदके तत्व अर्थको जाननेंवाले ब्राह्मणके अर्थ देवै ॥ ९६ ॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः ॥ ९७ ॥

अर्थ–अज्ञानसे सत्पात्रको नहीं जाननेंवाले मनुष्योंका दियाहुआ हव्य और कव्य अन्न भस्म हुआ पात्रके समान तिन विप्रोंमें देनेंसे सब नष्ट हो जाता है९७

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥ ९८ ॥

अर्थ–विद्या तप इन्होंकी समृद्धिसे युक्त ऐसे ब्राह्मणोंके मुखरूप अग्निमें होमा हुआ अन्न दुर्ग अर्थात् राजशत्रु आदि भयसे और महान् पापसे उतार देता है॥

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥ ९९ ॥

अर्थ–यथा संभव आपसे आयाहुआ अभ्यागतके अर्थ आसन देवै और पाद प्रक्षालनकेवास्ते जल देवै फिर व्यंजनादि अन्नको सत्कृत कर शक्तिके अनुसार भोजन करावे ॥ ९९ ॥

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ॥ १०० ॥

अर्थ–शिला उंछ वृत्ति अर्थात् काटे हुए खेतमेसे अन्न बीन बीन लेआना और पांच अग्नियोंमें नित्य हवन करनेंवाला ऐसा अतिथि अभ्यागत विना पूजाहुआ रेहतो तिस गृहस्थीके सब पुण्यको गृहण कर लेता है ॥ १०० ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥

अर्थ–जो यदि अन्न नहीं होवेतो तृणरहनेंकेवास्ते भूमि जल चौथी प्रियवाणी ये बात श्रेष्ठ पुरुषोंके घर नित्य रहनी चाहिये ॥ १०१ ॥

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥ १०२ ॥

अर्थ–एक रात्रीही पराये घरमें वास करताहुआ ब्राह्मण अतिथि कहाता है क्योंकि इसका ठहरना अनित्य है एक तिथिसे दूसरी तिथि नहीं ठहरता इसीवास्ते अतिथि कहाताहै ॥ १०२ ॥

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥ १०३ ॥

अर्थ–एक ग्राममें रहनेंवाला और गानेंबजानेंवाला और भार्या अग्निसे युक्त घरमें रहनेंवाला ऐसे ब्राह्मणको अतिथि नहीं जानें ॥ १०३ ॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥ १०४ ॥

अर्थ–जो बुद्धिसे रहित गृहस्थी पुरुष पराये भोजनको खाते है वे मरके तिन अन्न देनें वालोंके पशु होते हैं ॥ १०४ ॥

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत् ॥ १०५ ॥

अर्थ-सायंकालमें सूर्य अस्त होजावे तब अभ्यागत आजावे तो उसको जाने को न कहे और घरमें भोजन हो चुकाहो अथवा भोजन तैयार हो परंतु गृहस्थी पुरुषको अभ्यागत भूखा नहीं रखना चाहिये ॥ १०५ ॥

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम् ॥ १०६ ॥

अर्थ-जो भोजन अभ्यागतको नहीं किया है उसको आपभी भोजन न करे अतिथिका पूजन करना धन्य है अर्थात् धनकेवास्ते हित है यश करता है आयुको बढाता है स्वर्गकेवास्तेभी हित है ॥ १०६ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥

अर्थ-बैठनेंकेवास्ते आसन रहनेंकेवास्ते मकान सोनेंको शय्या उपासना अर्थात् खातर तब जैसे सब उत्तम अभ्यागतोंमें उत्तम करै हीनोंमें हीन और समान हो उनको आपके समान ॥ १०७ ॥

वैश्वदेवे तु निर्वृते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥

अर्थ-भोजन हो चुके और अतिथि अभ्यागतको भोजन कराचुके तब कोई यदि दूसरा अभ्यागत आ जावे तो उसकेवास्ते अन्य पाकबनाके शक्तिके अनुसार भोजन करावे और फिर बलिदान न करे ॥ १०८ ॥

न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥

अर्थ-भोजन करनेंकेवास्ते ब्राह्मण अपना कुलगोत्रका वर्णन नकरे भोजनकेवास्ते तिन्होंका वर्णन करनेंवाला विप्र वमन अर्थात् उगलनको खानेवाला कहाता है१०९

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च ॥ ११० ॥

अर्थ-ब्राह्मणके क्षत्रिय आदिक अतिथि नहीं है और क्षत्रियके घरमें वैश्य शूद्र अतिथि नहीं है और मित्र गुरु सजातीय बंधु येभी अतिथि नहीं कहाते है इसी क्रमसे वैश्यके द्विज अतिथि है शूद्र नहीं ॥ ११० ॥

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्।

भुक्तवत्स्वक्तविप्रेषु कामं तमपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

अर्थ–जो यदि अतिथि धर्मकरके अर्थात् किसि ग्राममें जाताहुआ क्षत्रिय ब्राह्मणके घरमें आजावे तो ब्राह्मण पहले भोजन कर चुके तब तिसकोभी इच्छापूर्वक भोजन करवावे ॥ १११ ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

अर्थ–जो यदि वैश्य शूद्रभी अतिथि धर्म करके ब्राह्मणके घरमें प्राप्त होवें तो उनमे कृपा करताहुआ ब्राह्मण अपनें भृत्योंके साथ उनको भोजन करवावे ११२

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान्।
सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ ११३ ॥

अर्थ–अन्य जो सहाध्यायि मित्र आदि आवें तो उन्होंको शक्तिके अनुसार व्यंजन आदि सहित उत्तम पदार्थ वनाके प्रीति करके स्त्रीके भोजन समय भोजन करावे गृहस्थीको आपभोजन करनेंकाभी वही वक्त है ॥ ११३ ॥

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥

अर्थ–पुत्र वधू आदि नवीन बहू पुत्री कुमारी रोगी गर्भिणी स्त्री इन्होंको विना विचार कियें निस्संदेह अतिथि अभ्यागतोंसे पहले भोजन करवा देवै और किसीका यह मत है कि इन्होंके साथही भोजन करवावै ॥ ११४ ॥

अदत्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते विचक्षणः।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः ॥ ११५ ॥

अर्थ–जो मूर्खजन इन अभ्यागत भृत्य आदिकोंको भोजन करवायेंविना पहले आप भोजन करता है वह इसवातको नहीं जानता है कि मरनेंकेवाद अन्य जन्म में मेरा शरीरका भक्षण कुत्ते गृद्ध करेंगे ॥ ११५ ॥

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयाता ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

अर्थ–अभ्यागत विप्र अपने ज्ञातिबंधु दासआदि ये सब भोजन कर चुके तब पीछे बाकी रहे अन्नको स्त्री पुरुष भोजन करै ॥ ११६ ॥

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्यांश्च देवताः ।
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥

अर्थ—देवता ऋषि मनुष्य पितर गृह्यदेवते अर्थात् भूतसंज्ञक इन्होंका पूजन कर अर्थात् पंचयज्ञविधान करके फिर गृहस्थी पुरुष बाकी रहे अन्नको भोजन करै ॥ ११७ ॥

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

अर्थ—जो पुरुष अपनेंहीवास्ते अन्नको पकाके भोजन करता है वह केवल पापका भोजन करता है और यज्ञ कियाहुआसे बाकी रहा अन्नका भोजन करना श्रेष्ठ पुरुषोंको कहा है ॥ ११८ ॥

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान् ।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥

अर्थ—राजा ऋत्विक् विद्या व्रतसे युक्त स्नातक गुरु जामाता श्वशुर मामा ये जो घरोंमे आवें तो गृह्योक्त मधुपर्क कर्म करके पूजन करै और वर्ष १ व्यतीत होनेके बाद आवे तब फिर पूजन करै ॥ ११९ ॥

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।
मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२० ॥

अर्थ—राजा स्नातक अर्थात् श्रोत्रिय ये जो यदि वर्ष १ पीछे आवे तबभी यज्ञकर्ममें तो मधुपर्क करके पूजन करै और यज्ञकर्मविना उन दोनोंका यह नियम नहीं है ॥ १२० ॥

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं बलिं हरेत् ।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

अर्थ—सायंकालमें पकेहुए अन्नकी बलिको स्त्री मंत्र पढे विनाही ध्यानमात्रसे देवै क्योंकि वैश्वदेव यह नाम होमबलि दान अतिथि भोजन यह दोनों वक्त करना कहा है ॥ १२१ ॥

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान् ।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ १२२ ॥

अर्थ–अग्निहोत्री द्विज अमावास्याके दिन पिंडपितृयज्ञ कर्मको निवृत्त करके महीनाके महीनै पिंडान्वाहार्यकश्राद्ध अर्थात् पितृयज्ञमें पिंडोंके पीछे श्राद्ध करै१२२

पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः ।
तच्चामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन समंततः ॥ १२३ ॥

अर्थ–पितरोंके मासिक श्राद्धको पंडितजन अन्वाहार्य कहेते है सो वह श्राद्ध दुर्गंधसे रहित सुंदर मनोहर मांस करके करना चाहिये ॥ १२३ ॥

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः ।
यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

अर्थ–तिस श्राद्धमें जिन ब्राह्मणोंको भोजन कराना उचित है और जो वर्जित है और जितनी संख्यावाले तथा जिन अन्नोंकरके जिमांनें कहे है तिन सबोंको कहते है ॥ १२४ ॥

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे ॥ १२५ ॥

अर्थ–दैवकर्ममें दो ब्राह्मण और पितर कार्यमें तीन अथवा देवता पितर इन दोनोंमें एक एक ब्राह्मणको भोजन करवावै जो यदि धनसे समृद्धिवान् होतोभी विस्तार न करे ॥ १२५ ॥

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः ।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम् ॥ १२६ ॥

अर्थ–विशेष ब्राह्मणोंके जिमांनेमें सत्क्रिया ब्राह्मणकी पूजा दक्षिणा १ आदि देश २ अपराह्णकाल ३ शौच ४ उत्तम गुणवान् ब्राह्मणोंकी प्राप्ति ५इन पांचोंका नाश हो जाता है ये नहीं बन सकते इसवास्ते तहां विस्तार न करे ॥ १२६ ॥

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये ।
तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥ १२७ ॥

अर्थ–अमावास्याकेदिन यह जो पितरकर्म है सो प्रेतकृत्या ऐसे विख्यात है तिस कर्ममें युक्त हुआ पुरुष प्रेतकृत्या अर्थात् पितरोंके उपकारार्थ क्रियाके फल नित्यश्राद्धके फलको प्राप्त होता है ॥ १२७ ॥

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः ।

अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम् ॥ १२८ ॥

अर्थ-वेदको पढाहुआ ब्राह्मणके अर्थ हव्यकव्य अर्थात् देवता पितर इन्होंके उद्देशका अन्नादिकको देवै और अधिक पूज्य ब्राह्मणकेवास्ते देवे तो महा फल होता है ॥ १२८ ॥

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् ।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान्बहूनपि ॥ १२९ ॥

अर्थ-देवकर्म अर्थात् यज्ञादिकमें और पितर कर्ममे एक एक विद्वान् ब्राह्मण जिमानाभी योग्य कहा है परंतु वेदके मंत्रोंको नहीं जाननेवाले बहुतसे ब्राह्मणों-कोंभी नहीं जिमांवे क्योंकि विद्वान् एक ब्राह्मणकेभी जिमानेंसे संपूर्ण फलकी प्राप्ति हो जाती है ॥ १२९ ॥

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥

अर्थ-संपूर्ण वेद और वेदकी शाखाओंको पढेहुये ऐसे ब्राह्मणको दूरसे देखै क्योंकि वह हव्यकव्य संज्ञक अन्नके दानमें तीर्थके समान अतिथि अभ्यागत कहा है ॥ १३० ॥

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते ।
एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥

अर्थ-वेदकी ऋचाओंको नहीं जाननेंवाले जहां दश लाख ब्राह्मण भोजन कर-ते है तिन सबोंके पुण्यको वेदको पढाहुआ एक ब्राह्मण संतुष्ट होके ग्रहणकर लेता है अर्थात् उन सबके पुण्यके समान फल देता है ॥ १३१ ॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च ।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः ॥ १३२ ॥

अर्थ-ज्ञानोत्कृष्ट अर्थात् विद्वान् ब्राह्मणकेवास्तेही हव्य और कव्य आदिक अन्न देनें तथा भोजन कराना कहा है किंतु मूर्खकेवास्ते कभीभी नहीं देनें रुधिरसे लिपेहुए हाथ रुधिरकेही धोनेंसे शुद्ध नहीं होते तैसेही यहां जानना ॥ १३२ ॥

यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् ।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान् ॥ १३३ ॥

अर्थ–वेदको नहीं पढाहुआ मूर्ख ब्राह्मण श्राद्धमें हव्यकव्योंके जितनें ग्रासोंको खाता है उतनेंही जलतीहुई शूल सृष्टिशस्त्र ज्वलित लोहाका पिंड इन्हींके ग्रासोंको श्राद्धकर्ता पुरुष मरके भक्षण करता है ॥ १३३ ॥

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे ।
तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४ ॥

अर्थ–कईक द्विज ज्ञानकी निष्ठावाले अर्थात् आत्मज्ञानमें तत्पर होते है कईक तपकी निष्ठावाले होते है और कईक प्राजापत्य आदि तप स्वाध्याय इन्होंमें तत्पर रहते है और कईक कर्मकी निष्ठावाले है ॥ १३४ ॥

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः ।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥ १३५ ॥

अर्थ–जो द्विज ज्ञानमें प्रधान है उन्होंकेवास्ते यत्नसे पितरोंके अन्न देने चाहिये और देवताओंके अन्नको यथार्थ विधिसे इन सर्वोके अर्थ देवै ॥ १३५ ॥

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥ १३६ ॥

अर्थ–जिसका पिता वेदपाठी विद्वान् न हो और वह पुत्र वेदका पढाहुआ हो और जिसका पुत्र वेदपाठी विद्वान् नही हो और पिता वेदको जाननेंवाला हो इसकी विधि अगले श्लोकमें कहते है ॥ १३६ ॥

ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ।
मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

अर्थ–इन दोनोंमें वह बडा है कि जिसका पिता वेदपाठी विद्वान् है और वेदके यंत्रोंके पूजनकेवास्ते दूसरा अर्थात् आप वेदका पढाहुआ हो वह सत्कारके योग्य है ॥ १३७ ॥

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।
नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद्द्विजम् ॥ १३८ ॥

अर्थ–श्राद्धमें मित्रको नहीं जिमांवे किंतु अन्य धन देके इसकै मित्रता वढावे जिसको वैरी नहीं जाने और मित्र नहीं जानें तिस द्विजको श्राद्धमे जिमांवे१३८

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च ।

तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च ॥ १३९ ॥

अर्थ–जिसकै मित्रप्रधान श्राद्ध होता है अर्थात् श्राद्धोंके हविष् भोजनको मित्रही करते है तिसको अन्य लोकमें श्राद्धोंका फल नहीं होता और यज्ञका फलभी नहीं होता ॥ १३९ ॥

यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः।
स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥

अर्थ–जो मनुष्य अज्ञानसे श्राद्धकरके मित्रभावको करता है वह अधम द्विज श्राद्धमें मित्रभाव करनेसे स्वर्गलोकसे पतित हो जाता है अर्थात् स्वर्गलोकमें नहीं प्राप्त हो सक्ता है ॥ १४० ॥

संभोजनी साभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि ॥ १४१ ॥

अर्थ–श्राद्धमें मित्रोंको जिमांना यह दानक्रिया जो है कैसी यह है कि इसमें संगही भोजन किया जाता है सो यह पैशाची कही है इसमें पिशाच धर्म है सो यह क्रिया इसी लोकमें है परलोकमें फल नहीं देती जैसे अंधी गौ एकही मकानमें रहती है दूसरे मकानमें नहीं जा सकती ॥ १४१ ॥

यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम्।
तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम् ॥ १४२ ॥

अर्थ–जैसे ऊषर भूमिमें बीजको बोके कृषी पुरुष फलको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि ऊषर भूमिमें बीज नहीं जामता है इसी तरह विना पढेहुए ब्राह्मणके वास्ते दान देके फलको नहीं प्राप्त होता है ॥ १४२ ॥

दातॄन्प्रतिग्रहीतॄंश्च कुरुते फलभागिनः।
विदुषे दक्षिणां दत्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ॥ १४३ ॥

अर्थ–वेदको जाननेंवाले विद्वानके अर्थ विधिपूर्वक दियाहुआ दान इस लोकमें और परलोकमें दाताको और ग्रहीताको अर्थात् देनेंलेनेंवालेको फलकी प्राप्ति करता है ॥ १४३ ॥

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम्।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥ १४४ ॥

अर्थ-वेदका पढाहुआविद्वान् ब्राह्मण नहीं मिले तो गुणवान् मित्रको भोजन कराना श्रेष्ठ है परंतु विद्वान् शत्रुका जिमाना श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि शत्रुकरके भोजन कियाहुआ श्राद्धका अन्न इस लोकमें और परलोकमें निष्फल है ॥ १४४ ॥

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् ।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम् ॥ १४५ ॥

अर्थ-बहुतसी ऋचा मंत्र ब्राह्मण शाखाके पारको जाननेंवाले वेदके पारको जाननेंवाले ब्राह्मणको तथा अध्वर्युको और संपूर्ण यजुर्वेदको पढेहुएको यतनकरके श्राद्धमें भोजन करवावै ॥ १४५ ॥

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः ।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी ॥ १४६ ॥

अर्थ-पहले कहेहुए इन वेदपाठी ब्राह्मणोंमें कोईसा ब्राह्मण पूजित होके श्राद्धका भोजन करता है तब तिसके पितरोंकी संपूर्ण साप्तपौरुषी तृप्ति होती है अर्थात् सात पीढीतक पुरुषोंकी तृप्ति होती है ॥ १४६ ॥

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः ।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः ॥ १४७ ॥

अर्थ-हव्य और कव्यके दान देनेंमें यह मुख्य कल्प, मुख्य व्यवहार कहा है और इसतरंह नहीं मिलें तो आगे कहा जाता है यह अनुकल्प करना योग्य है श्रेष्ठ पुरुषोंसे सदा अनुष्ठित है ॥ १४७ ॥

मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम् ।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत् ॥ १४८ ॥

अर्थ-पूर्वोक्त श्रोत्रिय आदि न मिलें तो श्राद्धमें नाना मातुल, मामा भानजा श्वसुर दौहिता जमाई बन्धु अर्थात् मौसीका बेटा ऋत्विक्, याज्य अर्थात् यज्ञ करानेंवाला इन दशोंको भोजन करावे ॥ १४८ ॥

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः ॥ १४९ ॥

अर्थ-धर्मको जाननेंवाला पुरुष दैवकर्म अर्थात् यज्ञादिकमें बिशेष करके ब्राह्मणकी परीक्षा नहीं करै और पितरकर्ममें तो यतनकरके विद्वान् अविद्वान् ब्राह्मणकी परीक्षा करै ॥ १४९ ॥

येस्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः ।
तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ॥ १५० ॥

अर्थ-जो चोर महापातकी नपुंसक तथा नास्तिकवृत्तिवाले होवैं तिन ब्राह्मणोंको हव्यकव्यका दान देना योग्य नहीं है ऐसा मनुजीनें कहा है यहां मनुजीका नाम अत्यंत निरादरके वास्ते कहा है ॥ १५० ॥

जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा ।
याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत् ॥ १५१ ॥

अर्थ-जटाधारण कियेहुए ब्रह्मचारी बिना पढाहुआ पुरुष, दुर्बल पुरुष तथा जुवारी और बहुतसे मनुष्योंकै पूजाकरानेवाले इन्होंको श्राद्धमें भोजन नहीं करवावै ॥ १५१ ॥

चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥ १५२ ॥

अर्थ-वैद्य पुजारी मांसको बेचनेंवाला वणिजकी आजीविका करनेंवाला, इन पुरुषोंको दैवकर्ममें तथा पितरकर्ममें वर्जदेवै ॥ १५२ ॥

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः ।
प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्द्धुषिस्तथा ॥ १५३ ॥

अर्थ-सब ग्रामकी और राजाकी आज्ञा करनेंवाला भृत्यजन बुरे नखोंवाला काले दांतोंवाला गुरुसे विपरीत चलनेंवाला अग्निहवनको त्यागनेंवाला व्याजकी आजिविका करनेंवाला ॥ १५३ ॥

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः ।
ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च ॥ १५४ ॥

अर्थ-क्षयीरोगवाला बकरी आदिपशुवोंका पाली परिवेत्ता, पंचमहायज्ञोंके विधानसे रहित ब्राह्मणोंके साथ वैर करनेंवाला परिवित्ति, समुदायके धनको ग्रहण कर तिसकी आजीविका करनेंवाला ॥ १५४ ॥

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च ।
पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ १५५ ॥

अर्थ-नांचनेवाला अवकीर्णी अर्थात् जिसका ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया हो अपनें

वर्णकी स्त्रीको त्याग शूद्राके संग विवाह करनेंवाला पुनर्भूपुत्रका और जिसकी स्त्रीके संग अन्य पुरुष लग रहा हो ऐसे ये सब पुरुष श्राद्धमें वर्जित है १५५

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा ।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ ॥ १५६ ॥

अर्थ—तनखा लेके पढानेंवाला तथा तनखा देके पढनेंवाला शूद्रका शिष्य तथा गुरुको कठोर बोलनेंवाला कुंड, गोलक इन्होंकोभी वर्ज देवै ॥ १५६ ॥

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा ।
ब्राह्मैर्यौनैश्च संबन्धैः संयोगं पतितैर्गतः ॥ १५७ ॥

अर्थ—माता पिता गुरुइन्होंके परित्यागके कारणके विना इन्होंकी सेवाको त्याग देनेंवाला अध्ययन कन्यादान आदि संबंध इन्होंकरके पतित हुए पुरुषोंके संपर्कवाला ये सब त्याज्य हैं ॥ १५७ ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः ॥ ५८ ॥

अर्थ—किसीके घरको जलानेंवाला जहर देनेवाला कुंड अर्थात् भर्ता जीवता हो तिस स्त्रीकै जारसे पुत्र हो तिसके अन्नका भोजन करनेंवाला सोमलताका बेचनेंवाला समुद्रमें जहाज लेके अन्यदेशमें जानेंवाला राजाकी स्तुति करनेवाला झूठकाकार करनेंवाला अर्थात् वकील ये सव त्याज्य है ॥ १५८ ॥

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा ।
पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी ॥ १५९ ॥

अर्थ—पिताके संग शास्त्रार्थमें अथवा लोकव्यवहारमें जो विवाद करै और धूर्त, मदिरा पीनेंवाला कुष्ठ आदि महारोगोंवाला महापातक आदिकोंसे अभिशाप जिसको होगया हो वह और छल करनेंवाला रस वेचनेंवाला ये सब वर्जित हैं५९

धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रे दिधिषूपतिः ।
मित्रध्रुक् द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥

अर्थ—धनुष् बाण इन्होंको करनेवाला अग्रेदिधिषूका पति अर्थात् जो वडी वहैन अथवा कन्याका पहले विवाह न करा हो और छोटीको पहले विवाहै वह अग्रेदिधिषू कहाती है, तिसकापति मित्रसे द्रोह करनेंवाला जूवाकी वृत्ति करनेंवाला पुत्रसे पढनेंवाला ये सब त्याज्य है ॥ १६० ॥

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा ।
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥ १६१ ॥

अर्थ–मृगीरोगवाला गंडमाला रोगवाला, शित्रकुष्ठी चुगलीकरनेंवाला मदोन्मत्त अंधा वेदकी निंदा करनेंवाला इन सबोंको वर्ज देवै ॥ १६१ ॥

हस्तिगोश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति ।
पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥

अर्थ–हस्ती गौ अश्व ऊंठ इन्होंको हांकनेंवाला नक्षत्र सूचक ज्योतिषी, कबूतर आदिपक्षियोंको पालनेंवाला युद्धकेवास्ते शस्त्रविद्याको पढानेंवाला ये सब त्याज्य है ॥ १६२ ॥

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः ।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

अर्थ–स्रोतोंका भेद अर्थात् नहरचलानेंवाला तिसीको बंध करनेंमें रहनेंवाला वास्तुविद्यासे आजीवनकरनेंवाला दूत मूल्य लेके वृक्ष लगानेंवाला ये सब त्याज्य है॥

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च ।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥

अर्थ–क्रीडाकेवास्ते कुत्ताको पालनेंवाला बाजपक्षीको बेचनेंखरीदनेंकी आजीविकावाला कन्याको दोष लगानेंवाला शूद्रकी वृत्ति करनेंवाला गणोंकी यज्ञ करानेंवाला ये सब श्राद्धमें त्याज्य है ॥ १६४ ॥

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा ।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च ॥ १६५ ॥

अर्थ–आचारसे हीन अर्थात् गुरुआदिकोंके सत्कारसे रहित, नपुंसक, नित्य मांगनेवाला खेतीकी आजीविका करनेंवाला श्लीपद मोटा पाँव रोगवाला श्रेष्ठ पुरुषोंसे निंदित ये सब त्याज्य है ॥ १६५ ॥

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा ।
प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ १६६ ॥

अर्थ–मेंढा भैंस इन्होकी आजीविका करनेंवाला दूसरें बिवाही हुई स्त्रीका पति धन लेके प्रेतको लेजानेंवाला ये सब श्राद्धमें वर्जित है ॥ १६६ ॥

एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान् ।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत् ॥ १६७ ॥

अर्थ-ये जो पहले कहेहुए निंदित आचारवाले और पंक्तिसे बाह्य ऐसे अधम द्विज कहे है इन्होंको विद्वान् द्विज देवकार्य तथा पितरकार्यमें वर्ज देवै ॥ १६७ ॥

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ।
तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते ॥ १६८ ॥

अर्थ-विना पढाहुआ ब्राह्मण घासकी अग्निकी तरह है इसवास्ते तिसमें हविष् दान नहीं देना जैसे राखमें हवन करना योग्य नहीं है तैसेंही तिसको हव्यकव्य दान योग्य नहीं है ॥ १६८ ॥

अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः ।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १६९ ॥

अर्थ-दैवकर्ममें तथा पितरकर्ममें पंक्तिसे बाह्य द्विजको दान देनेंके बाद दाताको जो फल होता है तिस संपूर्णको अब कहैंगे ॥ १६९ ॥

अव्रतैर्यद्द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा ।
अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ १७० ॥

अर्थ-वेदग्रहणकेवास्ते पूर्वोक्त व्रतसे रहित द्विजोंकरके और परिवेत्तासंज्ञक द्विजोंकरके तथा पंक्तिसे बाह्य अन्य द्विजोंकरके जो श्राद्धादिकोमें भोजन किया जाता है तिसको राक्षस भोजन करते हैं ॥ १७० ॥

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

अर्थ-जो बडा भाईका विवाह हुएविना और अग्निहोत्रविधि हुएविना छोटा भाई विवाह करै और अग्निहोत्र करे वह परिवेत्ता कहाता है और वह छोटा भाई परिवित्ति कहाता है ॥ १७१ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥

अर्थ-परिवेत्ता परिवित्ति इन्होंके संग विवाह करानेंवाली कन्या तिस कन्याका पिता और आचार्य ये पांचो नरकमें जाते है ॥ १७२ ॥

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः ॥ १७३ ॥

अर्थ–मरेहुए भाईकी भार्यामें पूर्वोक्त धर्मकरके नियोगभी किया हो परंतु जो-तिसमें ऋतुधर्मको त्याग कामनापूर्वक रमण करता है वह दिधिषूपति कहाता है १७३

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥ १७४ ॥

अर्थ–परस्त्रीसे उत्पन्न हुए दो पुत्र कुंड और गोलक नामवाले होते हैं सो पति जीवता हो तब अन्य पुरुषसे हो वह कुंड कहाता है और पति मरजावे तब जारसे उत्पन्न हो वह गोलक कहाता है ॥ १७४ ॥

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च ।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५ ॥

अर्थ–दूसरेके क्षेत्रमें उत्पन्न हुए वे दोनों कुंड और गोलकसंज्ञक पुरुष, देनें-वालोंके हव्य तथा कव्यको नाशको प्राप्त कर देते है और इसलोकमें कीर्त्तिका नाश परलोकमें स्वर्गका नाशकर देते है ॥ १७५ ॥

आपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान् भुञ्जानाननुपश्यति ।
तावतां न फलं प्रेत्य दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ १७६ ॥

अर्थ–पंक्तिसे बाह्य पुरुष जितनें पाङ्क्तव अर्थात् पंक्तिकें योग्य पुरुषोंको भोजन करतेहुयोंको देख लेता है उन ब्राह्मणोंके जिमानेंके फलको वह मूर्ख दाता नहीं प्राप्त होता है ॥ १७६ ॥

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु ।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥

अर्थ–अंधा पुरुष श्राद्धको देखके अर्थात् श्राद्धके भोजनके समीप होके दाता-के श्रोत्रिय आदि नव्वै ९० ब्राह्मणोंके फलको नाश देता है काणा पुरुष श्राद्ध-में भोजनकरके साठ ६० ब्राह्मणोंके फलको नाशता है श्वित्रकुष्ठी सौ ब्राह्मणोंके फलको क्षयीरोगी तथा गलितकुष्ठी पुरुष हजार ब्राह्मणोंके फलको नाश देता है १७७

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः ।
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

अर्थ-शूद्रके यज्ञकरानेंवाला ऋत्विक् आचार्य श्राद्धके जितनें ब्राह्मणोंको शरीरसे छूता है उनको दान दियेकी पूर्तिका फल दाताको नहीं प्राप्त होता है अर्थात् शूद्रके याजक ब्राह्मणकाभी निषेध है ॥ १७८ ॥

वेदविद्यापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम् ।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥

अर्थ-वेदको जाननेंवालाभी ब्राह्मण लोभकरके शूद्रका प्रतिग्रह दान लेता है वह शीघ्रही नष्ट हो जाता है जैसे मिट्टीका कच्चा पात्र जलमें नष्टहो जाता है तैसे ॥१७९॥

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ ॥ १८० ॥

अर्थ-सोमलताको वेचनेंवाले ब्राह्मणके अर्थ दियाहुआ अन्न दाताको जन्मांतरमें विष्ठा प्राप्त होता है वैद्यके अर्थ दियाहुआ मज्जारुधिर प्राप्त होता है और देवताकी पूजाकरके आजीविकाकरनेंवालेको दियाहुआ नष्ट होजाता है व्याज लेनेंवालेके अर्थ दियाहुआ श्राद्धका अन्न निष्फल है ॥ १८० ॥

यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत् ।
भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

अर्थ-वणिजकी वृत्तिकरनेंवालेके अर्थ दिया अन्नका फल इस लोकमें और परलोकमें नहीं है और पुनर्भूपुत्र द्विजके अर्थ दियाहुआभी तैसेंही है जैसे राखमें होम करना तैसे है ॥ १८१ ॥

इतरेषु त्वपाङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु ।
मेदोसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२ ॥

अर्थ-पंक्तिसेरहित अन्य असाधु पुरुषोंके अर्थ दियाहुआ अन्न दाताको जन्मांतरमें मेद रुधिर मांस मज्जा हड्डी ये होके मिलते है अर्थात् मांस रुधिर आदिकोंको भोजन करनेंवाली जातियोंमें जन्मता है ॥ १८२ ॥

अपाङ्क्त्योपहता पंक्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः ।
तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान्पंक्तिपावनान् ॥ १८३ ॥

अर्थ-पंक्तिबाह्य पुरुषोंकरके हतपंक्ति जिन उत्तम द्विजोंकरके पवित्र होजाती है पंक्तिको पवित्र करनेंवाले उत्तम तिन सब ब्राह्मणोंको सुनो ॥ १८३ ॥

अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः ॥ १८४ ॥

अर्थ–जो चारों वेदोंमें निपुण है और छहों वेदके अंगोंमें निपुण है श्रोत्रिय अर्थात् जिनके परंपरासे वेदाध्ययन होता है ऐसे कुलसें उत्पन्न होनेंवाले ये सब द्विज पंक्तिको पवित्र करनेंवाले कहे है ॥ १८४ ॥

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।
ब्रह्मदेयात्मसंतानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥

अर्थ–त्रिणाचिकेत यजुर्वेदके भागको कहते है तिसके व्रतको करनेंवाला पुरुषभी त्रिणाचिकेत कहाता है और अग्निहोत्री त्रिसुपर्ण अर्थात् बहुतसी ऋचाओंके व्रतको करनेंवाला और वेदको छहों अंगोंके जाननेंवाला ब्राह्मयविवाहितास्त्रीसे उत्पन्न हुआ पुत्र और आरण्यक सामवेदको गानेंवाला ये सब द्विज पंक्तिको पवित्र करनेंवाले है ॥ १८५ ॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पंक्तिपावनः ॥ १८६ ॥

अर्थ–वेदके अर्थको जाननेवाला और उसीको कहनेवाला ब्रह्मचारी हजार गौदान करनेंवाला सौ १०० वर्षकी आयुवाला ये ब्राह्मण पंक्तिको पवित्र करनेंवाले कहे है ॥ १८६ ॥

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।
निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥ १८७ ॥

अर्थ–श्राद्धके पहले दिन अथवा श्राद्धकेही दिन सम्यक् प्रकारसे पहले कहेहुए ब्राह्मणोंको तीनोंको अथवा एकको निमंत्रण देवै ॥ १८७ ॥

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।
न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ॥ १८८ ॥

अर्थ–श्राद्धमें निमंत्रण कियाहुआ ब्राह्मण निमंत्रणसे लेके श्राद्धके दिन राततक मैथुन आदि न करै सदा नियमवाला रहै जप आदिके विना वेदाध्ययन न करे इसीतरह श्राद्धकर्ताको नियम करनें चाहिये ॥ १८८ ॥

निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान् ।

वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥

अर्थ–निमंत्रित कियेहुए तिन ब्राह्मणोंकेपास पितर रहते है और प्राण वायुकी तरंह तिन ब्राह्मणोंके गमन करते हुएके अनुगमन करते है और तिस प्रकारसे बैठे हुयोंके समीप स्थित रहते है इसवास्ते तिन्होंको नियमसे रहना चाहिये १८९

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः ।
कथंचिदप्यतिक्रामन्पापः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥

अर्थ–यथार्थ प्रकारसे शास्त्रके अनुसार श्राद्धमें तथा यज्ञादिकमें निमंत्रण कियाहुआ ब्राह्मण किसी प्रकारसेभी जो यदि भोजन नहीं करता है तो तिस पापकरके अन्य जन्ममें सूकर होता है ॥ १९० ॥

आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते ।
दातुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

अर्थ–श्राद्धमें निमंत्रित कियाहुआ जो ब्राह्मण शूद्रास्त्रीके संग रमण करता है वह दाताके सब पापको प्राप्त होता है यहां पापमात्रकी विवक्षा कही है कछु दाताका प्रायश्चित्त नहीं है ॥ १९१ ॥

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥

अर्थ–राग द्वेष आदिसे रहित सौचमें तत्पर निरंतर स्त्रीसंयोगसे रहित हथियारोंका त्याग करनेंवाले दया आदि अष्टगुणोंसे युक्त महाभागवाले ऐसे दाता भोक्ता होनें चाहिये क्योंकि पितर अनादि देवता है ॥ १९२ ॥

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः ।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥

अर्थ–इन संपूर्ण पितरोंकी जिस्से संपूर्ण प्रकारसे उत्पत्ति है और जो वे पितर है और जिन नियम तथा कर्मोंकरके पूजित होते है तिन सबोंको सुनो१९३

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः ।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥

अर्थ–ब्रह्माके पुत्र स्वायंभुव मनुके जो मरीची आदि पुत्र कहे है तिन सब ऋषियोंके सोम आदि पितृगण पुत्र कहाते है ॥ १९४ ॥

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः ।
अग्निष्वात्ताश्च देवाना मारीचा लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥

अर्थ–सोमसद नामवाले विराटके पुत्र है वे साध्योंके पितर कहाते है मरीचीके पुत्र अग्निष्वात्त नामवाले लोकमें विख्यात है वे देवताओंके पितर कहाते हैं ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयक्षाणा गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।
सुपर्णकिन्नराणा च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥

अर्थ–दैत्य, दानव यक्ष गंधर्व उरग राक्षस सुपर्ण किन्नर इन्होंके पितर बर्हिषद नामवाले अत्रिके पुत्र कहे है ॥ १९६ ॥

सोमपानाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः ।
वैश्यानामाज्यपानाम शूद्राणां तु सुकालिनः ॥ १९७ ॥

अर्थ–ब्राह्मणोंके पितर सोमपा नामवाले कहे है क्षत्रियोंके हविर्भुज नामवाले है वैश्योंके आज्यपा नामवाले और शूद्रोंके सुकालिन नामवाले पितर कहे है ९७

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरःसुताः ।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः ॥ १९८ ॥

अर्थ–सोमपा नामवाले पितर भृगुजीके पुत्र है हविर्भुज पितर अंगिरसके पुत्र है आज्यपा नामवाले पितर पुलस्त्यके पुत्र है सुकालिन नामक पितर वसिष्ठके पुत्र है ॥ १९८ ॥

अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ १९९ ॥

अर्थ–अग्निदग्ध अनग्निदग्ध काव्य बर्हिषद अग्निष्वात्त सौम्य इन नामोंवाले सब ब्राह्मणोंके पितर कहे है ॥ १९९ ॥

य एते तु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्तिताः ।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम् ॥ २०० ॥

अर्थ–ये पूर्वोक्त इतनें पितरोंके गण मुख्य कहे है और तिन पितरोंकेभी पुत्र पौत्र इस जगत्में अनंत है अर्थात् मार्कंडेय आदि पुराणोंमें अन्यभी पितर कहे हैं२०

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः ।

देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः ॥ ॥ २०१ ॥

अर्थ–ऋषियोंसे पितर उत्पन्न हुए और पितरोंसे देव मनुष्य ये उत्पन्न हुए और देवताओंसे अनुक्रमसे स्थावर जंगम सब प्रकारका जगत् उत्पन्न हुआ, इसवास्ते पिता आदिके श्राद्धमें पूजित हुए सोमपा आदि पितर श्राद्धमें फल देनेंवाले कहे है ॥ २०१ ॥

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः ।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥ २०२ ॥

अर्थ–इन पितरोंकेवास्ते चांदीके पात्रोंकरके अथवा चांदीके पात्रसे संयुक्त अन्य पात्रोंकरके श्रद्धासे दिया हुआ पानीभी अक्षय गुना हो जाता है ॥ २०२॥

देवकार्याद्द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ २०३ ॥

अर्थ–द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन्होंके देवो देशकार्यसे पितर कार्य विशेष कहा है क्योंकि देवकार्य पितर कार्यकी पहले पूर्ति करनेंवाला सुना है २०३

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैवं नियोजयेत् ।
रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥

अर्थ–तिन पितरोंकी रक्षाकेवास्ते पहले दैवकर्म अर्थात् रक्षाभूत विश्वेदेव संबंधी ब्राह्मणको निमंत्रित करै क्योंकि रक्षासे वर्जित श्राद्धको राक्षस नाश कर देते है ॥ २०४ ॥

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत् ।
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥

अर्थ–श्राद्धको दैवाद्यंत करे अर्थात् विश्वेदेवा निमित्त पूर्वक पहले ब्राह्मणोंको निमंत्रित करै और अंतमें विश्वेदेवोंका विसर्जन पहलेही करै और जो इस प्रकार नहीं करता है अर्थात् पहले पितरोंहीका कर्म करता है वह अपनें कुलोंसहित शीघ्रही नष्ट हो जाता है ॥ २०५ ॥

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत् ।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥

अर्थ पवित्र और एकांत देशको गोबरसे लीपै दक्षिणकी तर्फ यतन करके सं-

पादन करे अर्थात् ऐसा मौका देखके लीपै जहां श्राद्धकर्ता दक्षिणकी तर्फ मुख करै ॥ २०६ ॥

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥

अर्थ—अवकाशसहित चोक्ष अर्थात् स्वभावसेही पवित्र ऐसे वन आदि देशोंमें अथवा नदी आदिकोंके तीरपर तथा एकांत जगहमें दियेहुए दानकरके पितर सदा तुष्ट होते है ॥ २०७ ॥

आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक्।
उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत् ॥ २०८ ॥

अर्थ—उस देशमें कुशासहित बिछेहुए सुंदर आसनोंपर अलग अलग आचमन आदिकरके शुद्धहुए ब्राह्मणोंको बैठावे ॥ २०८ ॥

उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान्।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद्देवपूर्वकम् ॥ २०९ ॥

अर्थ—पूर्व निमंत्रित कियेहुए तिन अनिंदित ब्राह्मणोंको आसनोंमे बैठाके कुंकुम गंध पुष्प आदि सुगंधित द्रव्योंसे देवपूर्वक पूजन करै अर्थात् पहले विश्वेदेवोंके स्थानके ब्राह्मणोंका पूजन करै ॥ २०९ ॥

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि।
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह ॥ २१० ॥

अर्थ—उन ब्राह्मणोंका अर्घ्योदकको पवित्रा तिलसहित कोलाके पीछे तिन्होंकी आज्ञा ले आगे कहेहुए होमको करै ॥ २१० ॥

अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः।
हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्संतर्पयेत्पितॄन् ॥ २११ ॥

अर्थ—पहले अग्नि सोम यम इन्होंके अर्थ यथाविधिसे घृतकरके होम करै इनको पर्युक्षणपूर्वक तृप्तकर पीछे यथाविधिसे पितरोंको तृप्त करै ॥ २११ ॥

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते ॥ २१२ ॥

अर्थ—अग्निका अभाव होवे तो तहां इन तीन आहुतियोंको ब्राह्मणके हाथमें-

ही देवै क्योंकि जो अग्नि है सोही ब्राह्मण है ऐसे वेदके जाननेवाले ब्राह्मणोंनें कहा है ॥ २१२ ॥

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्ताञ्छ्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ॥ २१३ ॥

अर्थ–क्रोधसे रहित सुंदर प्रसन्नमुखवाले विद्यासे वृद्ध मनुष्योंके उद्योगमें युक्त ऐसे ब्राह्मणोंको मनुआदिक श्राद्धको पवित्र करनेवाले देव कहते है ॥ २१३ ॥

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम् ।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥

अर्थ–अपसव्यसे अग्नौकरणादि होमकरके और अनुष्ठान क्रमकोकरके पीछे अपसव्य हस्त अर्थात् दहिनें हाथसे पृथ्वीमे जल डालै ॥ २१४ ॥

त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः ।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥

अर्थ–इसवास्ते सावधान हो दक्षिणकी तर्फ मुखकर तिस होमसे शेष रहे द्रव्यसे और अन्नसे विधिपूर्वक कुशाओंपर तीन पिंड देवै ॥ २१५ ॥

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम् ।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥

अर्थ–विधिपूर्वक सावधान होके तिन पिंडोंको देके पीछे तिन कुशाओंकी मूलपे हस्तको निर्लेप करै अर्थात् प्रपितामह आदि लेप भागियोंकेवास्ते हाथसे बाकी रहे अन्नको छोंडै ॥ २१६ ॥

आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून् ।
षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितॄनेव च मन्त्रवित् ॥ २१७ ॥

अर्थ–उत्तराभिमुख हो आचमन कर शनैशनै प्राणायामकरके वसंतायनमस्तुभ्यं इत्यादिक मंत्रोंकरके छह ऋतुओंके अर्थ नमस्कार करै और मंत्रको जाननेंवाला पुरुष पितरोंके अर्थ नमस्कार करै ॥ २१७ ॥

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः ।
अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः ॥ २१८ ॥

अर्थ–पिंडदान संकलपसे बाकी रहे जलको शनैशनै पिडोंके समीपपें छोड देवै

पीछे एकाग्र चित्तकरके जिस प्रकारसे दिये हों उसी प्रकारसे तिन पिंडोंको उठाके सूंघकर विसर्जन करदेवै ॥ २१८ ॥

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः।
तेनैव विप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत् ॥ २१९ ॥

अर्थ–विधिके साथ यथाक्रमसे तिन पिंडोंमेंसे थोडा थोडा भाग ले लेवे पीछे विधिपूर्वक तिसी क्रमकरके अर्थात् जिस स्थानके पिंडका भाग हो उसी स्थानके ब्राह्मणको भोजन करनेंसे पहलेही खवावे ॥ २१९ ॥

म्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत् ॥ २२० ॥

अर्थ–जिसका पिता जीवता हो उसको मरेहुए पितामह आदि तीनोंकेवास्ते पिंड देनें चाहिये अथवा तिस जीवतेहुए पिताको श्राद्धमें पिताके स्थानके ब्राह्मणकी जगह जिमा देवै ॥ २२० ॥

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः।
पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम् ॥ २२१ ॥

अर्थ–जिसका पिता मरगया हो और पितामह जीवता हो वह अपनें पिताका नाम लेके प्रपितामहको कीर्तन करै अर्थात् पिता प्रपिता मह इन्होंका श्राद्ध करै और गोविंदराजका यह मत है कि पिताके अर्थ पिंड देके पितामहसेपर ले दोनोंके अर्थ पिंड देवै ॥ २२१ ॥

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत् ॥ २२२ ॥

अर्थ–अथवा उस श्राद्धमें पितामहको भोजन करवा देवै ऐसे मनुजीनें कहा है अथवा तिस पितामहकी आज्ञासे आपही इच्छापूर्वक पितामहको जिमावे या प्रपितामह आदि तीनोंका श्राद्ध करै ॥ २२२ ॥

तेषां दत्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्।
तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ २२३ ॥

अर्थ–तिन ब्राह्मणोंके हाथमें पवित्रासहित तिल जलको देके पिता आदिकोंके नामके साथ स्वधाअस्तु ऐसे कहता हुआ तिस पूर्वोक्त पिंडका अल्प भागको देवे ॥ २२३ ॥

पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम् ।
विप्रान्तिके पितॄन्ध्यायन् शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥

अर्थ-सिद्धहुए अन्नोंके पात्रको अग्र्य अपने हाथोंमें लेके रसोईके स्थानसे ब्राह्मणोंके समीप लाके पितरोंका स्मरण करता हुआ शनैशनै स्थापित कर देवै ॥ २२४ ॥

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते ।
तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

अर्थ-दोनो हाथोंसे मुक्त अर्थात् जो एकही हाथसे अन्नको लाके ब्राह्मणोंकै परोसते है तिसको शीघ्रही दुष्टबुद्धिवाले असुर नाश करदेते है इसवास्ते एक हाथसे नहीं परोसै ॥ २२५ ॥

गुणांश्च सूपशाकाद्यान्पयो दधि घृतं मधु ।
विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः ॥ २२६ ॥

अर्थ-चटनी दाल शाक आदि सुंदर व्यंजन दूध दही घृत मीठा इन्होंको सावधान यतनकरके प्रथम पात्रसहित पृथ्वीमे रक्खै ॥ २२६ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च ।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥

अर्थ-लड्डु आदि भक्ष्यपदार्थ अनेक प्रकारके खीर आदि भोज्यपदार्थ मूल फल सुंदर मांस सुगंधित पान अर्थात् पीनेंके पदार्थ इन सबोंको पृथ्वीमेंही स्थापित करै ॥ २२७ ॥

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः ।
परिवेषयेत प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

अर्थ-इस पूर्वोक्त सब अन्नको ब्राह्मणोंके समीप लाके प्रयत्नसे सावधान हो, यह मीठा है यह खट्टा है ऐसे माधुर्यादि गुणोंको कथन करता हुआ परोसै ॥२२८॥

नास्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत् ।
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत् ॥ २२९ ॥

अर्थ-श्राद्धके भोजनसमय रोना क्रोधकरना झूठा वचन इन्होंको कदाचित्भी न कहै और पैरसे अन्नको नहीं छूवै और अन्नको उठाउठाके पात्रमें नहीं पटकै॥२२९॥

अस्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीननृतं शुनः ।
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥

अर्थ–तिस भोजनके समय आंसूपड जावें तो वह अन्न प्रेतोंको प्राप्त होता है और कोप करनेंसे वह अन्न शत्रुओंको प्राप्त होता है और झूठ बोलनेंसे वह अन्न कुत्तोंको प्राप्त होता है अन्नके पैर लगादेवे तो तिसको राक्षस खाते हैं और अन्नको पात्रपात्रमें पटकनेंसे वह अन्न पापी पुरुषोंको मिलता है इसवास्ते ऐसा न करे ॥ २३० ॥

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः ।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितॄणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥

अर्थ–जो जो अन्न तथा व्यंजन आदि ब्राह्मणोंको अच्छा लगे वही अन्न मत्सर अर्थात् कुटिलतासे रहित होके परोसै और ब्रह्मपरमात्मासंबंधी कथा करै यह पितरोंको वांछित है ॥ २३१ ॥

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खलानि च ॥ २३२ ॥

अर्थ–स्वाध्याय अर्थात् वेद मनु आदि धर्मशास्त्र आख्यान महाभारत आदि इतिहास ब्रह्मपुराण आदि पुराण, श्रीसूक्त शिवसंकल्प इत्यादिकोंको श्राद्धमें ब्राह्मणोंको सुनावे ॥ २३२ ॥

हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः ।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान्गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

अर्थ–आप प्रसन्नहोके प्रियवचन आदिकोंकरके ब्राह्मणोंको प्रसन्न करै और भोजनको शनैःशनैः परोसै और यह मोदक स्वादु है खीर मीठी है इत्यादिक गुणोंकरके फिर ब्राह्मणोंको प्रेरणा करै ॥ २३३ ॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत् ।
कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

अर्थ–व्रतमें स्थित अर्थात् ब्रह्मचर्यमेंभी स्थित हुए कन्याकेपुत्रको यतनकरके श्राद्धमें भोजन करवावै और कंवल आदि आसन विछावे और श्राद्धकी भूमिमें तिलोंको विथरा देवै ॥ २३४ ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥ २३५ ॥

अर्थ–नेपाल देशका कंवल दोहिता तिल ये तीनों श्राद्धमें पवित्र है और शौच शीलता रखनी क्रोध न करना शीघ्रता न करनी ये तीनों सराहनेंके योग्य है ॥ २३५ ॥

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः ।
न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान् ॥ २३६ ॥

अर्थ–संपूर्ण अन्न जो गरम जीमनेंके लायक है तिसको गरम गरमको वे ब्राह्मण मौन धारण कियेहुए भोजन करै और यजमानसे पूछेहुए वे ब्राह्मण भोजनके गुणोंको वर्णन नहीं करैं ॥ २३६ ॥

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः ।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः ॥ २३७ ॥

अर्थ–जतवक अन्न गरम रहै और जुवान बंद कियेहुए ब्राह्मणभोजन करै और जबतक भोजनके गुणोंको वर्णन नहीं करै तबतक पितर भोजन करते है ३७

यद्वेष्टितशिरा भुंक्ते यद्भुंक्ते दक्षिणामुखः ।
सोपानत्कश्च यद्भुंक्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते ॥ २३८ ॥

अर्थ–जो वस्त्रादिकसे शिरको बांधेहुए भोजन करते है और दक्षिणकी तर्फ मुखकरके जो भक्षण करते है और जूतीजोडा पहिनेंहुए जो भोजन करते है तिस सब अन्नको राक्षस भोजन करते है ॥ २३८ ॥

चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च ।
रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान् ॥ २३९ ॥

अर्थ–श्राद्धमें भोजन करतेहुए ब्राह्मणोंको चांडाल सुव मुरगा कुत्ता रजस्वला स्त्री हिजडा ये नहीं देखै ॥ २३९ ॥

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते ।
दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम् ॥ २४० ॥

अर्थ–अग्निहोत्र आदि होम गौ सुवर्ण आदि दान ब्राह्मणभोजन दैवकर्म पितरकर्म इन कर्मोंमें जो इन पूर्वोक्त प्राणियोंकरके देखा जाता है वह सब निष्फलहै अर्थात् उसका फल नहीं ॥ २४० ॥

घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः ।
श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः ॥ २४१ ॥

अर्थ–श्राद्धके अन्नादिकके सूंघनेंसे सुव फलको नष्टकरदेता है और मुरगा पक्षपात अर्थात् पांखोंके फटकारेसे और कुत्ता अन्नपर दृष्टि डालनेंसे और शूद्र अन्नका स्पर्श करनेंसे श्राद्धको निष्फल करदेते है ॥ २४१ ॥

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत् ।
हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः ॥ २४२ ॥

अर्थ–जो श्राद्ध करनेवालाका दास आदिक लंगडा हो अथवा काना होवा हीनअंगवाला तथा अधिक अंगवाला हों उसकोभी श्राद्धसे बाहिर निकाल दे अर्थात् भोजनको नहीं देखै ॥ २४२ ॥

ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम् ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत् ॥ २४३ ॥

अर्थ–श्राद्धके भोजनके समय आयेहुए अतिथिरूप भिक्षुक ब्राह्मणको अथवा भोजन करनेंकेवास्ते आयेहुए अन्य ब्राह्मणको श्राद्धके पात्र ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेके शक्तिके अनुसार भोजन करवावै ॥ २४३ ॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा ।
समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि ॥ २४४ ॥

अर्थ–सब प्रकारके अन्नादिकोंको व्यंजनादिकों सहित एक जगह मिला पानीसे छिडकके भोजन कियेहुए ब्राह्मणोंके आगे कुशाके ऊपर पृथ्वीमें अलग अलग डाले ॥ २४४ ॥

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम् ।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥

अर्थ–कुशाओंके ऊपर जो विकिरभोजन दिया जाता है यह उच्छिष्ट अन्न विनासंस्कार कियेहुए बालकोंका और कुलकी स्त्रियोंको विनादोष त्यागनेवालोंका भाग होता है ॥ २४५ ॥

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च ।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

अर्थ-जो श्राद्धकी भूमिमें उच्छिष्ट अन्न गिरता है वह कुटिल न हो शठ न हो ऐसे दासोंका भाग है ऐसे मनुजीने कहा है ॥ २४६ ॥

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु ।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥

अर्थ-जो द्विजाति थोडेही दिनोंका मराहुआ हो सपिंडीश्राद्ध नहीं हुआ हो तिसके श्राद्धमें विश्वेदेवोंका ब्राह्मणसे रहित एकही ब्राह्मणको जिमावे और एक पिंड देवै अर्थात् एकोद्दिष्टश्राद्ध करे ॥ २४७ ॥

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः ।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

अर्थ-जिसका एकोद्दिष्टश्राद्ध करना कहा है उसकी सपिंडीकरण क्रिया हो चुके तब पुत्रोंको इसी पूर्वोक्त पार्वणश्राद्धविधिसे पिंडदान करना चाहिये॥२४८॥

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति ।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥ २४९ ॥

अर्थ-जो श्राद्धमें भोजनकर उच्छिष्ट भोजनको शूद्रकेवास्ते देता है वह मूढ-जन कालसूत्र नामवाले नरकमें अधोमुख होके परता है ॥ २४९ ॥

श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति ।
तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ २५० ॥

अर्थ-जो श्राद्धमें भोजनकरके उसीदिन स्त्रीकेसंग भोग करता है श्राद्धकर्ता-के पितर तिस स्त्रीके विष्टामें महीनातक वास करते है यह निंदाका वचन है इस-वास्ते ऐसा न करे ॥ २५० ॥

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः ।
आचान्तांश्चानुजानीयादभितो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥

अर्थ-भोजन कियेहुए ब्राह्मणोंको तृप्त हुए जानके स्वदित ऐसा कहे अर्थात् भोजन होचुका ऐसे पूछके आचमन करचुके तब भो ऐसा संबोधकरके कहै कि हे महाराज आप आराम कीजिये ॥ २५१ ॥

स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम् ।
स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥

अर्थ–तिस्से अनंतर ब्राह्मण श्राद्धकर्ताके प्रति स्वधाअस्तु ऐसा कहैं क्योंकि संपूर्ण पितरकर्मोंमें स्वधाशब्द परम आशीर्वाद है ॥ २५२ ॥

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत् ।
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥

अर्थ–पीछे स्वधाशब्द कहनेंके अनंतर जो अन्न बाकी रहे तिसको तिनब्राह्मणोंकों निवेदन करे यह कहै कि यह अन्नशेष रहा है फिर उन ब्राह्मणोंकी आज्ञा पाके जैसा वे ब्राह्मण कहै वैसेही करै ॥ २५३ ॥

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम् ।
संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

अर्थ–पितरकर्ममें स्वदित अर्थात् भोजन हो चुका ऐसा वचन कहै और गोष्ठीश्राद्धमें सुश्रुत ऐसा कहे और वृद्धिश्राद्धमें संपन्न ऐसा कहै दैवकर्ममें रुचित ऐसा वचन कहैं ॥ २५४ ॥

अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः ।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु संपदः ॥ २५५ ॥

अर्थ–अपराह्णकाल कुशा गोवर आदिसे पृथ्वी शुद्ध करना तिल उदारता मुष्टि अर्थात् अन्नादिकका संस्कारविशेष पहले कहेहुए श्राद्धके योग्य ब्राह्मण ये सब श्राद्धकी संपद कही है ॥ २५५ ॥

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः ।
पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः ॥ २५६ ॥

अर्थ–कुशा मंत्र पूर्वाह्णकाल हविष्य अर्थात् मुनियोंके अन्न पूर्वोक्त गोवर आदिक पवित्रवस्तु ये सब हव्य अर्थात् देवकर्मकी संपत्ति है ॥ २५६ ॥

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम् ।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते ॥ २५७ ॥

अर्थ–सामक पसही आदि मुनियोंके अन्न सोमलता दुर्गंधसे रहित मांस सेधानमक ये सब स्वभावसेही हवि कहाते है ॥ २५७ ॥

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः ।
दक्षिणां दिशमाकांक्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन् ॥ २५८ ॥

अर्थ-तिन ब्राह्मणोंको विसर्जनकर एकाग्रचित्त हो मौन धारणकर पवित्र हो दक्षिणकी तर्फ मुखकर आकांक्षा करताहुआ पितरोंसे इन वरोंको मांगै २५८

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥ २५९ ॥

अर्थ-प्रार्थना हमारे कुलमे दातार पुरुष वढो अध्यापन अध्ययन आदि करके निरंतर रहो हमारी श्रद्धा चलायमान नहीं हो और दान तथा धनादिक हमारे वहुत हो ॥ २५९ ॥

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम् ।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत् ॥ २६० ॥

अर्थ-इसप्रकारसे पिंडदानकरके और प्रार्थनाकरके तिस्से अनंतर तिन पिंडोंको गौ ब्राह्मण बकरी इन्होंको खिला देवै अथवा अग्निमें तथा जलमें डालदेवै २६०

पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते ।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा ॥ २६१ ॥

अर्थ-कोईक आचार्य ब्राह्मण भोजनके पीछे पिंडदान करते है और कईक पक्षियोंको खिला देते है और कईक अग्निमें तथा जलमें डालदेते है ॥ २६१ ॥

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा ।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुतार्थिनी ॥ २६२ ॥

अर्थ-धर्मपत्नी अर्थात् सजातीय विवाहिता स्त्री पतिव्रतधर्ममें रहनेंवाली और पितरोंके पूजनमें तत्पर सम्यक् प्रकारसे पुत्रकी इच्छा करनेंवाली जो है वह मध्यमपिंड अर्थात् पितामहके पिंडको भक्षण करै ॥ २६२ ॥

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम् ।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्विकं धार्मिकं तथा ॥ २६३ ॥

अर्थ-तिस पिंडको भक्षण करनेंसे दीर्घ आयुवाला यशको धारण करनेंवाला बुद्धिसे युक्त धनवान् प्रजावान् सत्वगुणसे युक्त धर्मकरनेंवाला ऐसे पुत्रको जनती है ॥ २६३ ॥

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत् ।
ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्वा बान्धवानपि भोजयेत् ॥ २६४ ॥

अर्थ–हाथ धोकर आचमनकर पीछे नातोंको जातिवालोंको भोजन करवावै और नातोंको जातिवालोंका सत्कार करके फिर भाइयोंको भोजन करवावै ॥२६४॥

उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः ।
ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ २६५ ॥

अर्थ–जबतक ब्राह्मणोंका विसर्जन हो तबतक वह ब्राह्मणोंका उच्छिष्ट अन्न रहे पीछे बलि वैश्वदेव आदि कर्म करै यह धर्मकी व्यवस्था है ॥ २६५ ॥

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते ।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २६६ ॥

अर्थ–पितरोंके अर्थ विधिपूर्वक दियाहुआ जो हवि बहुतकालतक तृप्तिकेवास्ते रहता है और जो अनंत गुणा होता है तिस सबको कहेंगे ॥ २६६ ॥

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा ।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ २६७ ॥

अर्थ–तिल धान जव उडद मूल फल इन्होंकरके विधिसे देनेसे मनुष्योंके पितर एक महीनातक तृप्त रहते है ॥ २६७ ॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हारिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥ २६८ ॥

अर्थ–मछलीके मांससे दो महीनेंतक पितर तृप्त रहते है हिरनके मांससे तीन महीनेंतक मेंढाके मांससे चार महीनेंतक और द्विजातियोंको भक्षणकरनेके योग्य पक्षियोंके मांससे पांचमहीनोंतक पितर तृप्त रहते है ॥ २६८ ॥

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥ २६९ ॥

अर्थ–बकराके मांससे छह महीनोंतक पार्षत अर्थात् बिंदुओंवाले मृगके मांससे सात महीनोंतक और सुंदर नेत्रोंवाला एणसंज्ञक मृगके मांससे आठ महीनेंतक लाल हरिणके मांससे नौ महीनेंतक पितरोंकी तृप्ति रहती है ॥ २६९ ॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु ॥ २७० ॥

अर्थ–वराह सुवरके मांससे दश महीनोतक और शशाखरगोसकछुवा इन्होंके मांससे ग्यार हमहीनोंतक पितरोंकी तृप्ति रहती है ॥ २७० ॥

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ २७१ ॥

अर्थ–गौके दूधसे अथवा गौके दूधकी खीरकरके वर्षदिनतक तृप्त रहते है और वार्ध्रीणसके मांससे बारहवर्षतक पितरोंकी तृप्ति रहती जिस जानवरके दोनोंका न पानी पीतेहुए जलमें टिकै और सपेदवर्णवाला तथा वृद्ध हो वह वार्ध्रीणस कहा है ॥ २७१ ॥

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥ २७२ ॥

अर्थ–कालशाक महाशल्क मछियोंके भेद है गैंडा लाल बकरी इन्होंके मांस मधु मुनियोंके अन्न इन्होंको ब्राह्मणोंके भोजनकेवास्ते देवे तो पितरोंकी अनंतगुनी तृप्ति होती है ॥ २७२ ॥

यत्किंचिन्मधुनामिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम् ।
तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च ॥ २७३ ॥

अर्थ–वर्षाकालमें मघानक्षत्रसे युक्त त्रयोदशीके दिन जो कुछ अन्नादि मधु मिष्टान्न आदिसे युक्त पितरोंकेवास्ते देता है वह अक्षय गुना प्राप्त होता है॥२७३॥

अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम् ।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥ २७४ ॥

अर्थ–ऐसा हमारे कुलमें कोई होवे कि मघानक्षत्रसे युक्त त्रयोदशीको हमारेवास्ते दान देता है और खीर मधु घृत इन्होंकरके प्राक्छाय कुंजरयोगमें ब्राह्मणोंको जिमावें ॥ २७४ ॥

यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।
तत्तत्पितृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥

अर्थ–जो पुरुष श्रद्धासेयुक्त हो सम्यक् प्रकारसे विधिपूर्वक जो जो दान देता है वह सब पितरोंको परलोकमें अनंतगुणा अक्षयगुना प्राप्त होता है २७५

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न यथेतराः ॥ २७६ ॥

अर्थ–कृष्णपक्षमें दशमीसें आदि ले चतुर्दशीके विना पांच तिथि श्राद्धमें जैसी श्रेष्ठ कही है ऐसी अन्य प्रतिपदा आदि तिथि श्रेष्ठ नहीं ॥ २७६ ॥

युक्षु कुर्वन् दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते।
अयुक्षु तु पितृन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥

अर्थ–द्वितीया चतुर्थी आदि युग्म तिथि और भरणी रोहिणी आदि युग्म नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेवाला तथा प्रतिपदा आदि अयुग्म तिथि अश्विनी आदि अयुग्म नक्षत्रोंमें श्राद्ध करनेवाला पुरुष संपूर्ण कामनाओंको प्राप्त होता है और वहुत संतानको प्राप्त होता है ॥ २७७ ॥

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्लादपराह्लो विशिष्यते ॥ २७८ ॥

अर्थ–जैसे श्राद्धकर्ममें शुक्लपक्षसे कृष्णपक्ष अधिक फलदायक है तैसेही पूर्वाह्लसे अपराह्ल अर्थात् दुपहर पीछेका समय अधिक फलदायक है ॥ २७८ ॥

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा।
पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९ ॥

अर्थ–दहिना हाथपर यज्ञोपवीतको स्थितकर कुशा धारणकर आलस्यरहित हो पितृतीर्थकरके शास्त्रके अनुसार संपूर्ण पितरकर्म जीवनपर्यंत करना चाहिये ॥ २७९ ॥

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा।
संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते ॥ २८० ॥

अर्थ–रात्रीमें श्राद्ध नहीं करै क्योंकि यह राक्षसी क्रियाकही है और प्रातःकाल तथा सायंकाल इन दोनों संधियोंमें और छह घडी दिन चढेंतक श्राद्ध नहीं करै ॥ २८० ॥

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत्।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

अर्थ–जो यदि महीनाके महीनै नहीं बनसके तो इस विधिसे वर्षदिनमें हेमंत ग्रीष्म वर्षा इन तीन ऋतुवोंमें तीन श्राद्ध करै और पंचयज्ञके अंतर्गत पितृकर्मको तो नित्य प्रति करता है ॥ २८१ ॥

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते ।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

अर्थ-पितृश्राद्धमें जो होम करना कहा है वह लौकिकअग्निमें नहीं करना और आहितअग्निवाले द्विजको अमावास्याकेविना दशमी आदि अन्य तिथियोंमें नहीं करना ॥ २८२ ॥

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितृन्स्नात्वा द्विजोत्तमः ।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥

अर्थ-जो द्विज स्नानकरके जलसें पितरोंका तर्पण करता है तिसीकरके संपूर्ण पितृयज्ञ करनेंके फलको वह द्विज प्राप्त होता है ॥ २८३ ॥

वसून्वदन्ति तु पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥ २८४ ॥

अर्थ-मनुष्योंके पिताओंको वसुरूप कहते है और पितामहोंको रुद्र कहा है प्रपितामहोंको आदित्यरूप कहते है ऐसे यह सनातनी श्रुति है ॥ २८४ ॥

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ २८५ ॥

अर्थ-नित्य विघस अन्नको भक्षण करनेंवाला रहै अथवा नित्य अमृतको भक्षण करनेवाला रहै ब्राह्मणोंके भोजनसे बाकी रहा अन्न विघस कहाता है यज्ञमें वंचाहुआ अन्न अमृत कहाता है ॥ २८५ ॥

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥

अर्थ-भृगुजीऋषियोंसे कहते है कि तुमारेवास्ते यह संपूर्ण पंचयज्ञमें होनेवाला विधान कहदिया है अब द्विजातियोंकी मुख्य वृत्तियोंके विधानको सुनो ॥ २८६॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितायां मन्वर्थदीपिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः । द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥ अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः । या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

अर्थ–आयुके चौथे भागतक अर्थात् सौ वर्षकी आयु है तिसका चौथा हिस्सातक गुरुकुलमें अध्ययनकेवास्ते ब्रह्मचर्यसहित वास करै फिर आयुके दूसरे भागमें विवाहकराके गृहस्थाश्रममें वास करै ॥ १ ॥ जिस वृत्तिमें प्राणियोंको पीडा नहीं हो अथवा अल्प पीडा हो तिस वृत्तिको ब्राह्मण धारण करै यह नियम विपत्तिकालकेविना है विपत्तिकालमें नहीं ॥ २ ॥

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः । अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥ ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

अर्थ–प्राणोंकी रक्षाकेवास्ते और कुटुंब आदिके पोषणकेवास्ते निंदासे रहित अपने कर्मोंकरके शरीरमें क्लेश करेविना धनका संचय करै ॥ ३ ॥ ब्राह्मण विपत्तिकालकेविना ऋतअमृतकरके जीवन करै अथवा मृत अमृतकरके जीवन करै परंतु सत्य अनृतकरके कुत्तेकी वृत्तिकरके कभीभी आजीवन न करे इन सत्य आदिपदोंके अर्थ अगले श्लोकमें कहे हैं ॥ ४ ॥

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् । मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥ सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते । सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ–शिलोंछ वृत्तिको ऋत कहते है विनामांगीहुई भिक्षाको अमृत कहते है और मांगीहुई भिक्षाको मृत कहते है खेती करनेंको प्रमृत कहते है यहां भिक्षापदसे कच्चा अन्न जानना ॥ ५ ॥ सत्यानृत वाणिज्यकों कहते है तिस वाणिज्यवृत्ति अर्थात् वणियांके रोजगारसेभी आजीविकाकर लेवै परंतु सेवा करनेंको कुत्ताकी वृत्ति कहते है इसवास्ते तिसको ब्राम्हण त्याग देवै ॥ ६ ॥

कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा । त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥ ७ ॥ चतुर्णामपि चैतेषां द्विजाना

गृहमेधिनाम् । ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः ॥ ८॥

अर्थ-कोठारमें धान्यका संचय कुटुंबके तीन वर्षतकके निर्वाह मात्र करनेवाला वा कुम्भीधान्यक अर्थात् वर्ष दिनतकका निर्वाह मात्र धान्यआदिक रक्खै अथवा तीन दिनतकके निर्वाह मात्र धान्यको रक्खै अथवा वर्तमान एकही दिनकेवास्ते रक्खे ॥ ७ ॥ इन कुशूलधान्यक आदि चारों गृहस्थी द्विजोंमें एकसे एक उत्तरोत्तर क्रमसे बडा कहा है क्योंकि जो वृत्तिसंकोच धर्मकरके स्वर्गादिलोकोंको जीतनेवाला कहा है ॥ ८ ॥

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते । द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति ॥ ९ ॥ वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः । इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा ॥ १० ॥

अर्थ-इन चारोंमें कोईक विप्र शिलोंछ वृत्ति, अयाचित भिक्षा तथा याचित भिक्षा कृषी वणिज व्याज इन छह कर्मोंकरके वर्तता है कोई याजन अध्यापन प्रतिग्रह इनकरके कोई याजन अध्यापन इन दो कर्मोंकरके कोई पढानेंकरके एकही कर्मकरके आजीविका करता है ॥ ९ ॥ शिलोंच्छ वृत्तिकरके आजीविका करता हुआ विप्र अग्निहोत्र अनुष्ठानमें तत्पर रहै और पूर्णिमा अमावास्या अयन इत्यादि पर्वोंमें केवल इष्टि अर्थात् यज्ञके आचरणपूर्वक पूजन करै ॥ १० ॥

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन । अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम् ॥ ११ ॥ संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् । संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥ १२ ॥

अर्थ-जीविकाकेवास्ते लोकवृत्त अर्थात् नाटक आदि न करे ब्राह्मण असत्य बोलनेंके पाप आदिकोंसे रहित दंभ, व्याज लेना आदिकोंसे रहित शुद्ध आजिविकाको करै ॥ ११ ॥ सुखकी इच्छा करनेवाला पुरुष संतोषसे स्थित रहै क्योंकि संतोष मूल सुख है और तृष्णा करनेंसे दुःख होता है जितने द्रव्यादिकोंमें कुटुंब भृत्य पंचयज्ञ इत्यादिकोंका निर्वाह रहै उससे ज्यादै वांछा नहीं करे उसको संतोष कहते है ॥ १२ ॥

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः । स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत् ॥१३॥ वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः । तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् १४

अर्थ–इन कहीहुई वृत्तियोंमेसे कोइसी वृत्तिसे आजीविका करताहुआ द्विज स्वर्ग आयु यश इनके हितकेवास्ते आगे कहेहुए इन व्रतोंको धारण करै ॥ १३ ॥ आलस्यसे रहित होके नित्यप्रति वेदोक्त कर्मोंको करै तिस वेदोक्तकर्मको शक्तिके अनुसार करताहुआ पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

नेहेतार्थान्प्रसंगेन न विरुद्धेन कर्मणा । न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः ॥ १५ ॥ इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः । अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ–गानेंवजानेंसे द्रव्यका संचय करे और शास्त्रविरुद्ध कर्मोंकरके धनका संचय करे और विद्यमान द्रव्य हो अथवा नही हो परंतु पतित पुरुषोंसे द्रव्यका संचय नहीं करै ॥ १५ ॥ इंद्रियोंके अर्थ रूप रस गंध आदिकोंमें इच्छापूर्वक आसक्त नहीं होवे और इन विषयोंमें अत्यंत आसक्ति मनसेभी छुटा देवै॥१६॥

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः । यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥ वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च । वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८ ॥

अर्थ–स्वाध्याय अर्थात् पठन पाठनके विरोधी सब प्रयोजनोंको त्याग देवै जिस किसी प्रकारसे पठन पाठन कराता रहै क्योंकि अध्यापन कराना यह इस स्नातक द्विजको कृतकृत्यता है ॥ १७ ॥ अवस्था कर्म द्रव्य श्रुत अर्थात् शास्त्रका सुनना इन्हेंके समान वेष वाणी बुद्धि इन्होंको रखताहुआ द्विज इस संसारमें विचरै जैसे युवा अवस्थामें माला उत्तम वस्त्रादिकोंको धारण रक्खै तैसेंही करै१८

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च । नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥ यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति । तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥

अर्थ–बुद्धिको वढानेंवाले और धान्यको वढानेंवाले तथा हित ऐसे मीमांसा व्याकरण आदि तथा ज्योतिष आदिशास्त्र और वेदके अर्थोंको जाननेवाले निगम ग्रंथोंको नित्य विचारता रहै ॥ १९ ॥ पुरुष जैसे जैसे शास्त्रका अभ्यास करता है तैसे तैसे विशेष करके शास्त्रोंके विषयको ज्ञानको विशेष करके जानता है और रुचि बढती है ॥ २० ॥

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥ एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः। अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२॥

अर्थ–ऋषियज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ नृयज्ञ पितृयज्ञ इन्होंको शक्तिके अनुसार नहीं त्यागै अर्थात् पंचयज्ञ कर्मको नहीं छोडै ॥ २१ ॥ यज्ञशास्त्रको जाननेंवाले अनेक गृहस्थी इन पांच महायज्ञोंको तत्वज्ञान अभ्याससे बाह्यचेष्टासे रहित हुए निरंतर पंचज्ञानेंद्रियोंमेंही इन पांच यज्ञोंको आरोपित कर देते हैं ॥ २२ ॥

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा । वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥ ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा । ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥२४॥

अर्थ–अक्षय फलवाले यज्ञके फलको वाणीमें और प्राणमें जानतेहुए अनेक विद्वान् वाणीमें प्राणोंको संयमन कर देते है और प्राणोंमें वाणीको होम देते है २३ ज्ञानरूपी नेत्रसे ज्ञान मूलवाली इन यज्ञोंकी क्रियाओंको देखते हुए ब्रह्मनिष्ठावाले विप्र संपूर्ण कालमें ब्रह्मज्ञान करकेही इन यज्ञोंको करते रहै ॥ २४ ॥

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा । दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ २५ ॥ सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः । पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः ॥ २६ ॥

अर्थ–उदित होमपक्षमें दिनकी आदिमें रात्रिकी आदिमें अनुदित होम पक्षमें दिनके अंतमें वा रात्रिके अंतमें अथवा अनुदित होम पक्षमें रात्रीके आदि अंतमें और उदित पक्षमें दिनके आदि अंतमें अग्निहोत्र कर्म करै और कृष्णपक्षके अंतमें अमावास्याके कर्म करके शुक्लपक्षके अंतमें पौर्णमासाख्य कर्म करके यजन करै ॥ २५ ॥ पुरानें धान्यके अंतमें और नवीन धान्यकी उत्पत्ति समयमें नवीन धान्यसे आग्रयण इष्टीको करै और दक्षिणायन तथा उत्तरायणकी आदिमें पशुवध याग करके पूजन करै और वर्षके अंतमें सोमयाग अर्थात् सोमलताके रससे साध्य अग्निष्टोमादिक यज्ञोंको करै ॥ २६ ॥

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः । नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ २७ ॥ नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः । प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्द्धिनः ॥२८॥

अर्थ-दीर्घ आयुकी इच्छा करनेंवाला अग्निहोत्री द्विज नवीन अन्नसे आग्रयण इष्टीकें कियेंविना नवीन अन्न भक्षण न करे और पशुयाग कियेंविना मांस भक्षण न करे ॥ २७ ॥ नवीन अन्न करके और पशुयज्ञ करके नहीं पूजे हुए अग्नि नवीन अन्न और मांसकी इच्छा करनेंवाले द्विजके प्राणोंको खानेंकी इच्छा करते है२८

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा । नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः ॥ २९ ॥ पाषण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान् । हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ३०॥

अर्थ-शक्तिके अनुसार आसन भोजन शय्या इन्होंकरके अथवा जल मूल फल इन्होंकरके विना पूजाहुआ कोईभी अतिथि अभ्यागत इस गृहस्थीके घरोंमे वास नहीं करै ॥ २९ ॥ पाषंडी वेदबाह्य वृत्तिमें स्थित, वैडालवृत्ति और वकवृत्तिमें स्थितहुए जन शठ अर्थात् वेदविरोधी तर्कव्यवहारी ऐसे इन पुरुषोंका बाणीमात्रसेभी सत्कार नहीं करै वैडाल वृत्ति वकवृत्ति इनका लक्षण आगे कहा जावेगा ॥ ३० ॥

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः । पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥ शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना । संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

अर्थ-वेदविद्याको समाप्त करनेंवाले वा व्रतको समाप्त करनेंवाले श्रोत्रियोंको गृहस्थी पुरुष हव्यकव्योंकरके पूजै और इनसे विपरीतोंको वर्ज देवै ॥ ३१ ॥ गृहस्थी पुरुषको शक्तिके अनुसार ब्रह्मचारी सन्यासी इनकेवास्ते भिक्षा देनी चाहिये और जिसमें अपनें कुटुंबको तकलीफ नहो ऐसे अनुपरोधसे वृक्षादिक प्राणियोंपर्यंत जल आदिकोंका विभाग देना चाहिये ॥ ३२ ॥

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा । याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः॥ ३३ ॥ न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथंचन । न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ॥३४॥

अर्थ-क्षुधासे पीडितहुआ स्नातकद्विज राजासे धनकी याचना करै अथवा शिष्यसे मांगै अन्यसे नहीं यह शास्त्रकी मर्यादा है ॥ ३३ ॥ उक्तराजा आदिकोंसे प्रतिग्रहका लाभ होनेंपर स्नातकद्विज कभीभी क्षुधासे आसक्त नहीं रहै और धन होनेंपर जीर्ण मलिन वस्त्रोंको नहीं पहनें ॥ ३४ ॥

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः । स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च ॥ ३५ ॥ वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम् । यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ ३६ ॥

अर्थ–नख केश डाढी इन्होंको कटायें रक्खै अर्थात् हजामत करायें रहै दान्त स्वभाववाला रहै सफेद वस्त्रोंको धारण रक्खै पवित्र रहै स्वाध्यायमें युक्त रहै ओर वेदाभ्यास आदिकोसे नित्य आत्माके हितमें तत्पर रहै ॥ ३५ ॥ वांसकी यष्टिका जलसहित कमंडलु यज्ञोपवीत कुशाकी मुष्टि सुंदर सोनेंके कुंडल इन्होंको धारण रक्खै ॥ ३६ ॥

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन । नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्येनभसो गतम् ॥३७॥न लंघयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति । न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा ॥ ३८ ॥

अर्थ–उदय होतेहुए तथा अस्त होतेहुए सूर्यको कभीभी नहीं देखै और ग्रहण होताहुआ सूर्यको न देखै जलमें सूर्यको नहीं देखै मध्यान्हमें नहीं देखै ॥ ३७॥ वछरावंध रहा हो उस रज्जुको नहीं उलंघै मेघवर्षतेहुएमें भाजै नहीं अपने देहके प्रतिबिंबको जलमें नहीं देखै यह शास्त्रका निश्चय है ॥ ३८ ॥

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥ ३९॥ नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने । समानशयने चैव न शयीत तया सह ॥ ४० ॥

अर्थ–सन्मुख उद्धृत मृत्तिका गौ देवताकी मूर्ति अथवा मंदिर ब्राह्मण घृत मधु चौराहा प्रसिद्ध वृक्ष इन्होंको चलतेहुए दहिना हाथकी तर्फ करै ॥ ३९ ॥ रजस्वला होनेमें निषिद्ध तीन दिनोंमें कामदेवसे पीडित पुरुषभी स्त्रीसंग नहीं करै और तिसके संग एक बिछौनेपरभी न सोवे ॥ ४० ॥

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः । प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते ॥ ४१ ॥ तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम् । प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

अर्थ–रजस्वला स्त्रीके संग मैथुन करतेहुए पुरुषके बुद्धि तेज बल नेत्र आयु

इन्होंका नाश हो जाता है ॥ ४१ ॥ तिस रजस्वला स्त्रीको त्यागनेवाले पुरुषकै बुद्धि तेज बल चक्षु आयु ये बढती है ॥ ४२ ॥

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्। क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥४३॥ नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम्।नपश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ४४

अर्थ–अपनी स्त्रीकेसंग भोजन नहीं करै और इसको भोजन करतीहुईको नहीं देखै तथा छींक लेतीहुई जंभाई लेती हुईएकांतमें सुखसे बैठीहुईको न देखै ॥ ४३ ॥ तेजकी इच्छा करनेंवाला द्विजोत्तम नेत्रोंको आंजतीहुई वा उवटना आदि मलतीहुई वा नंगी वा बालक जनती हुई अपनी स्त्रीको नहीं देखै ॥४४॥

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत्। न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥४५॥ न फलाकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते। न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

अर्थ–एक वस्त्र पहिनके भोजन न करै नंगा होके स्नान नहीं करै मार्गमें राखमें गौओंके स्थानमें मूतै नहीं ॥ ४५ ॥ खेतमें जलमें और चितामें पर्वतमे पुराना फूटाहुआ देवताके मंदिरमें कीडी आदिकोंकी वांवीमें कभीभी विष्ठा मूत्रका त्याग न करै ॥ ४६ ॥

न ससत्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः। न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥ वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः। न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

अर्थ–जिनमें जीव रहते हों ऐसे बिलोंमें, चलता हुआ खडा होके नदीके किनारेपै पर्वतके शिखरमे कभीभी विष्ठा पिशाब न करै ॥ ४७ ॥ वायु अग्नि ब्राह्मण सूर्य जल इन्होंको देखताहुआ कभीभी विष्ठा मूत्रको नहीं त्यागै ॥४८॥

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्टपत्रतृणादिना। नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥ मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः। दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च यथा दिवा ॥ ५० ॥

अर्थ–काष्ठ खंघर पत्ते तृण इत्यादिकोंकरके पृथ्वीको आच्छादितकर शरीरपे कपडा ओढ मौन धारण कर विष्ठा मूत्रका परित्याग करै ॥ ४९ ॥ दिनमें और

संध्यामें उत्तरकी तर्फ मुखकरके और रात्रीमें दक्षिणकी तर्फ मुखकरके विष्ठा मूत्रका त्याग करै ॥ ५० ॥

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः । यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥ प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान् । प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥

अर्थ–छायामें अंधकारमें दिन हो तथा रात्री हो तब सुखपूर्वक किसी दिशामें मुखकरके विष्ठा मूत्रको त्यागै और प्राणोंकी बाधाके भयमें किसी तर्फ मुखकर दिशा फिरै वा मूतै ॥ ५१ ॥ अग्नि सूर्य चंद्रमा जल ब्राह्मण गौ वायु इन्होंकै सन्मुख पिशाब करता हुआ वा दिशा फिरता हुआ द्विजकी बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ ५२ ॥

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम् । नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥ अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलंघयेत् । न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अर्थ–अग्निको मुखसे नहीं धमावे फूक नहीं मारै नंगी स्त्रीको नहीं देखै अग्निमें मल मूत्र नहीं डालै पैरोंको अग्निसे नहीं तपावै ॥ ५३ ॥ खाट आदिकोंके नीचे आगकी सिघडी आदिको न रक्खै और आगको उल्लंघै नहीं सोतेहुए पैरोंकी तर्फ अग्निको न रक्खै और प्राणोंको पीडाकारक कर्मको नहीं करै ॥ ५४ ॥

नाश्नीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् । न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोपहरेत्स्रजम् ॥ ५५ ॥ नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत् । अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

अर्थ–संध्यासमयमें, भोजन वा दूसरे ग्राममें गमन नहीं करै वा सोवै नहीं और रेखाआदिसे पृथ्वीको खोदै नहीं धारण की हुई मालाको आपही नहीं निकालै ॥ ५५ ॥ जलमें मूत्र मल थूक इनको न डालै और मूत्र आदि लिपेहुए वस्त्रको वा रक्तको अनेक प्रकारके विष इन्होंकोभी नहीं डालै ॥ ५६ ॥

नैकः स्वपेच्छून्यगेहे शयानं न प्रबोधयेत् । नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥ ५७ ॥ अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ । स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

अर्थ-अकेला सूना मकानमें न सोवै आपसे बडाको सोता हुआको नहीं जगावे रजस्वला स्त्रीसे नहीं बोलै यज्ञशालामें वस्त्र ओढेंविना नहीं जावे ॥ ५७ ॥ अग्निगृहमें, गौओंके थानमें ब्राह्मणोंके समीप वेदके पढनेमें भोजनमें दाहिने हाथको बाहिर निकालै ॥ ५८ ॥

नावारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् । न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥ नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् । नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥६०॥

अर्थ-जल अथवा दूधपिलातीहुई गायको निवारण नहीं करै अथवा पराये दूधको अथवा जलको पिलातीहुईको देख तिसके आगे न कहै और आकाशमें इंद्रधनुषको देखके अन्य किसीको न दिखावे ॥ ५९ ॥ अधर्मियोंके ग्राममें वास न करै जहां बहुत व्याधि हो तिस ग्राममें नहीं रहै अकेला मार्गमें न चले अर्थात मुसाफरी न करे बहुत दिनोंतक पर्वतका निवास न करे ॥ ६० ॥

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते । न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥ न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् । नातिप्रगे नातिसायं न सायं प्रातराशितः ॥ ६२ ॥

अर्थ-शूद्रके राज्यमें नहीं वसै अधर्मी जनोंसे घेरेहुए देशमें न रहै पाषंडी जनोंकरके वशमेंहुए देशमें तथा चांडाल आदिकोंसे उपद्रव हुए देशमें नहीं वसै ॥६१॥ जिसकी चिकनाई निकाली हो उसको खली आदिको न खावे अत्यंत तृप्ति दोनों वार न करै सूर्यउदयकालमें तथा सूर्यके अस्तकालमें भोजन नहीं करै प्रातःकाल अत्यंत तृप्तहुआ सायंकालको भोजन न करै ॥ ६२ ॥

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत् । नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली ॥ ६३ ॥ न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत् । नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ६४

अर्थ-निष्फलकर्म वृथा बकवाद न करै और अंजलीसे पानी नहीं पीवै गोदमें, जांघ आदिमे लड्डु आदिको रखके भक्षण न करै और कभीभी किसी वातका आश्चर्य नहीं करै ॥६३॥ नांचे नहीं गावे नहीं और वाजोंको नहीं बजावे और हाथोंकी ताली नहीं बजावे तुतलाकर न बोले खुश्श होके गधेसरीखे शब्दको नहीं करै ॥ ६४ ॥

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने । न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥ उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत् । उपवीतमलंकारं स्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

अर्थ–कांसके पात्रमें पैरोंको न धोवै फूटे बरतनमें कभीभी भोजन न करै जहां मन बिगड जावे ऐसे भावदूषित पदार्थको भक्षण न करै ॥ ६५ ॥ जूती जोडा वस्त्र यज्ञोपवीत अलंकार पुष्पोंकी माला कमंडलु इन्होंको दूसरेके ओढे पहिरोंको धारण नहीं करै ॥ ६६ ॥

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः । न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥६७॥विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः । वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

अर्थ–व्याधिकरके तथा क्षुधाकरके पीडित और अशिक्षित और सींग आंख खुर इनसें खंडित ऐसे बैलोंकी सवारी वा अज्ञानकी रचीहुई सवारीमे गमन नहीं करै ॥ ६७ ॥ वशमें कियेहुए शीघ्र चलनेवाले सुंदर लक्षणोंसे युक्त वर्णरूपसे युक्त ऐसे बैलोंकी सवारीमे गमन करै तिन बैलोंको चाबुक आदिसे बहुत पीडा नहीं देवै ॥ ६८ ॥

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम् । न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥ ६९ ॥ न मृल्लोष्टं च मृद्नीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम् । न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ७०

अर्थ–उदय होता हुआ सूर्यका घांम मुर्देका धूवां टूटाहुआ आसन इन्होंको वर्ज देवै नख रोम इन्होंको नहीं काटै दांतोंसे नखोंको न उखाडे ॥६९॥ माटीके पिंडेको विना मतलब न मसलै नखों करके तृणोंको छेदन नहीं करै बे मतलब काम नहीं करै और आगे जिसका दुःखदायक फल हो ऐसा काम न करे ॥७०॥

लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः । स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥ न विगर्ह्यकथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत् । गवा च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

अर्थ–मृत्तिकाके डलेको फोडनेवाला तृणोंको छेदन करनेवाला और दांतोंसे नखोंको उखाडनेवाला जो मनुष्य है वह शीघ्रही देह धन आदिकोंकरके नाशको

प्राप्त हो जाता है और पराये दोषोंको सूचन करनेवाला खल तथा अशुचि पुरुषभी ऐसे ही नष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥ निंदितवचनोंकरकें शास्त्रसंबंधी तथा लौकिक वार्त्ताको न करै मालाको बाहिर शिरपर धारण न करै गौओंकी पीठपर सवारी न करै यह सबवक्तमें निंदित है ॥७२ ॥

अद्वारेण च नातीयाद्ग्रामं वा वेश्म वावृतम् । रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥७३॥ नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत् । शयनस्थोऽपि भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

अर्थ–घिरेहुए ग्राममें अथवा मकानमें दरवाजेके रास्तेबिना खाईं भींत आदिको उल्लंघके नहीं जावे और रात्रीके समयमें वृक्षकी जडके नीचे नहीं रहै दूरसे त्याग देवै ॥ ७३ ॥ कभीभी हास्य क्रीडा आदिकोंसे आंखोंकरके इसारा नहीं करै और अपना जूता जोडा हाथमें लेके न चलै शय्यापर बैठके भोजन न करै और हाथमें धरके भोजन न करै आसनमे भोजनके पात्रको धरके नहीं खावे७४

सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ । न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत् ॥७५॥ आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् । आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

अर्थ–जो तिलोंकरके मिलाहुआ कसारमोदक आदि होवे तिसको सूर्य अस्त होनेके पीछे भोजन न करै और नंगा होके नहीं सोवै और जूंठा मुंहसे कहीं नहीं जावे ॥ ७५ ॥ जलसे गीलेपैरोंसे भोजन करै और गीलेपैरोंसहित सोवै नहीं जलसे गीलेपैरों भोजन करताहुआ पुरुष दीर्घ आयुवाला होता है ॥ ७६ ॥

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित् । न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥७७॥ अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भस्मास्थिकपालिकाः । न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥७८॥

अर्थ–वृक्ष लता आदिकोंसें आवृत जो आखोंसे नहीं दीखता हो ऐसे दुर्गम रास्तामें कभीभी नहीं जावे और विष्ठामूत्रको नहीं देखै बाहुओंकरके नदीको न तिरे ॥ ७७ ॥ बहुत दिनतक जीनेंकी इच्छा करनेंवाला पुरुष वालभस्म हड्डी कपाली अर्थात् मिट्टीके वरतनोंके टुकडे कपासके विनौ ले भुस इनपर नहीं चढै॥७८॥

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः । न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च ना-

न्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥ न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम् । न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥८०॥

अर्थ-पतितोंके साथ तथा चांडाल आदिकोंके साथ न रहे अर्थात् एक वृक्षकी छाया आदिमें समीप न रहे निषादसे शूद्रास्त्रीमें होनेवालाको पुल्कस कहते है तिन्होंके संग मूर्खोंके संग न रहे धनादिकोंका गर्व करनेंवाला नींच जाति, निषाद जातिकी स्त्रीमें चांडालसे उत्पन्न हुआ इनके संग न रहै ॥ ७९ ॥ शूद्रको मति अर्थात् दृष्ट अर्थका उपदेश न देवै और जूंठा भोजन तथा होमसे बाकी रहाहुआ पदार्थ नहीं देवै ओर शूद्रको धर्मका उपदेश न करै कोई व्रतआदिभी न कहे ॥ ८० ॥

यो ह्यस्यधर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् । सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति ॥८१॥ न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः । न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥

अर्थ-जो द्विज इस शूद्रके आगे धर्मको कहता है और जो इसको प्रायश्चित्त आदिको कहता है वह असंवृत नामवाले अंधकाररूप नरकमें पडता है ॥ ८१ ॥ दोनों हाथोंसे अपनें शिरको नहीं खुजावे जुंठे हाथोंसे शिरको न छुवे और शिरसहित गोतामारेविना तथा हाथोंसे शिर मलेंविना नित्य नैमित्तिक स्नान नहीं करै ॥ ८२ ॥

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् । शिरः स्नातश्च तैलेन नाङ्गं किंचिदपि स्पृशेत् ॥८३॥ न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः । सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥

अर्थ-क्रोधकरके शिरके बालोंका पकडना और चोट मारनाको वर्ज देवै और शिरसहित स्नान करके तेलसे किसी अंगको नहीं छुवै ॥ ८३ ॥ ~~क्षत्रियके प्रतिग्रहको नहीं लेवै और~~ क्षत्रियसे, अन्य जातिका राजाकाभी दान नहीं लेवे जीव वधकरनेंवाला कसाई तेली कलार रंडी इन्होके ~~अन्य~~ कोभी ग्रहण नहीं करै ८४

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः । दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥८५॥ दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः । तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

अर्थ–दश सूनावाले अर्थात् दश कसाइयोंके बराबर एक तैलकारके तेलीके धनका दोष है दश तेलियोंके समान एक कलार दश कलारोंके समान एक वेश्या और दश वेश्याओंके समान एक राजाके धनका दोषहै ॥ ८५ ॥ जो दश हजार जीवोंको मारता है उसको सौनिक कहते है राजा तिसके समान कहा है तिस राजाका प्रतिग्रह घोर है अर्थात् नरकमें प्राप्त करनेंवाला है ॥ ८६ ॥

यो राज्ञः प्रतिगृण्हाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः । सपर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥८७ ॥ तामिस्रमन्धतातिस्रं महारौरवरौरवौ । नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥

अर्थ–जो द्विज राजाका तथा कृपणका वा शास्त्रकी मर्यादासे रहितका प्रतिग्रह लेता है वह क्रमकरके इन इक्कीस नरकोंमें जाता है ॥ ८७ ॥ तामिस्र १ अंधतामिस्र २ महारौरव ३ रौरव ४ नरक ५ कालसूत्र ६ महानरक ७ ॥ ८८ ॥

संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम् । संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम्॥८९॥ लोहशंकुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् । असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

अर्थ–संजीवन ८ महावीचि ९ तपन १० संप्रतापन ११ संहात १२ सकाकोल १३ कुड्मल १४ प्रतिमूर्त्तिक १५ ॥ ८९ ॥ लोहशंकु १६ ऋजीष १७ पंथान १८ शालमली नदी १९ असिपत्रवन २० लोहदारक २१ ये नाम है और इनके स्वरूप विशेषकरके मार्कंडेयआदि पुराणोंमें कहे है ॥ ९० ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः । न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकांक्षिणः ॥९१॥ ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्माथौं चानुचिन्तयेत् । कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च ॥९२ ॥

अर्थ–यह प्रतिग्रह दान अनेक प्रकारके नरकोंका हेतु है ऐसे जानतेहुए और परलोकमें कल्याणकी इच्छा करनेवाले विद्वान् ब्रह्मवादी ब्राह्मण राजाके प्रतिग्रहको नहीं लेते हैं ॥ ९१ ॥ प्रातःकाल दोघडीके तडके उठके धर्मको तथा अर्थको चिंतवन करै और उनके उपार्जनके मूल कायाके क्लेशोंकोभी चिंतवन करे अर्थात् विचार लेवे और वेदके तत्व अर्थको विचारै ॥ ९२ ॥

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः । पूर्वां संध्यां जपंस्ति-

ष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥९३॥ऋषयो दीर्घसंध्यात्वाद्दीर्घमायुर-
वाप्नुयुः । प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४ ॥

अर्थ–फिर उठके दिशा जंगल हो अवश्य कार्यको कर शुद्ध हो स्नान आदि कर सावधान हो प्रातःकालकी संध्याको कर गायत्रीजप करताहुआ बहुत कालतक सूर्यउदय होनेतक स्थित रहै और दूसरी संध्याकोभी अपनें कालसे लेके नक्षत्र उदयतक बहुत देरतक करताहुआ स्थित रहै ॥ ९३ ॥ पहले ऋषि दीर्घसंध्या गायत्रीजप आदिकरनेंसे दीर्घ आयुको प्राप्त होतेभये और बुद्धि यश कीर्ति ब्रह्मतेज इन्होंको प्राप्त होते भये ॥ ९४ ॥

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि । युक्तश्छन्दांस्यधी-
यीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥ ९५ ॥ पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्ब-
हिरुत्सर्जनं द्विजः । माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्ले प्रथमेऽहनि ॥९६॥

अर्थ–श्रावणकी पूर्णिमाके दिन अथवा भाद्रपदकी पूर्णिमाके दिन यथार्थ विधिसे ब्राह्मण उपाकर्म यज्ञोपवीतका संस्कार करके साढेचार महीनोंतक उद्युक्त हुआ वेदोंको पढै ॥ ९५ ॥ साढेचार महीने व्यतीत हो लेवें तब पुष्यनक्षत्रके दिन वेदका उत्सर्जनाख्य कर्मको ग्रामसे बाहिर जाके करै अथवा माघशुक्ल प्रतिपदाके दिन पूर्वाह्लमें करै ॥ ९६ ॥

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः । विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं
तदेवैकमहर्निशम् ॥९७॥ अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः
पठेत् । वेदांगानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

अर्थ–ऐसे उक्त प्रकारसे ग्रामसे बाहिर जाके उत्सर्गाख्य कर्म करके उस दिन और रातको और अगले दिनको ऐसे डेढ दिनतक वेदका अध्ययन नहीं करै अथवा तिसी एक दिन रात्रिको अध्ययन नहीं करै ॥ ९७ ॥ फिर उत्सर्गाख्य अनध्यायके अनंतर नियम करके शुक्लपक्षमें मंत्रब्राह्मणात्मक वेदको पढै और कृष्णपक्षमें नियम करके वेदके अंग शिक्षा व्याकरण आदिकोंको पढे ९८

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसन्निधौ । न निशान्ते परिश्रान्तो
ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥ ९९ ॥ यथोदितेन विधिना नित्यं छ-
न्दस्कृतं पठेत् । ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि ॥१००॥

अर्थ–वेदको स्वर व्यंजनादिकोंसे अस्पष्ट नहीं पढै और शूद्रके समीप न पढै प्रदोषकालमें न पढे ओर रात्रीके अंतमें थकाहुआ वेदको पढके फिर नहीं सोवे ॥ ९९ ॥ यथोक्त बिधिकरके नित्य प्रति गायत्रीआदि छंदोंकरके युक्त मंत्रमात्रको पढै और आपत्कालकेविना ब्राह्मण मंत्रवेदको सावधान होके पढै ॥१००॥

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत्। अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥ कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने। एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥१०२॥

अर्थ–इन आगे कहीहुये अनध्यायोंको शिष्योंको यथोक्त विधिसे पढानेवाला गुरु और पढनेवाला शिष्य सर्वदा वर्ज देवै ॥ १०१॥ रात्रिमें कानके शब्दकरनेवाले वायुके चलनेके समय दिनमें धूल उडनेंके समय वायु चलनेमें ये दोनों वक्त मुनियोंने वर्षाकालमें अनध्यायके कहे है अर्थात् पढना नहीं चाहिये ॥ १०२ ॥

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानांच संप्लवे। आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥१०३॥ एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु। तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥

अर्थ–बिजलीके गरजनेंसहित वर्षामें और जहांतहां उल्का आदि उत्पात होनेमें जिस समय ये उत्पात हो उसी समयतक अनध्याय करै ऐसे मनुजीनें कहा है ॥ १०२ ॥ वर्षाकालमें ये जो बिजलीके उत्पात आदि होम करनेके समय हो जावें तो अनध्याय करे अन्यथा नहीं करै और वर्षाऋतुके विना अन्य ऋतुमें जो वादल देखपडे तबभी अनध्याय करै ॥ १०४ ॥

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने। एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि ॥ १०५ ॥ प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने। सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा १०६

अर्थ–आकाशमें उत्पातशब्द उत्पन्न होनेमें भूकंप होनेंमें तारा टूटनेंमें सूर्य आदिकोंके उपद्रवमें अकालिक अनध्याय जानै वर्षाकालमेंभी ये उत्पात होवे तो अनध्याय करै ॥१०५॥ होमकेवास्ते अग्नि प्रकटकरनेंके समय जो बिजली कडके शब्द होवे तो एक रात्रीतक अनध्याय करे और जो वर्षाभी हो जावे तो एकरात दिनतक अनध्याय करे ॥ १०६ ॥

नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च । धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥ अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च सन्निधौ । अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च ॥ १०८ ॥

अर्थ–धर्मकी अत्यंत इच्छा करनेंवालोंको ग्रामोंमें और नगरमें नित्य अनध्याय है और दुर्गंधसेयुक्त ग्रामआदिमेंभी अनध्याय है ॥ १०७ ॥ जिसमें मुरदा पडा हो ऐसे ग्राममें अधर्मिपुरुषके समीप रोतेहुएके समीप बहुत जनोंकी भीडमें अनध्याय करै अर्थात् वेदको नहीं पढै ॥ १०८ ॥

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने । उच्छिष्टश्राद्धभुक्चैव मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥ प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम् । त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥११०॥

अर्थ–जलके मध्यमें आधी रातकी समय दिशा जंगल फिरनेंके वक्त पिशाब करनेंके समय भोजन आदि करके जूंठे मुंह श्राद्धका भोजन करके वेदको मनसेभी याद नहीं करै ॥ १०९ ॥ विद्वान् ब्राह्मण एकोद्दिष्ट श्राद्धका निमंत्रण लेके तीन दिनतक वेदको नहीं पढै और राजाके पुत्र आदि होनेंके सूतकमें चंद्रमाके ग्रहणमें तीन दिनतक अनध्याय करै ॥ ११० ॥

यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति । विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥१११॥ शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम् । नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥११२॥

अर्थ–जबतक एकोद्दिष्टश्राद्धमें प्राप्त होनेंवाले विद्वान ब्राह्मणके शरीरपर कुंकुम आदि गंध लेप स्थित रहै तवतक वह वेदका पाठ नहीं करे ॥१११॥ शय्यापे सोताहुआ पैरोंको आसनमे ऊंचाकियें वैठेहुए अथवा दोनो पैरोंको मोडेहुए वैठके वेदको नहीं पढै और मांसको भक्षण करके तथा सूतकके अन्नको भक्षण करके वेदको नहीं पढै ॥ ११२ ॥

नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः । अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च ॥११३॥ अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी । ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत् ॥११४॥

अर्थ–धूमर पडतेहुए बाणके शब्दमें और संधियोंमें अमावास्या वा चतुर्दशी-

को पूर्णिमावा अष्टमीको अनध्याय करै ॥ ११३ ॥ वह अमात्वस्यातिथि गुरुका नाश करती है चतुर्दशी शिष्यको नाशती है अष्टमी तथा पूर्णमासी वेदको भुला देती है इसवास्ते तिन तिथियोंको वर्ज देवै अथवा पढै पढावे नहीं ॥ ११४ ॥

पांशुवर्षे दिशांदाहे गोमायुविरुते तथा । श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्विजः ॥११५॥ नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च ॥ ११६ ॥

अर्थ—धूलिवर्षनेंके समय दिग्दारहोनेंमें गीदडके चिल्लानेंमें कुत्ता गद्धा ऊंट इन्होंके शब्द करनेंमें इन्होंकी पंक्तिमें बैठके द्विज वेदको नहीं पढै ॥ ११५ ॥ श्मशानके सपीप ग्रामके समीप गोशालाके समीप और मैथुनसमयके वस्त्रोंको पहिनके श्राद्धके अन्नको भोजन करके न पढै ॥ ११६ ॥

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवत् । तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः॥११७॥चोरैरुपप्लुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते । आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च ११८

अर्थ—श्राद्ध संबंधी प्राणि अर्थात् गौ अश्वआदिक और वस्त्रमाला आदिकको हाथमें गृहण करके वेदको नहीं पढै क्योंकि ब्राह्मण शास्त्रमें पाण्यास्य कहा है अर्थात् हाथही इस ब्राह्मणका मुख है ॥ ११७ ॥ चौरोंकरके उपद्रुत कियेहुए ग्राममें मकान आदिकोंकै अग्नि लग जानेंके भयमें पृथ्वी आदिके संपूर्ण उत्पात आदि अद्भुत कर्मोंमें अकालिक अनध्याय करे ॥ ११८ ॥

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम् । अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु ॥ ११९ ॥ नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम् । न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः ॥ १२० ॥

अर्थ—उपाकर्ममें और उत्सर्गमें तीन दिनतक अनध्याय करे अष्टमीको एक दिनरात अनध्याय करे और ऋतुके अंतमें एक दिन अनध्याय करे ॥११९॥ घोडापर चढाहुआ वेद नहीं पढै वृक्षपर चढाहुआ हस्तीपर चढाहुआ नावपर बैठाहुआ गद्धा ऊंठ ऊषर भूमि और रथआदि सवारीपर बैठके वेदको नहीं पढै ॥१२०॥

न विवादे न कलहे न सेनायां न संगरे । न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न सूतके ॥ १२१ ॥ अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति

वा भृशम् । रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते ॥ १२२ ॥

अर्थ—वाक्‌विवादमें कलहमें फौजमें युद्धमें भोजन करके उसी समयमें अजीर्णमें वमन करके सूतकमें वेदको नहीं पढै ॥ १२१ ॥ अतिथिको अनुज्ञाप्य अर्थात् मैं अध्ययन करुहूं ऐसे कहेविना अत्यंत वायु चलनेंमें शरीरसे रुधिर पडतेहुए शस्त्र आदिसे कटजानेमें वेदको नहीं पढै ॥ १२२ ॥

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन । वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च ॥१२३॥ ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः । सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ १२४ ॥

अर्थ—जहां सामवेदकी ध्वनि सुनती हो तहां ऋक् यजुर्वेदको कभीभी नहीं पढै और वेदको समाप्तकरके वेदके एकदेश आरण्यकको पढके एकदिन रातके अनंतर दूसरे वेदको पढै ॥ १२३ ॥ ऋग्वेद देवताओंका दैवत्य है अर्थात् उसमे देवतासंबंधी कर्मोंका उद्देश है यजुर्वेद मनुष्यसंबंधी कर्मोंका उपदेशक है सामवेद पितरसंबंधी कर्मोंका उपदेशक है इसवास्ते तिस सामवेदकी ध्वनि अपवित्र सरीखी है इसवास्ते पहले श्लोकमें तिसकी ध्वनिमें ऋग् यजुर्वेदका निषेध कहा है ॥ १२४ ॥

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम् । क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते ॥ १२५ ॥ पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः । अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—इस प्रकारसे जाननेंवाले विद्वान् दिन दिन प्रति पहले क्रमकरके गायत्रीका जप करके पीछे वेदको पढते है ॥ १२५ ॥ पढते हुए शिष्यके और गुरुके मध्यकर जो यदि गौ आदि पशु बिलाड कुत्ता सर्प नौला मूंसा ये निकस जावें तब एक दिन राततक अनध्याय करे ॥ १२६ ॥

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः । स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥१२७॥ अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् । ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः १२८

अर्थ—दो अनध्यायोंको नित्य यतन करके वर्ज देवै एकतो पढनेंकी भूमि अशुद्धको और अपनें शरीरकी अशुद्धिको इन दोनुवोंको वर्ज देवै अर्थात् नित्य

शुद्ध जगह शुद्ध होके पढै ॥ १२७ ॥ अमावास्या अष्टमी पूर्णमासी चतुर्दशी इन तिथियोंको स्नातक गृहस्थी द्विज ऋतुकालमेंभी स्त्रीकेपास न जावे ॥ १२८ ॥

न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि । न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥ देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा । नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च १३०

अर्थ–भोजनकरके विना प्रयोजन स्नान नहीं करै और रोगी पुरुष स्नान न करै अर्द्धरात्रीमें नहीं करै बहुत कपडोंके साथ नित्य स्नान न करै और जहां ज्यादै पानी हो मालूम न हो तिस जलाशयमें स्नान न करै ॥ १२९ ॥ देवता गुरु राजा स्नातक आचार्य कपिल पुरुष यज्ञमें दीक्षित हुआ पुरुष इन्होंकी छायाको इच्छासे नहीं उल्लंघै वेमालूमका कुछ दोष नहीं ॥ १३० ॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम् । संध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥ उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च । श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥

अर्थ–दुपहरमें अर्धरात्रीमें, मांससहित श्राद्धका भोजनकरके और प्रातःकाकाल सायंकाल इन दोनों संधियोंमें चौराहाको नहीं सेवै ॥ १३१ ॥ उवटना मलनेंकी पीठी स्नानका पानी विष्ठा मूत्र रक्त खखार थूक वमन इनके ऊपर अर्थात् ये पडे हों तहां खडा नहीं रहे ॥ १३२ ॥

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः । अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥ नहीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते । यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

अर्थ–वैरीवैरीका मित्र अधर्मी पुरुष चोर इन्होंसे मुलाकात न रक्खे और पराई स्त्रीसे मेल नहीं रक्खै ॥ १३३ ॥ इसप्रकार आयुको घटानेंवाला मनुष्योंके कुछ नहीं है जैसे पराई स्त्रीसे मेल करना लोगोंकी आयुको घटाता है ॥ १३४ ॥

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् । नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥ एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम् । तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥

अर्थ–धन गौ आदिकोंसे बढा हुआ पुरुष क्षत्रिय सर्प बहुश्रुत ब्राह्मण ये

दुर्बल हो तोभी इनका अपमान नहीं करै ॥ १३५ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय सर्प ये तीन अपमान कियेहुये अपमान करनेंवालेका नाशकरदेते है इसवास्ते बुद्धिमान् पुरुष इनका अपमान नहीं करै ॥ १३६ ॥

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ॥ १३७ ॥ सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

अर्थ—धनकेवास्ते यतन करे तब धन नहीं मिले तो, मैं निर्भाग्य हूं ऐसे आत्माका अपमान न करे किंतु मृत्युपर्यंत लक्ष्मीकी इच्छा करता रहै इस लक्ष्मीको दुर्लभा नहीं मानै ॥ १३७ ॥ सत्य कहे अर्थात् जैसा देखा सुना हो सो कहै और प्रियवचन कहै और जो प्रिय न हो ऐसा सत्यभी न बोलै जो झूठ हो ऐसा प्रियभी न बोले यह सनातन धर्म है ॥ १३८ ॥

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत् । शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥ नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यंदिने स्थिते । नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ १४० ॥

अर्थ—भद्रं भद्रं ऐसा वचन कहै अर्थात् वहुत अच्छा है ऐसा कहै वा मंगलरूप वार्ता कहै शुष्क वैर अर्थात् निष्प्रयोजन वैर झगडा किसीकेभीसाथ न करे ॥ १३९ ॥ अत्यंत सवेरे सांझको प्रदोषसमयमें मध्यान्हसमयमें बिना जानपिछानवालेकेसाथ एकेला शूद्रोंके संग रास्तामें नहीं चलै ॥ १४० ॥

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोधिकान्।रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥ १४१ ॥ न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टोविप्रो गोब्राह्मणानलान् । न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि४२

अर्थ—हीन अंगवाले अधिक अंगवाले मूर्ख वृद्धजन कुरूपवाला निर्धन नीचजातिवाला इन्हींकी निंदा न करे ॥ १४१ ॥ भोजनकरके जूंठे हाथोंसे अथवा अशौचके हाथोंसे द्विज गौ ब्राह्मण अग्नि इन्होंको नहीं छुवै और व्याधिसे रहित पुरुष अपवित्र हुआ आकाशमें चंद्रमा तारा नक्षत्र इन्होंको नहीं देखै ॥ १४२ ॥

स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत् । गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥१४३॥ अनातुरः स्वानि खानि न स्पृ-

शेदनिमित्ततः । रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् १४४

अर्थ-अपवित्र हुआ पुरुष इन गौ आदिकोंका स्पर्श करले तो आचमनकर हाथोंमें जल ले इंद्रियोंको स्पर्शकर शरीरके अवयवोंको तथा नाभिको हाथसे स्पर्श करै ॥ १४३ ॥ स्वस्थ चित्त हुआ मनुष्य अपनी इंद्रियोंके छिद्रोंको और रोमोंको तथा काख आदि गुप्तस्थानके बालोंको वे प्रयोजन नहीं छूहै ॥ १४४ ॥

मंगलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः । जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः ॥१४५॥ मंगलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् । जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

अर्थ-नित्य प्रति शुभ आचार करके युक्त रहै और शौचसे युक्त रहै जितेंद्रिय रहै और आलस्यरहित होके गायत्री आदि जप और तद्विहित होम करे ॥ १४५ ॥ नित्य प्रतिमंगलाचारमें युक्त रहनेवालोंकै और पवित्र रहनेवालोंको तथा जप करनेवालोंकै तथा होम करनेवालोंकै देवकृत वा मनुष्यकृत उपद्रव नहीं होता है ॥ १४६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः । तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७॥ वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च । अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥

अर्थ-नित्य प्रति आलस्यरहित होके कालके अनुसार ओंकार गायत्री आदि वेदको जपै क्योंकि वह वेद मनु आदिकोंने ब्राह्मणका परमधर्म कहा है और अन्य धर्म इससें नीचे है ॥ १४७ ॥ निरंतर वेदका अभ्यासकरके और पवित्र होनेंसे तप करनेंसे जीवोंकेसंग द्रोह नहीं करनेसे मनुष्य अपनें पूर्वजन्मकी जातिको जानजाता है ॥ १४८ ॥

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः । ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥१४९॥ सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः । पितॄंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥

अर्थ-पूर्वजन्मकी जातिका स्मरण करताहुआ जन फिर वेदहीका अभ्यास करता है वेदके अभ्यास करनेंसे नित्य अनंत सुखको अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है ॥१४९॥ गायत्रीदेवतावाले होमको और अनिष्ट निवृत्तिकेवास्ते शांति होमको

सर्वदा पूर्णिमासी वा अमावास्याको करै और पितरोंका अन्वष्टकश्राद्ध आदि पूजन आश्विन कृष्णपक्षकी अष्टमीको वा नवमीको करै ॥ १५० ॥

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् । उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥ मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् । पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—अग्निग्रहसे मलमूत्रको दूर त्यागै और पैर धोनेंका जल जूंठा अन्न वीर्य त्याग इन्होंको दूरही करे ॥ १५१ ॥ मलका त्याग दिशा जंगल जाना शरीरकी शुद्धि, स्नान दांतून अंजन घालना देवताओंका पूजन इन्होंको पूर्वाह्णमें अर्थात् दुपहर पहलेही करे ॥ १५२ ॥

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् । ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥ अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् । कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

अर्थ—मंदिरमें स्थित पाषाण आदि देवताओंकी मूर्ति और धार्मिक ब्राह्मण राजा गुरु पिता आदिक इन्होंके दर्शनोंके लियें इनके सन्मुख जावे अपनी रक्षाकेवास्ते ॥ १५३ ॥ घरमें आयेहुए वृद्धोंको गुरुवोंको अभिवादन करै और अपना आसन छोडदेवै अंजलि बांधके उनकेपास खडा रहे और गमन करतेहुए तिनके पीछे जावे ॥ १५४ ॥

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु । धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ॥ १५५ ॥ आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः । आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ १५६ ॥

अर्थ—श्रुति स्मृतिकरके कहाहुआ और अपनें कर्मोंमें वेदाध्ययन आदि अंगोंसे बंधाहुआ धर्मका मूल ऐसे सदाचारको आलस्य रहित होके सेवन करै ॥ १५५ ॥ आचार करनेंसे वेदोक्त आयु प्राप्त होती है और आचारसेही मनोवांछित संतान होती है आचारसे अक्षय गुना धन प्राप्त होता है और अशुभ फलका सूचक दुष्ट लक्षणको आचारही नष्ट कर देता है ॥ १५६ ॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः । दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥ सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचार

वान्नरः। श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

अर्थ–दुष्ट आचारवाला पुरुष संसारमें निंदित है और निरंतर दुःखको प्राप्त होता है और रोगवान् तथा अल्पआयुवाला होता है ॥ १५७ ॥ जो पुरुष साधुजनोंके आचारसे युक्त हो और श्रद्धावान् हो और दूसरेके दोषोंको न कहे वह संपूर्ण लक्षणोंसे हीन भी हो परंतु सौवर्षतक जीता है ॥१५८॥

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्। यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥१५९॥ सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

अर्थ–जो जो कर्म पराधीन है वही वही यतनकरके वर्ज देना चाहिये और जो जो अपनें आधीन है वह सब यतनकरके सेवन करना चाहिये ॥ १५९ ॥ संपूर्ण दूसरेकी प्रार्थना आदिसे जो साध्य है वह दुःखका कारण है और जो अपनें आधीन है वह सुखका कारण है इसप्रकार संक्षेपमात्रसे सुखदुःखका लक्षणको जानें ॥ १६० ॥

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः। तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥१६१॥ आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्। न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ॥ १६२॥

अर्थ–जिस कर्मके करनेंसे इस पुरुषका अंतरात्मा प्रसन्न होवे तिसको अच्छी तरह यतनकरके करै और विपरीत निषिद्ध कर्मोंको वर्जदेवै ॥ १६१ ॥ यज्ञोपवीत करानेंवाला आचार्य वेदका व्याख्यान करनेंवाला पिता माता गुरू ब्राह्मण गौ और संपूर्ण तपस्वी इन्होंकी हिंसा न करे अर्थात् मारे नहीं ॥ १६२ ॥

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्। द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत् ॥ १६३ ॥ परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत्। अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ ॥

अर्थ–नास्तिकपना वेदकी निंदा देवताओंकी निंदा वैर दंभ अभिमान क्रोध तेजी इन्होंको वर्जदेवै ॥१६३॥ क्रोधमें युक्त होके दूसरेको मारनेंकेवास्ते दंड आदिको नहींफेंकै पुत्र शिष्य भार्या इन्होंकेविना दूसरेकेवास्ते लाठी आदि न फेंकै किंतु शिष्य आदिकोंको तो शिक्षाकेवास्ते ताडना अवश्य देवै ॥ १६४ ॥

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया । शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते ॥ १६५॥ ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम् । एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते ॥ १६६ ॥

अर्थ-द्विजाति पुरुष ब्राह्मणके मारनेंकेवास्ते दंड आदिके उठानेंसेही सौवर्षतक तामिस्र नरकमें गिरता है ॥ १६५ ॥ ब्राह्मणको क्रोध बुद्धिसे तृणकरकेभी ताडना देनेंसे इकीस जन्मतक पापयोनि अर्थात् कुत्ता आदि योनियोंमें प्राप्त होता है ॥ १६६ ॥

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगंगतः । दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतयानरः ॥ १६७ ॥ शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात् । तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते १६८

अर्थ-अज्ञानसे मनुष्यविना युद्ध करतेहुए ब्राह्मणके शरीरसे रुधिर निकास देवे तो परलोकमें अत्यंत दुःख प्राप्त होता है ॥ १६७ ॥ खड्ग आदिसे हत हुआ ब्राह्मणके शरीरसे निकसा हुआ रुधिर पृथ्वीपर पडके जितनें धूलिके रेणुवोंको ग्रहण करता है उतनेंही वर्षोंतक रुधिरको निकालनेंवाला पुरुष नरकमें ~~प्राप्त होता है ॥ १६८ ॥~~ श्वश्रृगालादिकरके खायाजाता है १६८

न कदाचिद्द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि । न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक् ॥१६९॥ अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् । हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥

अर्थ-इसवास्ते विद्वान् ब्राह्मण कभीभी ब्राह्मणकेवास्ते तृण करकेभी ताडना नहीं देवै और शस्त्रभी नहीं और ब्राह्मणके शरीरसे रुधिर नहीं निकासै ॥१६९॥ जो अधर्मी पुरुष है अर्थात् शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंको करनेंवाला है वा जिसके झूंठही धनका उपाय है और जो हिंसा करनेमें रत रहता है वह इस लोकमें सुखयुक्त नहीं रहता है ॥ १७० ॥

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् । अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥१७१॥ नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव । शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥

अर्थ-शास्त्रविहित धर्मके अनुसार वर्तताहुआ पुरुष जो यदि धनादिकोंके

विना क्लेश पावे तोभी अधर्ममें बुद्धिको नहीं करै ॥ १७१ ॥ अधर्मका आचरण कियाहुआ इस लोकमें तात्काल फल नहीं देता है जैसे पृथ्वीबी जवोंनेंकेही समय फल नहीं देती समय पायके फल देती है तैसेही शनैशनै क्रम करके वर्तताहुआ अधर्म कर्ताकी जडको काट देता है अर्थात् जडमूल समेत नाशकर देता है॥ १७२

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु। न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥१७३॥ अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति । ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥ १७४ ॥

अर्थ–जो कियाहुआ अधर्म निष्फल होता है अर्थात् धन आदिकोंका नाश नहीं करता है तो उसके पुत्रोंको फल देता है और पुत्रोंको नहीं तो प्रपौत्रोंको फल देता है परंतु कियाहुआ अधर्म निष्फल नहीं होता॥ १७३॥ अधर्म करके पहले वढता है पीछे गौ अश्व वहुत भृत्त्य इत्यादिकोंको प्राप्त होता है पीछे शत्रुओंकोके जीतलेता है पीछे पापके परिपाक समयमें अधर्म कर्ता पुरुष पुत्र धन आदिकों सहित नष्ट हो जाता है ॥ १७४ ॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा । शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥ १७५ ॥ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ । धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ १७६ ॥

अर्थ–सत्यधर्म सदाचार शौच इन व्यवहारोंमें सदा युक्त रहै और शिष्योंको शिष्यधर्मके अनुसार शिक्षा देवै और वाणी बाहु उदर इन्होंको वशमें रक्खे ७५ जो धर्मसे रहित अर्थ और काम है इन्होंको त्याग देवै और जिसके करनेंसे उत्तर कालमें सुख नहीं होते ऐसा धर्मभी नहीं करै और जिसमें लोग क्लेश पावें ऐसा सर्वस्वदान आदि श्राद्धमें गोवध आदिभी नहीं करै ॥ १७६ ॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः । न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥ येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः । तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते १७८

अर्थ–हाथ पैरोंकी चपलता अर्थात् विना प्रयोजन किसीवस्तुका उठाना कहीं घूंमना न करे और पराई स्त्रीको न देखे निंदित वचन नहीं कहै और पराये द्रोहके कर्ममें बुद्धि न करे ॥ १७७ ॥ जिस मार्ग करके इस पुरुषका वा पचला

हो और जिस मार्ग करके इसका दादा चलाहो तिस श्रेष्ठ पुरुषोंके मार्गमें चलता हुआ पुरुष क्लेश नहीं पाता है ॥ १७८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः । बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः ॥१७९॥ मातापितृभ्या यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया । दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

अर्थ–ऋत्विक् पुरोहित आचार्य मामा अतिथि अभ्यागत आश्रय हुए पुरुष बालक वृद्ध रोगी वैद्य चाचा आदि बिरादर शाला आदि संबंधी बिरादर ॥ १७९ ॥ माता पिता बहैन पुत्रकी वहू भाई पुत्र स्त्री दोहिता दास वर्ग इन्होंकेसंग विवाद नहीं करै ॥ १८० ॥

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते । एभिर्जितैश्च जयति सर्वाँल्लोकानिमान्गृही ॥१८१॥ आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः । अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः ॥१८२॥

अर्थ–इन पूर्वोक्त जनोंके विवादोंको त्यागके मनुष्य संपूर्ण पापोंसे छूटजाता है और इनकेसाथ विवादकी उपेक्षा करनेंसे गृहस्थी पुरुष इन आगे कहेहुए लोकोंको जीत लेता है ॥ १८१ ॥ आचार्य ब्रह्मलोकका स्वामी है उसके प्रसन्न होनेंसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है ऐसेंही प्रजापतिलोकका पति पिता है इंद्रलोकका पति भिक्षुक अभ्यागत है देवलोकका स्वामी ऋत्विक् है ॥ १८२ ॥

यामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः । संबन्धिनो ह्यपां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥१८३॥ आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः । भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥

अर्थ–यामय अर्थात् बहैन पुत्र वधू आदि स्त्री अप्सराओंके लोककी स्वामिनी है वैश्वदेवलोकके स्वामी बांधव है संबंधी पुरुष वरुणलोकका पति है और पृथ्वीमे मा बाप मालिक है अर्थात् इनके प्रसन्न होनेंसे इन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ १८३ ॥ बालक वृद्ध कृश रोगी ये आकाशके पति है और बडा भाई पिताके समान है इसवास्ते प्राजापत्य लोकका पति है और स्त्री पुत्र ये अपना शरीर है ॥ १८४ ॥

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् । तस्मादेतैरधिक्षिप्तः

सहेतासंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥ प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र व-र्जयेत् । प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

अर्थ—अपने दास भृत्य आदि अपनी छाया है पुत्री परम कृपा पात्र है इसवास्ते इनके झगडा करके सदा दुःखको नहीं सहै ॥ १८५ ॥ विद्या तप आदिसे युक्त पुरुष प्रतिग्रह लेनेंमें समर्थहो तोभी वारंवार आसक्तिको वर्जदेवै क्योंकि प्रतिग्रह लेनेंसे शीघ्रही इसका ब्रह्मतेज नष्टहो जाता है ॥ १८६ ॥

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे । प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्या-दवसीदन्नपि क्षुधा ॥१८७॥ हिरण्यभूमिमश्वं गामन्नं वासस्ति-लान्घृतम् । प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष प्रतिग्रह लेनेंमें द्रव्योंकी विधिको धर्ममें हित नहीं जानके क्षुधासे पीडित होनेंसेभी प्रतिग्रह दान नही लेवे ॥ १८७ ॥ वेदको नहीं पढाहुआ ब्राह्मण सुवर्ण भूमि अश्व गौ अन्न वस्त्र तिल घृत इन्होंका प्रतिग्रह दान लेनेंसे काष्ठकी तरंह भस्म हो जाता है ॥ १८८ ॥

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम् । अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥१८९॥ अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रह-रुचिर्द्विजः । अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

अर्थ—सुवर्ण और अन्नका प्रतिग्रह लेनेंवालाकी आयुको सुवर्ण और अन्न हरता है भूमि गौ ये शरीरको जलाते है अश्व नेत्रोंको वस्त्र त्वचाको घृत तेजको तिल प्रजाको दग्ध करता है ॥ १८९ ॥ तप विद्या वेदका पढना इनसे रहित ब्राह्मण जो प्रतिग्रहमें इच्छा करता है वह द्विज जैसे पानीमें पत्थरकी भरीहुई नौकापे बैठके तिसके साथही डूब जाता है तैसे नष्ट हो जाता है ॥ १९० ॥

तस्मादविद्वान्विभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् । स्वल्पकेनाप्यवि-द्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति ॥१९१॥ न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडा-लव्रतिके द्विजे । न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् १९२

अर्थ—जोकि स्वल्पही प्रतिग्रह दानलेनेंसेही मूर्ख ब्राह्मण कीचमें धसकीहुई गायकी तरंह नरकमें धसकागिरा रहता है इसवास्ते विना पढाहुआ ब्राह्मणको प्रतिग्रह दानसे डरना चाहिये ॥ १९१ ॥ धर्मको जाननेंवाला पुरुष पहले कहा

हुआ बिडाल अर्थात् बिलावकी वृत्तिवाला और बकवृत्तिवाला ब्राह्मणके अर्थ वा वेदको नहीं जाननेंवाला ब्राह्मणके अर्थ जलकाभी दान नहीं देवै ॥ १९२ ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् । दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥१९३॥ यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् । तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥

अर्थ-पूर्वोक्त बिडालवृत्तिवाले आदि तीन ब्राह्मणोंके अर्थ न्यायसे संचित कियाहुआभी धनका दान देनेंसे दाताको और ग्रहणकरनेंवालेको अनर्थ होता है अर्थात् नरक प्राप्त होता है ॥ १९३ ॥ जैसे पत्थरकी नौकामे बैठके तिरताहुआ मनुष्य तिस नौकासहित डूब जाता है तैसेही कुपात्रकेअर्थ दान देनेंवाला दाता और गृहीता दोनों नरकमें जाते है ॥ १९४ ॥

धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः । बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः ॥१९५॥ अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः । शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥

अर्थ-जो धर्मध्वजी है अर्थात् सबको दिखाके बडाईकेवास्ते धर्म करता है वा लोभी छल करनेंवाला लोगोंको ठगनेंवाला विलाव सरीखी वृत्तिवाला हिंसक सबको विसराहनेंवाला है ॥ १९५ ॥ अपनी विख्याति जनानेंकेवास्ते जो निरंतर नींचेको दृष्टि रखता है वह और कठोर पुरुष अपनें मतलबको सिद्ध करनेंवाला शठ झूठाविनय करनेंवाला बुगला सरीखी वृत्तिका आचरण करनेंवाला द्विज ॥ १९६ ॥

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिंगिनः । ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥१९७॥ न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् । व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥१९८॥

अर्थ-जो द्विज बुगलाकी वृत्तिवाले है और जो मार्जारवृत्तिवाले है वे सब पूर्वोक्त पुरुष तिस पापकर्म प्रतिग्रह लेनेंसे अंधतामिश्र नरकमें गिरते है ॥१९७॥ धर्मका मिसकरके पापकोकर व्रतका आचरण नहीं करै व्रतकरके पापको आच्छादन कर स्त्री शूद्र आदिकोंको मोहताहुआनर है ॥ १९८ ॥

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः । छद्मनाचरितं यच्च

व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥१९९॥ अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमु-
पजीवति । स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते ॥२००॥

अर्थ-पर लोकमें तथा इस लोकमें ये पूर्वोक्त जन ब्रह्मवादियोंकरके निंदित होते है और कपटकरके जिस व्रतका आचरण किया जाता है तिसको राक्षस ग्रहणकर लेते है ॥ १९९ ॥ और जो मूर्ख द्विज मेखला कमंडलु आदिसे युक्तहो ब्रह्मचारीके वेश करके आजीविका करता है वह ब्रह्मचारियोंके सब पापोंको ग्रहणकर लेता है और कुत्ता आदि बुरी योनियोंमें जन्मता है ॥ २०० ॥

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन । निपानकर्तुः स्नात्वा तु
दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥२०१॥ यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यान-
गृहाणि च । अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥२०२॥

अर्थ-दूसरेके बनायेहुए नदी नाले आदिमें कभीभी स्नान नहीं करै दूसरेके जलाशयमें स्नान करनेंवाला पुरुष बनानेंवालेके चौथे हिस्सेके पापसे लिप जाता है ॥ २०१ ॥ शवारी शय्या आसन कूवा बगीचा घर इनको विनादिये हुयोंको भोगनेंवाला पुरुष उस मालिकके चौथे हिस्सेके पापको भोगता है॥२०२

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च । स्नानं समाचरेन्नित्यं ग-
र्तप्रस्रवणेषु च ॥ २०३ ॥ यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमा-
न्बुधः । यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥ २०४ ॥

अर्थ-नदीमें देवखात तलावोमें सरोवरोमें वा, जहां झरनाका पानी आता हो तहां नित्य प्रति स्नान करै ॥ २०३ ॥ यमोंको निरंतर करे और नियमोंको नित्य नहीं करै जो पुरुष यमोंको नहीं करता है और केवल नियमोंको ही करता है वह गिरजाता है हिंसा न करना, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्यमें रहना, क्रोध न करना चोरी न करना ये ५ यम है गुरूकी टहैल शुचि थोडा हलका भोजन स्त्रीके पास सर्वदा न रहे ये नियम है ॥ २०४ ॥

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा । स्त्रिया क्लीबेन च हुते
भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥ २०५ ॥ अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र
जुह्वत्यमी हविः । प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥२०६॥

अर्थ-वेदको न जाननेंवालेसे कियेहुए यज्ञमें वा बहुतोंका यज्ञ करनेंवालेके य-

ज्ञमें वा स्त्रीसे कियाहुये तथा नपुंसकका कियाहुये यज्ञमें ब्राह्मण कभीभी भोजन नहीं करे ॥ २०५ ॥ पूर्वोक्त अश्रोत्रिय आदिक जिस यज्ञमें होम करते है तहां श्रेष्ठ पुरुषोंको शुभदायक नहीं है और देवताओंको अप्रिय है इसवास्ते ऐसा न करे ॥ २०६ ॥

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन । केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥ भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया । पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

अर्थ–मदोन्मत्त क्रोधी रोगी इनके अन्नको कभीभी भोजन न करे और जिस भोजनमें बाल पडा हो वा कीट पतंग आदि जीव पडा हो जिसके पैर लगगया हो तिसको भोजन नहीं करै ॥ २०७ ॥ भ्रूणहत्यावाला तथा पशुवध आदि हत्यावाला पुरुषसे देखाहुआ वा रजस्वला स्त्रीसे स्पर्श कियाहुआ अन्नको वा पक्षीसे खायाहुआ वा कुत्तासे स्पर्श कियाहुआ अन्नको भोजन नहीं करै ॥ २०८ ॥

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः । गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम् ॥ २०९ ॥ स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च । दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्यच ॥२१०॥

अर्थ–गौ करके सूंघाहुआ अन्न वा कौन भोजन करेगा ऐसे वारंवार कहनेंसे घुष्टान्न बहुतसे पुरुषोंका अन्न वेश्याका अन्न विद्वान् ब्राह्मणोंको भोजन करना निंदित है ॥ २०९ ॥ चोरी वा गायन विद्यासे आजीविका करनेंवालेका अन्न तक्षकी अर्थात् सुतारकी वृत्तिसे जीविका करनेंवालेका अन्न वा व्याजकी वृत्तिवालेका अन्न वा यज्ञमें दीक्षित हुआ पुरुषका अन्न वा निंदित पुरुष वा बेडी आदिसे बंधाहुआ पुरुषका अन्नको भोजन नहीं करे ॥ २१० ॥

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च । शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च ॥२११॥ चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः । उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम् ॥२१२॥

अर्थ–जो महापातक आदिकोकरके संसारमें निंदित हुआ पुरुषका अन्न नपुंसकका अन्न जारस्त्रीका अन्न दांभिक अर्थात् कपट करनेंवालेका अन्न शुक्त पदार्थ खमीर आदि वासी, शूद्रका अन्न, जूंठा अन्न, इनको भोजन नहीं करे ॥ २११ ॥ वैद्यका अन्न कसाईका अन्न क्रूर स्वभाववालेका तथा जूंठा भोजन क-

रनेंवालेका अन्न उग्र पुरुषका वा सूतिका स्त्रीकेवास्ते कियाहुआ अन्न और एक पंक्तिमें भोजन करतेहुए जो एक आदमी आचमन करलेवे वह अन्न दशदिनतक सूतिकवालेका अन्न भोजन न करे ॥ २१२ ॥

अनर्चितं वृथार्मासमवीरायाश्च योषितः। द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ॥ २१३॥ पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा। शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च॥ २१४ ॥

अर्थ—पूजन करनेंलायकको विना पूजन कियें दियाहुआ अन्न वृथा मांस जिस स्त्रीके पुत्र पति न हो उसका अन्न वैरीका अन्न शहरकी पंचायतका अन्न, पतित पुरुषका अन्न जिसके उपर छींक दियाहो वह अन्न भोजन नहीं करे ॥ २१३ ॥ चुगलखोर वा झूठ बोलनेंवालाका अन्न यज्ञके फलको वेचनेंवालेका अन्न नट वा दरजीका अन्न वा कृतघ्नी पुरुषका अन्न भोजन नहीं करे ॥ २१४ ॥

कर्मारस्य निषादस्य रंगावतारकस्य च। सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥ श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च। राञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

अर्थ—लोहकार निषाद जाति नट गायन आदि तमासा करनेंवाला सुनार इनका अन्न वांस काटनेंवाला वा शस्त्र बनानेंवालेका अन्न ॥ २१५ ॥ सिकारी कुत्ते पालनेंवालोंका मदिरा वेचनेंवालोंका वा धोबीका तथा वस्त्र रंगनेंवालेका वा क्रूर पुरुषका अन्नको और जिसके घरमें जार पुरुष रहता हो तिसके घरका अन्नको भोजन नहीं करे ॥ २१६ ॥

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः। अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥२१७॥ राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्। आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥

अर्थ—घरमें जार पुरुषको जानके तिसको जो सह लेते है तिनका अन्न और स्त्रीसे जीतेहुए पुरुषोंका अन्न जिसका दशदिनतक सूतक नहीं निकसा हो तथा पातकी पुरुषका अन्न और जिस अन्नसे तुष्टि न हो वह अन्न भोजन नहीं करना चाहिये ॥ २१७ ॥ राजाका अन्न तेजका नाश करता है शूद्रका अन्न वेदाध्ययन आदि तेजको नाशता है सुनारका अन्न आयुका नाश करता है चमारका अन्न यशका नाश करता है ॥ २१८ ॥

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च । गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥२१९॥ पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम् । विष्ठा वार्धुषिक स्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् २२०

अर्थ–सूप आदि बनानेंवालोंका अन्न संतानको नाशता है धोबीका अन्न बलको नाशता है बहुतसे सामिलहुए पुरुषोंसे दियाहुआ अन्न वा वेश्याका अन्न स्वर्ग आदि लोकोंसे गिरा देता है ॥ २१९ ॥ वैद्यका अन्न पीवके समान है जार स्त्रीका अन्न इंद्रियके वीर्यके समान है व्याजकी वृद्धिसे आजीविका करनेंवालेका अन्न विष्ठाके समान है शस्त्र वेचनेंवालेका अन्न मैलके समान है ॥ २२० ॥

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः । तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नंमनीषिणः ॥२२१॥ भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम् । मत्या भुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च२२२

अर्थ–ए जो कहेहुए मनुष्य है और अन्य जो नहीं भोजन करनेंलायक क्रमकरके कहदिये है तिन्होंके अन्नको भोजन करनेंवाला पुरुष तिनकी त्वचा हड्डी रोम इनको भोजन करते है ऐसे पंडित जन कहते है ॥ २२१ ॥ इन पहले कहे हुयोंमें विना जानेंहुए जो किसीका अन्न भोजन कर लेवे तो तीन दिन उपवास व्रत करे और जानके भोजन कर लेवे तो कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करै ऐसेही वीर्य विष्ठा मूत्र इनके भक्षण करनेंमें प्रायश्चित्त कहा है ॥ २२२ ॥

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः । आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥ श्रोत्रियस्यकदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः । मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥२२४॥

अर्थ–विद्वान् पुरुष पंचमहा यज्ञोंको नहीं करनेंवाले शूद्रके पकाये हुए अन्नको भक्षण नहीं करै किंतु अन्यका अन्न नहीं मिले तो एक रात्रिके निर्वाहकेवास्ते इस शूद्रसे कच्चा अन्नको ले लेवै ॥ २२३ ॥ श्रोत्रिय वेदका पढाहुआ पंडित कृपण हो और दान देनेंवाला पुरुष व्याजकी वृद्धिकी आजीविका करनेंवाला हो इनदोनुवोंके अन्नको देवते विचारके समान कहते है अर्थात् बराबर दोष है ॥ २२४ ॥

तान्प्रजापतिराहैत्यमाकृध्वं विषमं समम् । श्रद्धापूतं वदान्यस्य ह-

तमश्रद्धयेतरत् ॥२२५॥ श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः । श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

अर्थ–ऐसे विचार करतेहुए देवताओंकेपास ब्रह्माजी आके बोलेकि तुम विषमको समान मत करो क्योंकि श्रद्धासे दियाहुआ वृद्धिजीविका अन्न पवित्र है और कृपण श्रोत्रियका अश्रद्धा करके दियाहुआ अपवित्र है इसवास्ते समान नहीं किंतु हत है ॥ २२५ ॥ श्रद्धाकरके और आलस्य रहित होके यज्ञआदिक और कूवा तलाव आदि सर्वदा करे क्योंकि न्यायसे संचित कियाहुआ धनसे श्रद्धाकरके कियेहुए ए दोनों अक्षय फलदायक अर्थात् मोक्षदायक होते है २२६

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम् । परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥ यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया । उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः ॥ २२८ ॥

अर्थ–सत्पात्र ब्राह्मण प्राप्त हो जावे तव नित्य प्रति ऐष्टिक यज्ञादिक और पौर्तिक अर्थात् कूवा तलाव आदि करै और दानधर्मको आनंदसे युक्त होके करै ॥ २२७ ॥ मांगनें वालेको शक्तिके अनुसार कछु अन्न देवै और दूसरेकी निंदा और गुन नहीं करै क्योंकि ऐसे करनेंसे कभी तैसाही पात्र मिल जावेगा जोकि सब संसारसे उतार देवेगा ॥ २२८ ॥

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥ भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः । गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

अर्थ–जलका दान करनेंवाला पुरुष पर लोकमें तृप्तिको प्राप्त होता है और अन्नको देनेंवाला अक्षय सुखको प्राप्त होता है तिलोंका दान करनेंवाला मनोवांछित संतानको प्राप्त होता है ॥ २२९ ॥ पृथ्वीका दानकरनेंवाला पुरुष अन्य जन्ममें पृथ्वीकोही प्राप्त होता है सुवर्णका दान देनेंसे बडी आयु होती है घरका दान देनेंसे उत्तम मकान प्राप्त होते है रुपय्योंके दान देनेंसे सुंदर रूपवान् होता है ॥ २३० ॥

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः । अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥ यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यम-

भयप्रदः । धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥२३२॥

अर्थ–वस्त्रका दान देनेंवाला पुरुष चंद्रमाके समान लोंकोको प्राप्त होता है घोडाका दान देनेंवाला अश्विलोकको प्राप्त होता है बैलका दान देनेंवाला अत्यंत लक्ष्मीको प्राप्त होता है गौका दान करनेंवाला सूर्य लोकको प्राप्त होता है ॥२३१॥ रथआदि सवारी और शय्याका दान देनेंवाला स्त्रीको प्राप्त होता है अभयदान देनेंवाला ऐश्वर्यको प्राप्त होता है धान्यको देनेवाला बहुत कालतक सुखको प्राप्त होता है वेदका दान अर्थात् पढानेंवाला पुरुष ब्रह्मकी समानताको प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥

सर्वेषामेव दानाना ब्रह्मदानं विशिष्यते । वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥ येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति । तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

अर्थ–जल अन्न गौ भूमि वस्त्र तिल सुवर्ण घृत इन सब दानोंमें वेदका दान विशेष कहा है ॥ २३३॥ जिस जिस अभिप्राय करके जो जो दान देता है उसी उसी भाव करके दूसरे जन्ममें पूजितहुआ प्राप्त होता है अर्थात् जन्मांतरमें उसी फलको प्राप्त होता है ॥ २३४ ॥

योर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च । तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥ न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम् । नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ–जो विधि करके पूजित कियाहुआ दानको लेता है और जो दाता विधिसे दानको देता है वे दोनों स्वर्गमें जाते है और इनसे विपर्य ऐसे नहीं करनेंवाले नरकमें जाते है ॥ २३५॥ चांद्रायण आदि तप करके यह दुष्कर अनुष्ठान मैनें कैसे किया ऐसा आश्चर्य नहीं करें और यज्ञ करके झूठ न बोले और पीडितहुआभी ब्राह्मणोंकी निंदा न करे और दान देके किसीके आगे कहै नहीं ॥ २३६ ॥

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् । आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७॥ धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः । परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥२३८ ॥

अर्थ-झूट बोलनेंसे यज्ञका नाश हो जाता है आश्चर्य करनेंसे तप नष्ट हो जाता है ब्राह्मणोंकी निंदा करनेंसे आयु नष्ट हो जाती है कहनेंसे दान नष्ट हो जाता है ॥२३७॥ परलोकमें हितकेवास्ते सब प्राणियोंको पीडा नहीं देताहुआ शनैः शनै धर्मको इकट्ठा करे जैसे दीमक बांमीको बनाती है तेसें संचित करे ॥ २३८॥

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः । न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥ एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते । एकोनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

अर्थ-परलोकमें सहायकेवास्ते पिता माता नहीं ठहरते है और पुत्र स्त्री ज्ञाति बांधव येभी परलोकमें सहाय नहीं करते है किंतु अकेला धर्मही ठहरता है २३९ यह प्राणी अकेला जन्मता है और अकेलाही मरजाता है अकेलाही सुकृतको भोगता है और अकेलाही दुष्कृत अर्थात् बुरे कर्मको फलभोगता है ॥ २४० ॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ । विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥ तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः । धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

अर्थ-मृत शरीरको काष्ठलोहाका खंपर आदिकी तरंह पृथ्वीमे त्यागके सब विरादर विमुख होके चलेजाते है अर्थात् जिवा नहीं सकते और कियाहुआ धर्म तिसके संग चलता है ॥ २४१ ॥ जोकि धर्मकी सहाय करके पुरुष दुस्तर नरकको तिर जाता है इसवास्ते शनैःशनै नित्यप्रति सहायकेवास्ते धर्मको संचित करै ॥ २४२ ॥

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् । परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥२४३॥ उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत्सह । निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

अर्थ-धर्ममें तत्पर हुआ पुरुष तपकरके पापका नाशकरके स्वर्ग आदि परलोकको प्राप्त हो जाता है अथवा शरीररहित आनंदयुक्त ब्रह्म स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥ २४३ ॥ अपनें कुलकी उन्नतिकी इच्छा करनेंवाला पुरुष सदा उत्तम पुरुषोंके साथ कन्यादान आदि संबंध करै और अधम पुरुषोंको छोड देवै ॥ २४४ ॥

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन् । ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥ २४५ ॥ दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् । अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः ॥ २४६ ॥

अर्थ–उत्तम पुरुषोंके साथ संबंध करताहुआ और हीन पुरुषोंको त्यागताहुआ ब्राह्मण श्रेष्ठताको प्राप्त होता है और इसके विपरीत हीन पुरुषोंका संग करनेंसे शूद्रकी तुल्य हीनताको प्राप्त हो जाता है ॥ २४५ ॥ निश्चय करनेंवाला अर्थात् प्रारब्धको मुख्य माननेंवाला कोमल स्वभाववाला शीतलता गरमपनाको सहनेंवाला हिंसाकरके रहित क्रूर आचरणवाले पुरुषोंका संगको त्यागताहुआ ऐसा पुरुष दम अर्थात् इंद्रियसंयम और दानकरके स्वर्गलोकको जीत लेता है ॥ २४६॥

एधोदकं मूलफलमन्नमभ्युद्यतं च यत् । सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम् ॥ २४७ ॥ आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम् । मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥

अर्थ–काष्ठ जल फल मधु अन्न और अभयदक्षिणा ये जो अयाचितवृत्तिसे लब्ध होवे तो अर्थात् विनामांगेहुए मिले तो सबसे ग्रहण करे ॥ २४७ ॥ देनेंकी जगंह ल्याईहुई सामनें रक्खीहुई और लेनेंवालेको पहले नहीं मांगीहुई ऐसी सुवर्ण आदिकी भिक्षाको पाप करनेंवालेसेभी ग्रहण करे यह ब्रह्माजीका मत है२४८

नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च । न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९॥ शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि । धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत्॥२५०॥

अर्थ–जो तिस भिक्षाको ग्रहण नहीं करता है तिसके कियेहुए श्राद्धमें पितर पंदरह वर्षतक भोजन नहीं करते है और अग्नि उसके हविको ग्रहण नहीं करता है ॥२४९॥ शय्या धर कुशा कपूर आदि गंध जल पुष्प मणि दही धान मत्स्य दूध मांस शाक इन्होंका तिरस्कार न करे अर्थात् विना मांगेहुए कोई देवे तो उलटा लौटावे नहीं ॥ २५० ॥

गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन्।सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥२५१॥ गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन् । आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतः सदा ॥ २५२॥

अर्थ–माता पिता आदि गुरु स्त्री आदि भृत्य क्षुधासे पीडितहुए इनकेवास्ते पतित पुरुषोंकेविना सबसे दान ग्रहण करे और देवता अभ्यागत इनके पूजनकेवास्तेभी ग्रहण करे परंतु अपनीही तृप्तिकेवास्ते सबसे ग्रहण न करे ॥ २५१ ॥ गुरु अर्थात् माता पिताआदि मर जावे तब अथवा तिनके जीवतेहुएही उनसे जुदा अन्य घरमें वसताहुआ पुरुष अपनी आजीविकाकेवास्ते सदा श्रेष्ठ पुरुषोंसे दान ग्रहण करे ॥ २५२ ॥

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ । एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत् ॥ २५३ ॥ यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम्।यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत् २५४

अर्थ–जो जिसकी खेती करता हो और कुलका मित्र गोपाल और जिसका जो नाई हो वा दास हो अथवा जो अपनी आत्माको निवेदन करदेवे कि मैं सदा आपहीके समीप वसूंगा ये सब शूद्रोंमें भोज्यान्न है अर्थात् जिसका जो दास नाई आदिहै उसका अन्न भोजन करनेंके योग्य है ॥ २५३ ॥ जिसका जैसा कुल शील आदि हो और जो कर्म करनेंकी इच्छा करता हो और जैसी इसको शेवाकरनी योग्य हो तैसेही सब निवेदन करै अर्थात् मैं फलानाहूं फलाना काम करूंगा इत्यादि कहदेवे ॥ २५४ ॥

योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते । स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥ २५५॥ वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः । तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः २५६

अर्थ–जो शूद्र अन्यकोई श्रेष्ठपुरुषोंमें अपनेंको अन्यथा बतलाताहै अर्थात् झूठ बोलके नीच कुल आदिको उत्तम बतला देता है वह अत्यंत पापकरनेंवाला चोर है क्योंकी तिसनें सर्व प्रधान आत्माकी चोरी करी ॥ २५५ ॥ संपूर्णशब्द वाणीमें बंधेहुए है और सबका मूल वाणीही है वाणीसेही निकलते है इसवास्ते जो मनुष्य तिसवाणीको चोरता है वह संपूर्ण चोरी करनेंवाला है ॥ २५६ ॥

महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि । पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः ॥ २५७॥ एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः । एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति २५८

अर्थ–महर्षि पितर देवता इन्होंका ऋण यथाविधिसे देके अर्थात् स्वाध्याय पु-

त्रोत्पादन यज्ञकरनेसे इनका ऋणको दूरकर संपूर्ण कुटुंबके भारमें पुत्रको सौंपके सबमें-ममता त्यागके ब्रह्मबुद्धिसे समदर्शी होके घरमेंही वास करै ॥ २५७ ॥ निर्जन एकांत स्थानमें अकेला नित्य आत्माके हितको चिंतवन करे क्योंकि अकेला होके वेदोक्त ब्रह्मका अभ्यास करताहुआ पुरुष परम कल्याणको प्राप्त होता है ॥२५८॥

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती । स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥ अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेद-शास्त्रवित् । व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

अर्थ—इस प्रकार यह गृहस्थ आश्रमवाले ब्राह्मणकी नित्य वृत्ति कही है और स्नातकके व्रतकी विधि सतोगुणकी वृद्धिकरनेंवाली श्रेष्ठ कही है ॥ २५९ ॥ इस-विधिसे वर्तताहुआ वेदशास्त्रको जाननेंवाला ब्राह्मण नित्य कर्मके अनुष्ठानसे पापरहित होके ब्रह्मलोकमें प्राप्त होता है ॥ २६० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान् । इदमूचुर्महात्मान-मनलप्रभवं भृगुम् ॥ १ ॥ एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठ-ताम् । कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

अर्थ—ऋषिलोग यथार्थ विधिसे कहेहुए स्नातकके इन धर्मोंको सुनके महात्मा और अग्निसे उत्पन्न होनेवाले भृगुजीके प्रति यह बोलते भये किसी पुराणमें भृगुजीकी उत्पत्ति अग्निसेभी कही है इसवास्ते यहां अग्निसे होनेवाले कहे ॥ १ ॥ हे प्रभो इस प्रकार कहेहुए धर्मका आचरण करतेहुए ब्राह्मणोंकी और वेदशास्त्र-को जाननेवालोंकी मृत्यु कैसे होजाती है अर्थात् वेदोक्त पूर्ण आयु क्यों नहीं होती है पहले मृत्यु क्यों होजाती है ॥ २ ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः । श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ३ ॥ अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् । आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥ ४ ॥

अर्थ–मनुके पुत्र धर्मात्मा भृगुजी तिन ऋषियोंकेप्रति बोले कि जिस दोषसे मृत्यु ब्राह्मणोंको अल्पकालमें मारता है सो आप सुनो ॥ ३ ॥ वेदोंका अभ्यास न करनेंसे आचारके त्यागनेंसे आलस्यसे शूद्रादिकोंके अन्नके दोषसे मृत्यु ब्राह्मणोंको मार देता है ॥ ४ ॥

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च । अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवानि च ॥५॥ लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चनप्रभवांस्तथा । शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

अर्थ–लस्सन गाजर पियाज कुकुर मुत्ता ये अभक्ष्य शाक और विष्ठा मूत्र आदि अपवित्र जगहमें उत्पन्न हुआ चौलाई आदि शाकको द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये भक्षण न करे ॥ ५ ॥ लाल वर्णोंका वृक्षोंका गोंद और वृक्षोंके छेदन करनेसे निकसाहुआ गोंद आदि, शिंवाल नवीन व्याईहुई गौका दूध खीश किनारि आदि ये सब यतनसें छोडदेवै ॥ ६ ॥

वृथाकृसरसंयावं पायसापूपमेव च । अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च ॥ ७ ॥ अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा । आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः ॥ ८ ॥

अर्थ–देवताके उद्देशविना तिलसहित खिचडी आदि पकाना वह वृथा कृसर कहाता है सो औ मोहनभोग खीर मालपूआ इत्यादिक सब पकान्न देवताके अर्पण कियेविना भोजन नहीं करनें चाहिये और यज्ञमें उपाकृत कियेहुए पशुके मांसकेविना अन्यमांसको देवताके उद्देशके नैवेद्य आदि और निवेदन किये पहले पुरोडाश आदि हवि इनको भक्षण नहीं करै ॥ ७ ॥ दशदिन भीतरतक व्याईहुई गौ आदिका दूध वा, ऊंटनी घोडी वगैरे एक खुरवाले पशुका तथा भेडका दूध और ऋतुकाल होनेंके समय गौ आदिका दूध तथा वच्छासे रहित गौका दूधको छोडदेवै ॥ ८ ॥

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना । स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥ दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् । यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥ १० ॥

अर्थ–भैसकेविना वनमें रहनेवाले मृग आदि सब पशुवोंका दूध स्त्रीका दूध सडायाहुआ दहीका पानी इनको वर्जदेवै अर्थात् पीवे नहीं ॥ ९ ॥ शुक्त पदा-

थोंमें दही भक्षण करनेंके योग्य है और दहीमें उत्पन्नहुए तक्र आदि तथा जो शुभ अर्थात् अविकारी पुष्प मूल कंद फल इन्होंको सडाके छानके पदार्थ बनता है वहभी भक्षण करनेंको योग्य है ॥ १० ॥

क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्राम निवासिनः । अनिर्दिष्टांचैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥ कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राङ्गं ग्रामकुक्कुटम् । सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥

अर्थ–कच्चे मांसको खानेंवाले गृध्र आदि सब पक्षियोंको वा ग्राममें रहनेंवाले जीवोंको तथा गधा आदि अनिर्दिष्ट जीवोंको वा एक खुरवाले जीवोंके मांसको वा टीडीके मांसको वर्ज देवै ॥ ११ ॥ चिडा परेव हंस चकवा ग्राममें रहनेंवाला मुरगा सारस रज्जवाल पक्षी पपैया तोतामैंना इनको वर्ज देवै अर्थात् इनका मांस भक्षण न करे ॥ १२ ॥

प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् । निमज्जतश्च मत्स्यादान् शौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥ बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् । मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

अर्थ–प्रतुदसंज्ञक पक्षी अर्थात् चोचसे फाडके खानेंवाले कोमल कपोत खाती चिडा इत्यादिक पक्षी और पैरोंमें जालवाले बाज आदि पक्षी टिटवी पक्षी नखसे फाडकर खानेंवाले पक्षी वा पानीमें डूबके मछलीको खानेंवाले पक्षी इन सबका मांस मारनेंके स्थानमें स्थितहुआ मांस वा सूखा मांस इनको भक्षण न करे ॥ १३ ॥ बुगला बलाका करेरुवा खंजनापक्षी मच्छोंको खानेंवाले जीव विष्ठाको खानेवाला सुवर सब प्रकारके मत्स्य इनका मांस भक्षण न करे ॥ १४ ॥

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते । मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ १५ ॥ पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः । राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥

अर्थ–जो जिसका मांसको खाता है वह उसीके मांसको खानेंवाला कहाता है और मत्स्यके मांसको खानेंवाला पुरुष सबका मांस खानेंवाला कहाता है इसवास्ते तिनके मांसको वर्जदेवै ॥ १५ ॥ पाठीन और रोहू ये दो प्रकारकी मछली देवकर्म हव्य और श्राद्धकर्ममें लीगई है तहां भक्षण करनी योग्य है और राजीवन रेषावाली मछली सिंहतुंडा मछली न्यायसे प्राप्तहुई इनको भक्षण करै ॥ १६ ॥

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् । भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्पञ्चनखांस्तथा ॥ १७ ॥ श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशास्तथा । भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

अर्थ—अकेले विचरनेंवाले सर्पादिक और विनाजानेंहुए मृग पक्षी और भक्ष्य जीवोंमें कहेहुएभी विनाजानें सब पक्षी पंच नखोंवाले अर्थात् वानर आदि जीव इनको भक्षण न करे ॥१७॥ सेह शल्यक सेहका भेद गोह गैंदा कछुवा सूसा ये पांच नखवाले जीव भक्षण करनें कहे है और एक तर्फको दांतोंवाले जीव ऊंट इनको वर्जदेवै ॥ १८ ॥

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् । पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः ॥१९॥ अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् । यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २०॥

अर्थ—छत्राकशाक ग्राममें रहनेंवाला सुवर लस्सन ग्राममें रहनेंवाला मुरगा पियाज गाजर इनको दोषवाले जानकरकेभी जो द्विज अभ्याससे नित्य भक्षण करता है वह पतित होजाता है ॥ १९ ॥ इन पूर्वोक्त छहोंको विनाजानेंहुए भक्षण करके ग्यारहवा अध्यायमें कहाहुआ कृच्छ्र सांतपन व्रतको करै अथवा यतिचांद्रायण व्रतको करे इस्से अलग लाल गोंद आदिको भक्षण करनेंवाला पुरुष एक दिन व्रत करे ॥ २० ॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः । अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥ यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः । भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥ २२ ॥

अर्थ—द्विजाति पुरुष विनाजानें निषिद्ध वस्तुके खानेंके दोषकी शांतिकेवास्ते वर्षदिनमें एक प्राजापत्याख्य कृच्छ्र व्रतको करै और जानके खावे तो इस्से विशेष प्रायश्चित्त करे ॥ २१ ॥ ब्राह्मणोंको यज्ञकेवास्ते यथार्थ शास्त्रमें विहित मृगपक्षी मारनें चाहिये और अवश्य पालनाकरनेंके योग्य मातापिता आदि भृत्योंकेवास्तेभी मारनेंयोग्य है क्योंकि पहले इसप्रकार अगस्त्यमुनि करते भये ॥२२॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् । पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥ २३ ॥ यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमग-

हितम् । तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ २४ ॥

अर्थ–जो कि पहले पुराचीन ऋषियोंके यज्ञमें भक्ष्य मृगपक्षियोंके मांसकरके पुरोडाश होतेभये इसवास्ते अबके ब्राह्मणोंकोभी यज्ञकेवास्ते मृगपक्षियोंका वध करना योग्य है ॥ २३ ॥ जो कुछ मोदक आदि भक्ष्यपदार्थ अथवा भोज्यपदार्थ अनिंदित है अर्थात् योग्य है वह वासी होजावे तो घृत आदि तथा दही आदिसे मिलाके खावे और पुरोडाशादि बाकी रहे चरुको स्नेह मिलायेबिनाही भक्षण करलेवे ॥ २४ ॥

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः । यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया । २५ ॥ एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः । मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥ २६ ॥

अर्थ–जव गेहूं दूध इनसे बनाईहुई मिठाई कई दिनकी बासीभी हो और घृतसे रहित हो तोभी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इनको भक्षण करनी योग्य है ॥ २५ ॥ द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इनका भक्ष्याऽभक्ष्य अर्थात् भक्षण करनेंके लायक वा नहीं भक्षण करनेंके लायक संपूर्ण वस्तु कही है अब मांस भक्षणका निषेध और विधिको कहेंगे ॥ २६ ॥

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया । यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये ॥ २७ ॥ प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् । स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ २८ ॥

अर्थ–ब्राह्मणोंकी मांस खानेंकी इच्छा हो तो प्रोक्षित कियेहुए अर्थात् यज्ञमें प्रोक्षणविधिसे शुद्ध कियेहुए मांसको भक्षण करे और जब प्राणोंका नाश होता है तब पीडाकी निवृत्तिकेवास्ते विधिके नियमसे मांस भक्षण करे ॥ २७ ॥ जीवके प्राणोंकी रक्षाकेवास्ते यह सब अन्न ब्रह्माजीनें बनाया है स्थावर धान्यव्रीहिआदिक जंगम पशु आदिक यह सब प्राणोंका भोजन है इसवास्ते जीवकी रक्षाकेवास्ते मांसभोजन करे ॥ २८ ॥

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः । अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः ॥ २९ ॥ नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि । धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ॥ ३० ॥

अर्थ–हिरन आदिक जंगमजीवोंका अन्न तृण आदि कहे है और सिंह आदिके वास्ते हिरण आदि भक्षण है और हाथोंवालोंकेवास्ते विना हाथोंवाले मृग आदिक सुवर वीरोंकेवास्ते डरपोक ऐसे एकका एक भोजन हैं॥ २९॥ भक्षण करनेके योग्य प्राणियोंको दिनदिन प्रति भक्षण करताहुआभी पुरुष दोषको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि विधाताकोही भक्षण करनेंके योग्य प्राणी और तिनको भक्षण करनें पुरुष रचदिये है॥ ३०॥

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः। अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते॥३१॥ क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्यपरोपकृतमेव वा। देवान्पितॄंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति॥३२॥

अर्थ–यज्ञकी संपत्तिकेवास्ते यज्ञनिमित्तक जो मांसका भक्षण कियाजाता है यह दैवविधि कहाती है इस्से अन्यथा यज्ञकेविना जो मांस भक्षण कियाजाता हैं यह राक्षसी विधि है॥ ३१॥ मोल लेके अथवा आप उत्पादन करके अथवा अन्य किसीनें ल्याके दिया हुआ मांसको देवता पितर इनके अर्पण करके खाता हुआ पुरुष दोषको नहीं प्राप्त होता है॥ ३२॥

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः। जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः॥ ३३॥ न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः। यादृशं भवति प्रेत्य वृथा मांसानि खादतः ३४

अर्थ–विधिको जाननेवाला द्विज आपत्तिकालके विना देवता पितर आदिकोंके अर्पण कियेंविना मांसको भक्षण नहीं करे और जो द्विज इस विधिके विना मांसको भक्षण करता है वह मरके जिनका मांस खाया है उन प्राणियोंकरके अवश हुआ भक्षण कियाजाता है॥ ३३॥ धनकेवास्ते मृगोंको मारनेवाले व्याधको वैसा पाप नहीं है जैसा वृथा मांस अर्थात् यज्ञादिकके विना मांसको भक्षण करनेवालेको पाप है॥ ३४॥

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः। स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम्॥३५॥असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन। मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः॥३६॥

अर्थ–श्राद्धमें अथवा मधुपर्कमें विधियुक्त मांसको जो मनुष्य भक्षण नहीं करता है वह मरके इकीस जन्मोंतक पशुयोनिमें प्राप्त होता है॥ ३५॥ वेदविहित

मंत्रोंकरके विना संस्कार कियेहुए पशुओंके मांसको विप्र कभीभी नहीं भक्षण करे और मंत्रोंकरके संस्कार कियेहुए पशुवोंको यज्ञ आदिकमें नित्य भक्षण करे ॥ ३६ ॥

कुर्याद्घृतपशुं संगे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा । न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥ यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम् । वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

अर्थ–घृतका पशु बनाके अथवा मैदा आदिकी पीठीका पशु बनाके तिसको भक्षण करे परंतु वृथा पशुको मारनेंकी कभीभी इच्छा न करे ॥ ३७ ॥ देवताके उद्देशके विना जो वृथा अपनेंहीवास्ते पशुको मारता है वह मरके जितने पशुके शरीरमे रोम है उतनेंही जन्मोंमें माराजाता है इसवास्ते वृथा पशुवध न करे॥३८॥

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥ ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ ४० ॥

अर्थ–ब्रह्माजीनें यज्ञके सिद्धिकेवास्ते आपही पशु रचे है यज्ञमें पशुवध करनेसे सब जगत्की वृद्धि होती है इसवास्ते यज्ञमें पशुवधका दोष नहीं है ॥३९॥ यज्ञकेवास्ते नाशको प्राप्त हुए व्रीहि यव आदि औषध पशु वृक्ष कछुवा आदि जीव पक्षी ये सब फिर अन्य उत्तम योनिको प्राप्त होते है ॥ ४० ॥

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥ एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः । आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥

अर्थ–मधुपर्क कर्म, अग्निष्टोमादिक यज्ञ पितृकर्म वा दैवकर्म इनमेंही पशुवध करनेंयोग्य है अन्य जगह नहीं ऐसे मनुजीने कहा है ॥ ४१ ॥ इन मधुपर्क आदि कर्मोंमें पशुको मारता हुआ वेदके तत्वको जाननेवाला द्विज अपने आत्माको और पशुको दोनोंको उत्तम गतिको प्राप्त करता है ॥ ४२ ॥

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः । नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥ या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे । अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥ ४४ ॥

अर्थ–गृहस्थाश्रममें अथवा ब्रह्मचर्य आश्रममें वसताहुआ जितेंद्रिय द्विज वेदमें नहीं विहितकी हुई हिंसाको आपत्कालमेंभी न करे ॥ ४३ ॥ जो इस जगत्मे वेदमें विहितकी हुई हिंसा है अर्थात् यज्ञादिकमें पशुवध आदि कहा है उसको अहिंसाही जानें क्योंकि वेदसे तो धर्मका प्रकाश होता है ॥ ४४ ॥

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया । स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥४५॥ यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति । स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

अर्थ–जो पुरुष विना मारनेके योग्य हिरन आदि जीवोंको अपनें सुखकी इच्छाकरके मारता है वह जीवता हुआ अथवा मराहुआ कभीवी सुख नहीं पाता है ॥ ४५ ॥ जो पुरुष बांधना मारना इत्यादिक प्राणियोंके क्लेशोंको करनेंकी इच्छा नहीं करता है वह सब जीवोंके हितकी इच्छा करनेवाला पुरुष अत्यंत सुखको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च । तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥ ४७ ॥ नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् । न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥४८॥

अर्थ–कछु हिंसा नहीं करनेवाला पुरुष जो कुछ धर्म आदि ध्यावता है और जो कुछ करता है अथवा जहां धर्म आदिमें धारणा करता है वह सब धर्म तिसको विना यतन किये प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ प्राणियोंकी हिंसा कियेहुए विना कभीभी मांस उत्पन्न नहीं होता और प्राणियोंकी हिंसा करनी स्वर्गमें हित नहीं है इसवास्ते मांसको वर्ज देवै ॥ ४८ ॥

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् । प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥ ४९॥ न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्। स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते॥ ५०॥

अर्थ–मांसकी उत्पत्तिको शुक्र शोणितके संगमसे जानके और तहां देहधारियोंके वध बंधनको देखके संपूर्ण मांसके भक्षणसे निवृत्त हो जावे अर्थात् किसी जीवका मांस भक्षण न करे ॥ ४९ ॥ जो पुरुष विधिको त्यागके पिशाचकी तरंह मांसको भक्षण नहीं करता है वह जगतमें प्यारा होता है और रोगोंकरके पीडित नहीं होता है ॥ ५० ॥

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥५१॥ स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति । अनभ्यर्च्य पितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ५२

अर्थ–जिसकी मरजी विना मार न सके वह और पशुके अंगोंको काटके अलग अलग करनेंवाला मारनेंवाला खरीदनें वेचनेंवाला पकानेंवाला वा हरनेंवाला खानेंवाला ये सब पशुघातक है ॥ ५१ ॥ जो पुरुष देवता पितर आदिके अर्पण कियेंविना पराये मांसकरके अपनें शरीरके मांसको वढानेंकी इच्छा करता है तिस्से दूसरा कोई पापकारी नहीं है ॥ ५२ ॥

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः । मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ ५३ ॥ फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः । न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

अर्थ–जो पुरुष वर्ष वर्ष प्रति सौ वर्षतक अश्वमेध यज्ञ करता है और जो कोई मांसोंको नहीं खाता है इन दोनोंको पुण्यका फल समान है ॥ ५३ ॥ पवित्र फल मूल तथा सामक आदि मुनियोंके अन्नोके भोजन करके वह फल नहीं प्राप्त होता है जोकि मांसके त्यागनेंसे फल प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

मांसभक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥ न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

अर्थ–जिसका मांसको हम इस लोकमें भक्षण करते है वह हमको परलोकमें भक्षण करेंगा यह मांस खानेंवालाका मांस भक्षयिता इसका अर्थ मुनि जनोंनें कहा है ॥ ५५ ॥ मांसके भक्षणमें दोष नहीं है और मदिराके पीनेंमें तथा मैथुनमें दोष नहीं है यह सब प्राणियोंकी प्रवृत्ति स्वभावसेही है और इनकी निवृत्ति अर्थात् त्याग करनेंका महाफल है ॥ ५६ ॥

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च । चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥ दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते । अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

अर्थ–चारों वर्णोंके यथावत् क्रमके अनुसार प्रेतशुद्धिको और द्रव्योंकी

शुद्धिको आगे कहेंगे ॥ ५७ ॥ दांत जामें हो अथवा दांत उत्पन्न होनेंके अनंतर वा चूडाकर्म होनेंके अनंतर वा उपनयनकर्म होनेंके अनंतर मरनेंमे संपूर्ण सपिंड बांधव अशुद्ध हो जाते है और तैसेही सूतककालमें अशुद्ध हो जाते है ५८

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते । अर्वाक् संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव च ॥ ५९ ॥ सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते । समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

अर्थ-सपिंड बांधवोंमें मृत पुरुषका अशौच पातक दशदिनतक लगता है और जो अग्निहोत्री और वेदकरके युक्त हो तिसके एकही दिनका अशौच है और तिस्से हीन गुणवालेकै तीन दिनतक तिस्सेभी हीन गुणवालेकै अस्थिसंचयनतक चार दिनका अशौच है और सब गुणोंसे रहित हो तो दशदिनतक होता है ॥ ५९ ॥ सात पुरुष व्यतीत हो लेवें तब अर्थात् सातवी पीढीमें सपिंडताका भाव छूट जाता है और जन्मकी तथा नामकी मालूम न रहे तब समानोदकभाव छूट जाता है अर्थात् सात पीढीके ऊपरके पुरुषोंकेवास्ते जलदानका प्रयोजन रहता है ॥ ६० ॥

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते । जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥ सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् । सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥६२॥

अर्थ-जैसे यह शावाशौच कहा है अर्थात् मरनेंमें सपिंड पुरुषोंमें अशुद्धि कही है तैसेही शुद्धिकी इच्छावाले पुरुषोंनें जन्ममेंभी दशदिनतक अशुद्धि कही है ॥ ६१ ॥ मरनेंमें जो अस्पृश्य अशौच है वह सब सपिंड पुरुषोंकै समान है और वालकके जन्ममें अस्पृश्य अशौच मातापिताकै है तिनमें पिता स्नान करनेंसेही स्पर्श करनेंको पवित्र है और माता दशमें दिन शुद्ध होती है ॥ ६२ ॥

निरस्य तु पुमान् शुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति । बैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥ अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः । शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः ॥६४॥

अर्थ-वीर्य निकलजानेंमें स्नान करनेंसे शुद्धि होती है और अन्यकी स्त्रीमें गर्भाधान करनेंसे तहां वीर्यके निकसनेंसे तीन दिनतक अशुद्धि रहती है ॥ ६३ ॥

जो सगोत्री पुरुष, मृतपुरुषका स्नान कराते है वे दशदिनमें शुद्ध होते है और जो जलदान देनेंवाले है वे तीनदिनमें शुद्ध हो जाते है ॥ ६४ ॥

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् । प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति ॥ ६५ ॥ रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति । रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला ॥ ६६ ॥

अर्थ—असपिंड गुरु मरजावे तिसका अंतेष्टीकर्म करनेंवाला शिष्य गुरुके सपिंड पुरुषोंके समान दशदिनमें शुद्ध होता है ॥ ६५ ॥ तीसरे महीनेंसे लेके छठे महीनेंतक गर्भस्राव हो जावे तो जितनें महीनोंका गर्भ होवे उतनेंही दिनका अशौच है और रजस्वला स्त्री रजस्राव बंद होनेंपर पांचवे दिन स्नान करनेंसे शुद्ध होती है ॥ ६६ ॥

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता । निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ६७ ॥ ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः । अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥ ६८ ॥

अर्थ—जिनका चूडाकर्म न हुआ तिन बालकोंके मरनेंमें सपिंड पुरुषोंके एकदिन रातकी अशुद्धि है और जिनका चूडाकर्म हो चुकाहो तिनके मरनेंमें तीन दिनकी अशुद्धि है ॥ ६७ ॥ जो बालक पूरे दो वर्षका नहीं हुआ हो तिसको मरनेंमे बांधवजन ग्रामसे बाहिर लेजाके मालाआदिकोसे भूषित कर शुद्धभूमिमें स्थापित कर देवें और कालांतरमें हड्डी गलजावे तब तिसका अस्थिसंचयन न करे ॥ ६८ ॥

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया । अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च ॥ ६९ ॥ नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया । जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति ॥ ७० ॥

अर्थ—इस बालकका अग्निदाहकर्म नहीं करना चाहिये और जलांजलिदान न देवै किंतु काष्ठकी तरंह वनमें फैंक देवै और तीन दिनतक अशौच रक्खे ॥ ६९ ॥ तीन वर्षका बालक मरजावे तो उसकी जलांजलिक्रिया बांधवोंको न करनी चाहिये और जिसकै दांत जामेंहुए हो अथवा नामकर्म किया गया हो उसकी करै ॥ ७० ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम् । जन्मन्येकोदकानां तु

त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥७१॥ स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः। यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥७२॥

अर्थ—सहाध्यायि ब्रह्मचारीके मरनेमें एकदिनका अशौच है और समानोदक अर्थात् सात पीढीसे परे हों उनके जन्ममें तीन दिनका अशौच है ॥ ७१ ॥ जिस कन्याकी सगाई होगई हो और विवाह न हुआ हो उसके मरनेमें उसके पति आदिकोंको तीन दिनका अशौच है और पिता आदिकोंकोभी तीन दिनका है विवाह होनेंके पीछे सब अशौच पति आदिकोंकै है ॥ ७२ ॥

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम्। मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥ सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः। असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिबान्धवैः ॥७४ ॥

अर्थ—क्षार लवण अर्थात् कृत्रिम नमकसे रहित अन्नको भोजन करे और तीन दिनतक नदी आदिकोंमें स्नान करे मांसको भक्षण न करे और अकेला पृथ्वीपे सोवै ॥ ७३ ॥ यह जो मरनेमें अशौच कहा है सो पास रहनेवालोंको कहा है और जो परदेशमें मराहो उसका अशौचसंबंधी बांधवोंकेवास्ते आगे कहैंगे ॥७४॥

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्। यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥ अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्। संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति ॥ ७६ ॥

अर्थ—जो विदेशमें मराहो तिसको दशदिन नहीं हुएहो किंतु सुनें उस दिनसे दशदिन पूरे होनेमें जो बाकी दिन रहे हौं उतनेंही दिनका अशौच है ऐसेही जन्ममेंभी जाने ॥ ७५ ॥ दश दिन व्यतीत हो जानेंपर मृत पुरुषको सुनेंमें अथवा बालकके जन्मको सुननेमें तीन दिनकी अशुद्धि है और वर्षदिन व्यतीत होनेंके बादपर देशके मृत पुरुषके सुननेमें सपिंड बांधव स्नान मात्रसे शुद्ध हो जाते है ॥ ७६ ॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च। सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥ बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते। सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुद्ध्यति ॥ ७८ ॥

अर्थ—दश दिन व्यतीत होनेके पीछे मरनेको सुनके अथवा पुत्र जन्मको सु-

नके सपिंड बांधव वस्त्रसहित सचैल स्नान करके शुद्ध होजाते है ॥ ७७ ॥ जिसके दांत नहींहुए हौ ऐसा बालक परदेशमें मरजावे और पृथक् पिंड अर्थात् सात पीढीसे बाहिर हो उसको सुनके वस्त्रसहित स्नान करनेसे बांधव मनुष्य शुद्ध होजाते है ॥ ७८ ॥

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी । तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥७९॥ त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति । तस्य पुत्रे च पत्न्या च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

अथ–दश दिनके भीतर जो यदि फिर मरना होजावे अथवा बालकके जन्मसे दशदिन भीतर फिर अन्य बालकका जन्म होजावे तो तिस पहले बालेके दशदिन होवें तवतक अशुद्धि रहती है ॥ ७९ ॥ आचार्य मरजावे तब शिष्यके तीन रात्रीका अशौच है और आचार्यका पुत्र मरै अथवा स्त्री मरे तब एक दिनरातका अशौच है ॥ ८० ॥

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । मातुले पक्षिणीरात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च ॥ ८१ ॥ प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः । अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥

अर्थ–वेदशास्त्रको पढानेंवाला श्रोत्रियके मरनेंमें तीन रात्रितक अशुद्धि रहती है और मामा शिष्य ऋत्विक् असपिंड बांधव इनके मरनेंमें डेढ दिनका अशौच रहता है ॥ ८१ ॥ ब्राह्मण आदिवर्ण जिस राजाके राज्यमें वसते हौं वह राजा मर जावे तव उनके एकदिनका अशौच है दिनके मरनेंमें दिनभरका रात्रिके मरनेंमें रात्रिभरका और वेदका पढाहुआ श्रोत्रियके मरनेंमें तीनदिनका विनापढाहुआ श्रोत्रिय जिसके घरमें मरजावे उसकै एकदिनका और वेदको पढानेंवाला गुरुके मरनेंमें एकदिनका अशौच है ॥ ८२ ॥

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः । वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥ न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः । न च तत्कर्म कुर्वाणः स नाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत् ॥८४॥

अर्थ–ब्राह्मणके सपिंड पुरुष मरनेंमें दशदिनका अशौच है क्षत्रिय बारह दिनमें शुद्ध होता है और वैश्य १५ दिनमें शुद्ध होता है शूद्रके अशौच होनेंमें १ महीनामें शुद्ध होता है ॥ ८३ ॥ अशौचके विशेष दिन नहीं वढावे क्योंकि अ-

स्थिसंचयनसे पहलेतक अशौच रहता है यह अशौचका संकोचकाल पहले कह-दिया है इसवास्ते अग्निहोत्र आदि कर्मोंको करे और आप न कर सके तो पुत्र आदिकोंसे करवावै अग्निहोत्र आदि कर्म करताहुआ पुरुष अशुचि नहीं होता है ॥ ८४ ॥

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा । शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति ॥ ८५ ॥ आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने । सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ८६

अर्थ–चांडाल रजस्वला स्त्री ब्रह्मघाती आदि पतित दश दिनतक प्रसूस्त्री मुरदा मुरदाको स्पर्श करनेंवाला पुरुष इनके छूनेंसे स्नान करके शुद्ध होता है ॥ ८५ ॥ श्राद्धआदि करनेंकी इच्छावाला पुरुष स्नान आचमन आदि करके शुद्ध हो रहा हो तब चांडाल आदिके दर्शनहो जानेमे उदुत्यं जात वेदसे, इत्यादिक सूर्य देवताके मंत्रोंको यथाशक्ति जपै ॥ ८६ ॥

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति । आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा ॥ ८७ ॥ आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात् । समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति ८८

अर्थ–स्नेहयुक्त मनुष्यकी हड्डीको स्पर्श करनेंमे स्नान करनेंसे शुद्ध होता है और स्नेहविना मनुष्यकी हड्डीछुह लेवे तो आचमन कर गौका स्पर्शकर और सूर्यके दर्शनकर शुद्ध हो जाता है ॥ ८७ ॥ व्रतके आदेशवाला ब्रह्मचारी व्रतकी समाप्तिपर्यंत उदकदान अर्थात् षोडशी आदि प्रेतकर्म नहीं करे और व्रतकी समाप्ति हो जावे तब प्रेतोदकदान करके तीन दिनतक अशुद्ध रहता है यह विषय मातापिताके मरनेंसे अन्य जगह है ॥ ८८ ॥

वृथा संकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम् । आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया ॥ ८९ ॥ पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः । गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥

अर्थ–वे प्रयोजन विशेष करके अपनें धर्मको त्यागनेंवाले संकरोंकी अर्थात् हीन वर्ण करके उत्तम स्त्रियोंमें जन्मेंहुए वर्ण संकरोंकी और जहरखानें आदिसे अपनें शरीरको त्यागनेंवालोंकी और वेदके पढेहुएविना गेरूमें कपडे रंगके संन्यास धारण कियेहुयोंकी षोडशी आदि उदक क्रिया, प्रेत क्रिया नहीं करनी

चाहिये ॥ ८९ ॥ जो पुरुष गेरू आदिमें कपडे रंगके पाषंड धारण करके विचरते है और वेदसे विरुद्ध रहनेंवाले है उनकी और इच्छापूर्वक विचरनेंवाली जार स्त्रियोंकी और गर्भपात करानेंवाली तथा भर्त्तासे द्रोह करनेंवाली वा, मदिरा पीनेंवाली स्त्रियोंकी प्रेतक्रिया न करे ॥ ९० ॥

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम् । निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥ दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत् । पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

अर्थ—उपनयन करानेंवाला संपूर्ण वेदको पढानेंवाला अपना आचार्य,किंवा पिता माता गुरु इन्होंकी प्रेतक्रिया दश रात्र कर्म करनेंसे ब्रह्मचारीके व्रतका लोप नहीं होता है ॥ ९१ ॥ मरेहुए शूद्रको ग्रामके दक्षिणकी तर्फवाले दरवाजेसे निकाले वैश्यको पश्चिमके दरवाजेसे क्षत्रियको उत्तरके दरवाजेसे और ब्राह्मणके मुरदेको पूर्वके दरवाजेसे निकाले ॥ ९२ ॥

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम् । ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३ ॥ राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते । प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चान्नकारणम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—राजाकै सपिंड पुरुषके मरनें जन्मनेंमेंभी सूतक नही लगता है क्योंकि राजाओंकै राज्याभिषेक इंद्रका स्थान प्राप्त हो जाता है और चांद्रायण आदि व्रत करनेंवाले वा यज्ञ करनेंवालोंकैभी सूतक नहीं लगता है क्योंकि ये सदा ब्रह्मके समान निष्पाप रहते है ॥ ९३ ॥ राजाओंकै महात्मिक स्थान अर्थात् महात्माका स्थान यह राज्यकी पदवी है तिसमें स्थितहुए राजाकी तात्काल शुद्धि हो जाती है क्योंकि प्रजाकी रक्षाका और दुर्भिक्ष आदिमें अन्नदान देनेंका हेतु यह राज्यका आसन है और राज्यसे रहित क्षत्रियोंके तात्काल शुद्धि नहीं है ॥ ९४ ॥

डिंवाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च । गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥ ९५ ॥ सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च । अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः ॥ ९६ ॥

अर्थ—विनाराजाके युद्धमें मरेहुयोंका और बिजलीसे मरेहुयोंका तथा राजाको दंड देके फांसी आदिसे मराये हुयोंका गौ ब्राह्मणकेवास्ते मरनेंवालोंका और जिसको राजा अपना पुरोहित आदि मानता हो उसका सूतक नहीं लगता है

॥ ९५ ॥ सोम अग्नि सूर्य वायु इंद्र यम द्रव्यका पति कुबेर, वरुण इन आठ लोक पालोंका संबंधी देहको राजा धारण करता है ॥ ९६ ॥

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते । शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम् ॥९७॥ उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च । सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः ॥ ९८ ॥

अर्थ–इंद्रआदि लोकेशोंके अंशसे राजा होता है इसवास्ते इस राजाकै अशौच नहीं है क्योंकि मनुष्योंका शौच अशौच जो है वह लोकेशों करके नष्ट हो जाता है इसवास्ते लोकेश्वरोंके रूपवाला राजाकै अशौच कहां है ॥ ९७ ॥ युद्ध होतेहुए सन्मुख होके जो शस्त्रों करके मरजाता है क्षत्रधर्ममें रत रहता है तिसको तात्काल अग्निष्टोमादिक यज्ञका फल प्राप्त होता है और तात्कालही उसका सूतक निवृत्त हो जाता है यह इस शास्त्रमें मर्यादा है ॥ ९८ ॥

विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम् । वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः ॥९९॥ एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः।असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत ॥१००॥

अर्थ–अशौचके अंतमें श्राद्धआदि क्रिया करनेंवाला विप्र जलका स्पर्श आचमन करके शुद्ध हो जाता है और क्षत्रिय वाहन शस्त्र आदि स्पर्श कर वैश्य बैलके हांकनेंके चाबुकको पकडके शूद्र लाठीको पकडनेंसे शुद्ध होता है ॥ ९९ ॥ हे द्विजाहो आपके आगे सपिंड पुरुषोंमे होनेंवाला यह अशौच सूतक कहा है अब असपिंड अर्थात् सात पीढीसे बाहिरके पुरुषोंमें होनेंवाली प्रेतशुद्धिको सुनों १००

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् । विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान्॥१०१॥ यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति । अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

अर्थ–ब्राह्मण असपिंडमें मरेहुए द्विजकी स्नेहकरके प्रेतक्रिया करनेंसे अथवा माताके बांधवआदि वा वहैन आदिकोंकी दाहआदि क्रिया करनेंसे तीन दिनमें शुद्ध होता है ॥ १०१ ॥ असपिंड पुरुषकी दाहआदि क्रिया करनेंवाला पुरुष जो यदि मृत पुरुषके घरमें रहे और अन्न खावे तो दशदिनमें शुद्ध होता है यदि तिनका अन्न न खावे और तिनके घरमें न रहे तो एकदिनका है जो यदि तिनके घरमें रहै और अन्न न खावे तो पूर्वोक्त तीन दिनका सूतक है ॥ १०२ ॥

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च। स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥१०३॥ न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्। अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता ॥१०४॥

अर्थ–मरेहुए सगोत्री मुरदेके संग अथवा विना गोत्रके मुरदेकेसंग दाहकर्ममें जाके सब वस्त्रोंसहित स्नानकर अग्निका स्पर्शकर घृतका भोजन करनेसे शुद्ध होता है ॥ १०३ ॥ अपनी उत्तम जातिके जन होतेहुए ब्राह्मण आदि उत्तम वर्णके मुरदेको शूद्र करके ले जाके नहीं जलावे क्योंकि शूद्रके स्पर्श करके दूषित होनेंसे शरीरकी आहुति स्वर्गकेवास्ते हित नहीं होती है ॥ १०४ ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपांजनम्।वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥१०५॥ सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्। योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥१०६॥

अर्थ–ज्ञान तप अग्नि आहार मृत्तिका मन जलका मसलना वायु यज्ञादिक कर्म सूर्यकाल ये सब करनेवालोंकी शुद्धि करनेंवाले है ॥ १०५ ॥ इन पूर्वोक्त सब शुद्धियोंमें द्रव्यका शौच परमश्रेष्ठ है अर्थात् अन्याय करके पराये धनको हरनेंकी इच्छाको छोडदेवे यह श्रेष्ठ है जो इस प्रकार धनमें शुचि है वही पवित्र है जो मृत्तिकासे अथवा जलसे पवित्र रहता है और इस प्रकार धनमें शुचि नहीं है वह अशुद्धही है ॥ १०६ ॥

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः। प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः॥१०७॥ मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति।रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः १०८

अर्थ–क्षमा करके विद्वान् शुद्ध होजाते है अकर्तव्यकर्मको करनेवाले पुरुष दान देनेंसे शुद्ध होते है जिनके गुप्त पाप हों वे अप्रकट पापवाले पुरुष गायत्री आदि जप करके शुद्ध होते है वेदको जाननेंवाले विद्वान् तप करके शुद्ध होते है १०७ मल आदिकोंसे दूषित हुई वस्तु मृत्तिकासे और जलसे शुद्ध होती है और परपुरुषके संग मैथुनकी इच्छा करनेवाली मनसे दूषित हुई स्त्री महीना महीनाके आर्त्तवसे शुद्ध होती है और सन्यास करके द्विजोत्तम शुद्ध होता है ॥ १०८ ॥

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति। विद्यातपोभ्यां

भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥१०९॥ एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः । नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम् ११०

अर्थ–जल करके शरीर शुद्ध होते है सत्य वचन बोलनेंसे मन शुद्ध होता है ब्रह्मविद्या करके और तप करके जीवात्मा शुद्ध होता है ॥ १०९ ॥ यह शरीरसंबंधी शौचका निर्णय हमनें आपकेप्रति कहा अब अनेक प्रकारके द्रव्योंकी शुद्धिके निर्णयको सुनो ॥ ११० ॥

तैजसानां मणीना च सर्वस्याश्ममयस्य च । भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः ॥ १११ ॥ निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति । अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम् ॥ ११२॥

अर्थ–सुवर्ण आदि धातु मरकत आदि मणि सब प्रकारके पत्थर इनकी शुद्धि राख मिट्टी जल इन करके होती है ऋषिजनोंकरके ऐसे कही है ॥ १११ ॥ जिसमें उच्छिष्ट न लगा हो वह सोनेंका बरतन सींप मोती शंख इत्यादि जलमें होनेवाले और पत्थरके वरतन वा जिस्में नखासी, न कीहो, वे चांदीके बरतन ये सब राखकेविना जलसेही शुद्धहो जाते है ॥ ११२ ॥

अपामग्नेश्च संयोगाद्धेमं रौप्यं च निर्बभौ । तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः ॥ ११३ ॥ ताम्रायः कांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च । शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः ११४

अर्थ–अग्नि और जलके संयोगसे चांदी सोना हुआ है इसवास्ते इन दोनोंकी शुद्धि अग्नि जल इन करके करै क्योंकि अपनें कारण करके शुद्धि करना यह अति श्रेष्ठ है अग्निसे तपाके जलसे धोवै यह प्रकार है ॥ ११३ ॥ तांबा लोहा कांसी पीतल रांग सीसा इनकी शुद्धि क्षार खटाईका पानी और पानी इन करके यथायोग्य देखके करै जैसें तांबाको खटाईसे, कांसीको राखसे इत्यादि क्रमसे ॥ ११४ ॥

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिराप्लवनं स्मृतम् । प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम् ॥ ११५ ॥ मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि । चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु ॥११६॥

अर्थ–काक कीट आदिसे दूषित हुए घृत तैल आदि द्रव पदार्थोंकी शुद्धि

पिंघलाके छाननेंसे और कुशासे उत्छवन करनेंसे शुद्धि होती है शय्या आदिकों-की प्रोक्षण करनेंसे शुद्धि होती है काष्ठ लकडी आदिकी छीलनेसे शुद्धि होती है ॥ ११५ ॥ यज्ञके चमस संज्ञक और ग्रहसंज्ञक पात्रोंकी शुद्धि धोनेंसे होजाती है और यज्ञके अन्य पात्रोंकी शुद्धि हाथसे मार्जन करनेंसे होजाती है ॥ ११६ ॥

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा । स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च ॥ ११७ ॥ अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम् । प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते ११८

अर्थ-चरू घृतसे युक्त साकल्य स्रुवा इन यज्ञकी सामग्रियोंकी शुद्धि गरम जलसे धोनेंसे होती है और स्फ्य यज्ञका पात्र विशेष सूप गाडा मूसल ऊखल इनकी शुद्धिभी गरम जलके धोनेंसे होती है ॥ ११७ ॥ बहुतसा इकट्ठा धान्य और बहुतसे वस्त्रोंकी शुद्धि जलके छिडक देनेंसे हो जाती है और थोडे धान्य वस्त्रोंकी शुद्धि जल करके धोनेंसे होती है ॥ ११८ ॥

चेलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च । शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते ॥ ११९ ॥ कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः । श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः ॥ १२० ॥

अर्थ-स्पर्श करनेंके योग्य चमडेकी शुद्धि और चटाई आदिकी शुद्धि वस्त्रकी तरंह होती है और शाक मूल फल इनकी शुद्धि धान्यकी तरंह होती है ॥११९॥ पाटके वस्त्रोंकी और भेडके ऊनके कंवल आदिकोंकी शुद्धि क्षार वा उषर भूमि-मृत्तिकासे होती है और नैपालके कंवल आदिकोंकी शुद्धि रीठीसे होती है और तृणआदिकोंके कपडोंकी शुद्धि बेलफल लगाधोनेंसे होती है रेशमी वस्त्रों-की शुद्धि पीले सरसवके चूर्ण लगाधोनेंसे होती है ॥ १२० ॥

क्षौमवच्छंखशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च । शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥१२१॥ प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति । मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥

अर्थ-शंख सींग हस्तीदांतआदि अस्थि इनकी शुद्धि रेसमी वस्त्रकी तरंह करै अथवा जाननेंवाले पुरुषको गोमूत्र और जल करके शुद्धि करनी चाहिये॥१२१॥ घास, लकडी और फूसआदिकी शुद्धि छिडकनेंसे होती है और लीपनेंसे घरकी

शुद्धि होती है और मृत्तिकाका वर्त्तन अर्थात् वखेसकोरे आदिकी शुद्धि फिर आगमें देनेंसे होती है ॥ १२२ ॥

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः। संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥ संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च। गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥

अर्थ–शराव, मूत्र, विष्ठा, थूक, पीब, और रक्त इन करके विगडाहुआ मिट्टीका पात्र फिर पकानेंसेभी नहीं शुद्ध होता है ॥ १२३ ॥ वहारनेंसे लीपनेंसे गोमूत्रआदिके छिडकनेंसे कुछ जमीन खोदनेंसे और गौवोंके वसनेंसे इन पांचोंसे भूमिकी शुद्धि होती है ॥ १२४ ॥

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम्। दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥ यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः। तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

अर्थ–पक्षी करके खायाहुवा है कोइ भाग जिस्का और गौ करके सूंघा हुआ और पैर करके मसलाहो या ऊपर उसके छींक दिया हो और किडे तथा केश अर्थात् बाल इन करके दूषित होतो ऐसे अन्नमैं मृत्तिका डालनेंसे शुद्धि होती है ॥ १२५ ॥ अमेध्य अर्थात् विष्ठा मूत्र आदिकी दुर्गंध और लेप नहीं जाय, तबतक उस्के मिट्टी लगाके जलसे धोवे तब संपूर्ण द्रव्यकी शुद्धि होती है ॥ १२६ ॥

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्। अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥ आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत्। अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः २८

अर्थ–देवताओंनें ब्राह्मणोंके ये तीन पवित्र कहे है एकतो जो नहीं देखाहो दूसरा जलसे धो लिया है ३ ब्राह्मणकी वाणी करके ठीक ठीक सराहा गयाहो ये तीन है ॥ १२७ ॥ जिस जल करके प्यासी गौ तृप्त होजावे और विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुसे लिप्त न हो गंध वर्ण रस इनसें युक्त हो ऐसा जल शुद्ध भूमिमें स्थित हो वह शुद्ध है ॥ १२८ ॥

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम्। ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥ नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणा

शकुनिः फलपातने।प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः१३०

अर्थ–मालाकार आदिकोंका हाथ सदा शुद्ध है और दुकानमें जो बेचनेको रक्खा है वह सब शुद्ध है और ब्रह्मचारीकी भिक्षा सदा पवित्र है ऐसी यह इस शास्त्रमें व्यवस्था है ॥ १२९ ॥ स्त्रियोंका मुख सदा शुद्ध है और चोंचसे वृक्ष परसे फलके गिरानेंमें काक आदि पक्षी शुद्ध है गौको दुहनेंमें वछरा शुद्ध है और मृगकी सिकार पकडनेंके समय कुत्तेको मुख शुद्ध है ॥ १३० ॥

श्वभिर्हतस्य यन्मासं शुचि तन्मनुरब्रवीत् । क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः॥१३१॥ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः।यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः१३२

अर्थ–कुत्ताकरके माराहुआ मृगआदिका जो मांस है वह पवित्र है ऐसे मनुजीनें कहा है और व्याघ्र चीलह चांडाल कसाई इत्यादिकोंसे हत कियाहुआ काभी मांस पवित्र है परंतु यह व्यवस्था पूर्वोक्त श्राद्धादिकोंमेंही है ॥ १३१ ॥ नाभिसे ऊपरके जितनें मनुष्यके शरीरमें छिद्र है वे सब पवित्र है और नाभिसे नीचेके छिद्र अशुद्ध है और शरीरसे निकसेहुए मल अशुद्ध है ॥ १३२ ॥

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः । रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत्॥१३३॥विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत् । दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि१३४॥

अर्थ–मांखी बोलनें समय मुखसे निकसे सूक्ष्म सूक्ष्म जलके कणके छाया गौ अश्व सूर्यकी किरण धूल भूमि वायु अग्नि ये सब चांडाल आदिके स्पर्श हुएभी स्पर्शमें शुद्ध है ॥ १३३ ॥ मल मूत्रका त्याग कियाजाता है जिससे उसकी शुद्धिकेवास्ते अर्थात् गुदा आदिकेवास्ते मिट्टी जलको ग्रहण करे जितनेंसे दुर्गंध आदि जावे उतना ग्रहण करै और शरीरमें होनेवाले जो बारह मल है उनकी शुद्धिकेवास्ते मृत्तिका और जलको ग्रहण करे ॥ १३४ ॥

म वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट् घ्राणकर्णविट् । श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥१३५॥ एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश। उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता॥१३६॥

अर्थ–बसा अर्थात् मांसकी चरवी वीर्य रक्त मज्जा मूत्र विष्ठा नासिका का-

मल कानका मैल कफ आंखिका मैल पसीना ये बारह शरीरके मल हैं ।१३५॥ विष्ठा मूत्रके त्यागके समय जलसहित मृत्तिका पेशावकी जगह एकवार लगाके धोवे और गुदामे तीन वार मिट्टी लगाके धोवे और शुद्धिकी इच्छा करनेवालेको दोनों हाथोंमें सातवार मिट्टी लगानी चाहिये ॥ १३६ ॥

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्। त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम् ॥ १३७॥ कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत्। वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा॥ १३८॥

अर्थ–ये शुद्धि गृहस्थी पुरुषोंकी है और ब्रह्मचारीको इससे दूनी और वनमें रहनेंवालेको तिगुनी और यतीपुरुषोंको चौगुनी इस प्रकार शरीरकी शुद्धि करनी ॥ १३७ ॥ मल मूत्र करनेके पीछे शुद्ध होके आचमन करे और नेत्रादिकोंको हाथसें स्पर्श करे और वेद पढनेके समय तथा भोजनके पीछे निश्चै आचमन करे ॥ १३८ ॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्। शारीरं शौचमिच्छन्हि स्त्रीशूद्रस्तु सकृत्सकृत् ॥१३९॥ शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्। वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम् १४०

अर्थ–शरीरके पवित्र करनेंकी इच्छा करनेवाला आदमी प्रथम तीन आचमन करे दोवार मुखकों हाथसे पानी लगाके धोवे और शूद्र तथा स्त्री एकही वार आचमन करनेसे शुद्ध होते है ॥ १३९ ॥ यथार्थ शास्त्रकी रीतिसे चलनेवाले शूद्रको मुंडन महीनेभरमें कराना चाहिये और वैश्योंकी तरह सूतकादिकोंमें तथा द्विजोंका उच्छिष्ट भोजन करे ॥ १४० ॥

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः। न श्मश्रूणि गतान्यास्यन्न दन्तान्तरधिष्ठितम् ॥ १४१ ॥ स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान्। भौमिकैस्ते समाज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत् ॥१४२॥

अर्थ–मुखसे जो थूकके कणके शरीरमें पडते हैं वे शरीरको अशुद्ध नहीं करते और तैसेही मुखमें गई मूंछेंभी अशुद्ध नहीं होती और दांतोंके अंतरमें अर्थात् दांतोंके बीचमें रहा हुआ अन्नभी अशुद्ध नहीं कहाता है ॥ १४१ ॥ दूसरेको आचमन करातेहुए जो बिंदु पैरोंको स्पर्श करती हैं वे भौमिक अर्थात् उच्छिष्ट

भूमिमें गिरेहुए जलकी समान हैं इसवास्ते तिन गिरती हुई बिंदुवोंसे आचमन नहीं करे ॥ १४२ ॥

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथञ्चन । अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात् ॥ १४३ ॥ वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत् आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् १४४

अर्थ—उच्छिष्ट वस्तुकरके स्पर्श कराहुआ जो गल आदि अंगोका गहना उस्को विना निकालेही आचमनकरके मनुष्य शुद्ध होता है और वह गहनाभी शुद्ध होजाता है ॥ १४३ ॥ जो मल त्यागनेके समय छर्दिहुई होवे तो स्नान करके कुछिक घृत भोजन करे और भोजन करके वमन किया हो तो आचमन करे और मैथुनकरके स्नान करना चाहिये ॥ १४४ ॥

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च । पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन् ॥१४५॥ एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च । उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत १४६

अर्थ—सोकरके, छींकनें करके भोजन करके थूकनें करके झूठ बोलनेकरके जल पीने करके पढनेंके समय शुद्ध हुआ पुरुषभी आचमन करे ॥ १४५ ॥ यह संपूर्ण शौचविधि और द्रव्योंकी शुद्धि तुह्मारे आगे कही अब संपूर्ण वर्णोंकी स्त्रियोंके धर्म सुनो ॥ १४६ ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता । न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि ॥१४७॥ बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने । पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् १४८

अर्थ—बालक अवस्थामें अथवा जवान अवस्थामें वा वृद्ध अवस्थामें स्त्रीको घरोंमें अपनी मरजीसे कुछभी कृत्य नहीं करना चाहिये अर्थात् भाई पति पुत्र आदिकोंके आधीन रहै ॥ १४७ ॥ स्त्री बालकपनेंमें पिताके वशमें रहै जवान अवस्थामें पतिके वशमें रहै और पति मरजावे तब पुत्रोंके वशमें रहै परंतु स्त्री कभीभी स्वतंत्र अपनें आधीन न रहे ॥ १४८ ॥

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः । एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥ सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु

दक्षया। सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

अर्थ–स्त्रीको पिता भर्ता पुत्र इनकेसंग वैरकरके वियोग नहीं करना चाहिये क्योंकि इनसे अलग होनेंमें स्त्री दोनों कुलोंको निंदित करती है ॥१४९॥ सदा भर्ता कुपित होजावे तबभी, घरके कृत्योंमें सुंदर चतुराई करके वरतन आदिकोंको मांजनेंकरके अच्छी तरहसे रहना चाहिये और खरचमें थोडा धन देना ऐसे स्त्रीको रहना चाहिये ॥ १५० ॥

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता चानुमते पितुः। तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लंघयेत्॥१५१॥ मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः। प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

अर्थ–इस स्त्रीको पिता जिसकेवास्ते देदेता है अथवा पिताकी आज्ञासे भ्राता देदेता है तिस अपनें पतिकी जीवतेहुए सदा सेवा करै और मरेंपीछे इसके श्राद्धादि करे व्यभिचार न करे ॥ १५१ ॥ इन स्त्रियोंको विवाहोंमें जो स्वस्त्ययन और प्राजापत्य होम कियाजाता है सो मंगलकेवास्ते अर्थात् मनोवांछित संपत्तिकेवास्ते है और वाग्दान सगाई करना पतिके मालिक होनेंका कारण है ॥१५२॥

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ॥ सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥ विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः । उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

अर्थ–विवाहहुआ पति, स्त्रीकूं ऋतुसमय तथा संपूर्ण समयमें इस लोकमे सुख देता है तथा परलोकमें सदा सुख देता है इसवास्ते स्त्रीको पतिकी आज्ञामें रहना चाहिये ॥ १५३ ॥ खोटे कर्मोंको करनेंवाला तथा परस्त्रीसे गमन करनेंवाला वा, गुणोंकरके रहित ऐसाभी पति, उत्तम स्त्रीनें सदा देवताकी समान पूजना चाहिये ॥ १५४ ॥

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम्। पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥१५५॥ पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा। पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥१५६

अर्थ–स्त्रीको पतिकी सेवासे पृथक् यज्ञ तथा व्रत वा उपास ये सब कुछभी फल नहीं देते और पतिकी सेवासे स्त्री स्वर्गमें प्राप्त होती है इसवास्ते पतिकी से-

वा करनी चाहिये ॥ १५५ ॥ पतिलोककी इच्छा करनेंवाली श्रेष्ठ स्त्री अपनें विवाहे पतिका जीवतेका अथवा मरेहुएका कुछभी अप्रिय नहीं करे ॥ १५६ ॥

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥१५७॥ आसीतामरणात्क्षांता नियता ब्रह्मचारिणी । यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥

अर्थ–विधवा स्त्री पवित्र पुष्पमूल फलोंकरके उत्तम देहकों क्षीण करे पतिके मरें पीछे जार बुद्धिकरके परपुरुषका नामभी नहीं लेवे ॥ १५७ ॥ एक पतिवाली स्त्रियोंके धर्मकी इच्छा करनेंवाली स्त्री मरणपर्यंत क्षमा और नियम तथा ब्रह्मचारि धर्म करके युक्त रहे और विना पुत्रवाली स्त्रीको पुत्रके अर्थभी पर पुरुषकी सेवा नहीं करनी ॥ १५८ ॥

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् । दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥ १५९ ॥ मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता । स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥

अर्थ–संतान उत्पन्न कियें विनाभी सनक, सनंदन, सनातन, सनत्कुमारआदि ब्रह्मचारि ब्राह्मणोंके अनेक सहस्रकुल स्वर्गको प्राप्त हुए हैं इसवास्ते कोई नेम नहीं कि पुत्रविना स्वर्गमें नहीं जाता ॥ १५९ ॥ पतिके मरें पीछे ब्रह्मचर्यमें युक्त रहनेंवाली श्रेष्ठस्त्रीविना पुत्रवाली होतोभी स्वर्गको जाती है जैसें वे पूर्वोक्त सनकादिक ब्रह्मचारि पुत्रोंविना स्वर्गमें गये तैसे ॥ १६० ॥

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते । सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥१६१॥ नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे । न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते ॥ १६२ ॥

अर्थ–मेरे पुत्र जन्मै तो तिस पुत्र करके मैं स्वर्गमें जाऊं इस लोभसे जो परपुरुषको सेवती है वेही इसलोकमें निंदाकों प्राप्त होती है. और स्वर्गभी तिस पुत्रकरके नहीं मिलता ॥ १६१ ॥ दूसरे पुरुष करके जन्मीहुई संतान शास्त्रकी रीतिसे उस स्त्रीकी नहीं और दूसरी स्त्रीमें जन्मि संतान पुरुषकी है इसवास्तै श्रेष्ठ स्त्रियोंको दूसरा पतिकी संतान शास्त्रमें नहीं कही ॥ १६२ ॥

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते । निन्द्यैव सा भवेल्लोके

परपूर्वेति चोच्यते ॥१६३॥ व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्। शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥१६४॥

अर्थ–अपनें क्षत्रियआदि पतिकों त्यागके जो स्त्री ब्राह्मण आदि पतिको सेवती है वह स्त्री इस लोकमें निंदित है और संसारमें उसें यह कहते है कि यह दो पुरुषोंकी स्त्री है ॥ १३२ ॥ पर पुरुषसे भोग करनें करके स्त्रीकी इस लोकमें निंदा होती है और मरके सियारी होती है और कुष्ठआदि रोंगोंकरके दुःखी होती है ॥ १६४ ॥

पतिं या नाभिचरति मनो वाग्देहसंयता। सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥ १६५ ॥ अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता। इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

अर्थ–जो स्त्री मन बचन देह करके पतिकी आज्ञाको करती है और पतिके लोकको जाती है और अच्छे पुरुष उस स्त्रीको साध्वी अर्थात् अच्छी कहते है ॥ १६३ ॥ मनवाक् देहको रोकके जो इस कहेहुए स्त्रीधर्ममें वर्तती है वह स्त्री इसलोकमें उत्तम कीर्तिको और परलोकमें पतिके लोकको प्राप्त होती है ॥ १६६ ॥

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम् । दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित् ॥१६७॥ भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीनन्त्यकर्मणि पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

अर्थ–धर्मको जाननेंवाला ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य यथार्थ शास्त्रोंमें कहाहुआ स्त्रीधर्ममें चलनेंवाली स्त्रीका दाह अग्निहोत्र करके और यज्ञपात्रोंकरके सहित करे ॥ १६७ ॥ अपनेंसे पहले मरनेंवाली अपनी स्त्रीके निमित्त अग्नि देके विनापुत्रवालेको तथा पुत्रवालेको फिर विवाह करना चाहिये और श्रौत अग्नि तथा स्मार्त अग्निका होम करे ॥ १६८ ॥

अनेनविधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत् । द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

अर्थ–इसप्रकार कहेहुए तीसरे अध्यायसे आदि लेके जो पंचयज्ञ आदि विधि कही है तिसको नित्यप्रति नहीं त्यागै पीछे आयुके दूसरे भागमें स्त्रीसहित घरमें वास करै ॥ १६९ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः । वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥ गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः । अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

अर्थ–जिसका समावर्तन कर्म हुआ हो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शास्त्रमें कहेहुए प्रकारसे घरमें वास करके पीछे निश्चल मन करके इंद्रियोंको जीतके विधिसे वनमें वास करे ॥ १ ॥ गृहस्थी जब अपनी त्वचाको बुढापासे लटक परी देखे और जराअवस्थामें सफेद वालोंको देखे और पुत्रके जन्मा हुआ पुत्रको देखे तिसी समय वनमें जाकर वास करे ॥ २ ॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् । पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥ अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् । ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

अर्थ–ग्रामके अन्न आदि आहारोंको त्यागके और संपूर्ण गौ अश्व शय्या आदि परिछदोंको छोडकर और अपनें पुत्रोंमें अपनी स्त्रीको छोडकर वा स्त्रीकरके साथही वनको गमन करे ॥ ३ ॥ श्रौत अग्निको और अग्निके पात्रोंको लेके और ग्रामको त्याग वनको जाकर इंद्रियोंको अपनें वसकर वनमें वास करे ॥ ४ ॥

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा । एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥ वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा । जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च ॥ ६ ॥

अर्थ–नानाप्रकारके पवित्र जो मुनियोंके अन्नकरके तथा शाक मूल फल इन्हों करके इन पांच वडी यज्ञोंको शास्त्रकी विधिसे करै ॥ १०५ ॥ मृगआदिकोंकी चर्म वा वृक्षोके वल्कलको शरीरमें धारन करे और सायंकाल तथा प्रातःकाल स्नान करे और नित्यप्रति जटामूछें रोम, नख धारण रक्खे अर्थात् कटावे नहीं ॥ ६ ॥

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः। अम्मूलफलभि-
क्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥ स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो
मैत्रः समाहितः। दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥

अर्थ—जो भोजन हो उसीमेंसे अपनी श्रद्धापूर्वक वलि तथा भिक्षा देवे और अपनें स्थानमें आपजनोंको जल मूल फल भिक्षाकरके मानैं ॥ ७ ॥ नित्य वेद पढे और जाडा तथा धूपको सहै और सब जीवोंका मित्र तथा मनको जीतनेंवाला नित्य दान करनेंवाला तथा दानलेनेंकरके रहित और संपूर्ण प्राणियोंमें दयावाला होवे ॥ ८ ॥

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि। दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौ-
र्णमासं च योगतः ॥ ९॥ ऋक्षेष्ट्याग्रायणं चैव चातुर्मास्यानि चा-
हरेत्। उत्तरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

अर्थ—गार्हपत्य कुंडकी अग्निको आहवनीय दक्षिणाग्निमें प्राप्त करनेंका नाम वितान है उसमें हुआ वैतानिक कहाता है तिस वैतानिक अग्निहोत्रको विधिसे करे अमावस्या तथा पौर्णमासीकोंभी करे और स्त्री रजस्वला हो तबभी अकेला पुरुष करे ॥ ९ ॥ नक्षत्र इष्टि तथा नवीन सस्यइष्टि तथा चतुर्मासका कर्म और उत्तरायण दक्षिणायन श्रौतकर्म इन सबको क्रमसे करे ॥ १० ॥

वासंतशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः। पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधि-
वन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥ देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं ह-
विः। शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२॥

अर्थ—वसंत ऋतुमें तथा शरदऋतुमें होनेंवाले जो पवित्र मुनियोंके अन्न अपनें हाथसे ल्यायेहुए हैं उन्हों करके सहित पुरोडाश तथा चरूओंको शास्त्रकी विधिसे तिसी तिसी यज्ञकी सिद्धिके लियें संपादन करे अर्थात् हवन करे ॥ ११ ॥ वनमें उत्पन्न हुए तिस पवित्र हविको अर्थात् पसहीको देवतोंके अर्थ होमिकै पीछे हवनसे बचे अन्नको आप भोजन करे और कालर, नौंन भोजन करे॥१२॥

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च। मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्ने
हांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥ वर्जयेन्मधु मासं च भौमानि कव-
कानि च। भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥

अर्थ—जमीनमें होनेंवाले जो शाक तथा यज्ञोंके निमित्त वनमें होनेवाले पवित्र वृक्षोंके पुष्प, मूल, फल, उन्होंको भोजन करे तथा फलोंसे उत्पन्न हुए स्नेहोंका भोजन करै ॥ १३ ॥ सहत तथा मांस तथा जमीनसें निकले शाक, तथा छत्र-केसे आकारवाले कवक शाक तथा भूस्तृणशाक मालवदेशमें प्रसिद्ध है तथा शिग्रुक अर्थात् सहौंजानाकी कलियोंका शाक बाल्हीक देशमें प्रसिद्ध है तथा श्लेष्मातकके फल अर्थात् लहेसवे इन सबको भोजन नहीं करे ॥ १४ ॥

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम् ॥ जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥ न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित् । न ग्रामजातान्यार्तोपि मूलानि च फलानि च १६

अर्थ—पहलके इकट्ठे किये मुनि अन्नको तथा पुरानें वस्त्रोंको तथा शाक मूल फलोंको आश्विनके महीनेमें त्याग देवे ॥ १५ ॥ मालिक करके छोडेहुएभी खेतोंमें होनेवाले अन्नको भोजन नहीं करे तथा ग्राममें होनेवाले फलोंको तथा मूलोंको भूंख करके पीडितभी हुआ नहीं भक्षण करे ॥ १६ ॥

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा । अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥ सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा । षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा १८

अर्थ—अग्नि करके पकाहुआ जो वनमें होनेंवाला अन्न उसको खानेंवाला होवे वा अपनी ऋतु करके पकेहुए फलको खानेंवाला होवे वा पत्थरोंसे कूटिके खानेंवाला होवे वा दांतोंसे चवाके खानेंवाला होवे ॥ १७ ॥ एकदिनके अन्नको संशय करनेंवाला वा महीने भरके भोजनको इकट्ठा करनेंवाला वा छह महीनेंके भोजनको इकट्ठा करनेंवाला या वर्स दिनके भोजनको इकट्ठा करनेंवाला होवे॥१८॥

नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः । चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः॥१९॥चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत् । पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत् ॥ २० ॥

अर्थ—अपनी श्रद्धासमान भोजनको इकट्ठा करके रात्रीमें भोजन करे वा दिनमें भोजन करे वा चोथे कालमें अर्थात् एक दिन लंघन करके दूसरे दिन सामको भोजन करे अथवा आठवें कालमें अर्थात् तीनदिन लंघन करके चौथे दिन रातको भोजन करे ॥ १९ ॥ चांद्रायण व्रतकी तरह शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्षको

व्यतीत करै शुक्लपक्षमें एक एक ग्रास घाटावे तथा कृष्णपक्षमें वढावे अथवा पूर्णमासी तथा अमावसमें पकायाहुआ जवका दलिया एकवार भोजन करे रातमें या दिनमें ॥ २० ॥

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा । कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥ भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् । स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥ २२ ॥

अर्थ–अथवा समय करके पकेहुए तथा आपसे पडेहुए जो पुष्प मूल फल केवल उन्होंही करके जीवे वानप्रस्थ मनुष्य और वानप्रस्थ धर्मके कहनेवाले शास्त्रोंके कहेहुए धर्ममें स्थित रहै ॥ २१ ॥ निखालस जमीनपर लोटता आवे जावे वा पैरोंके गुल्फोंकरके दिनभर खडा रहे और स्थान तथा आसनादिमें पर्यटन करे और कही न विचरै सायं प्रातः मध्यान्ह त्रिकाल स्नान करै ॥ २२ ॥

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः । आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥२३॥ उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितॄन्देवांश्च तर्पयेत् । तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

अर्थ–अपना तप वढनेके लिये चारों ओरोंको चार मठ लगावे ग्रीषमऋतुमें और पांचमा उपरसे सूर्यका तेजहो इस रीतीसे पंचाग्नि तप करे और वर्षाऋतुमें जहां मेध वर्षे तहां विना छत्री खडा रहै और हेमंतऋतुमें गीले कपडे पहिनें यह वर्षदिनका नेम तप है ॥ २३ ॥ प्रातःकाल तथा मध्यान्हकालमें तथा सायंकाल इन तीनों कालोंमें स्नान करताहुआ देवऋषिपितृतर्पण करे और पंदरह दिनका तथा महीनेका इससे आदि वडे वडे व्रतोंकरके तप करताहुआ अपने देहको सुषावे ॥ २४ ॥

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि । अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः ॥ २५ ॥ अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः । शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

अर्थ–वैतान नामवाले अग्नियोंको वानप्रस्थोंको शास्त्रकी विधिसे अपनें शरीरमें समारोपण करके तथा संसारकी अग्नि और घरको छोडके वृक्षोंके मूलमें घर बनाके मौन धारण करके मूल फल खानेंवाला होवे पसही आदि मुनियोंके अन्न भी न खावे यह विधि छह महीनोंसे पीछे है ॥ २५ ॥ सुखकी वस्तुओंमें जतन

नहीं करे तथा ब्रह्मचारी होवे अर्थात् स्त्रीसे भोग नहीं करे तथा जमीनमें सोवे और निवासस्थानमें ममतारहित और वृक्षोंके मूलमे वसनेंवाला होवे ॥ २६ ॥

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्। गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७॥ ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन् । प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

अर्थ–जो यदि वनमें फल न होवे तो वनमें रहनेवाले तपस्वी ब्राह्मणोंसे या औरोंसे अथवा गृहस्थी ब्राह्मणोंसे शरीरके निर्वाहमात्र अर्थात् प्राण बचजावें इतनी भिक्षा लेवे और उसकेभी अभावमें ॥ २७ ॥ ग्रामसे भिक्षान्न लाकर उस अन्नके आठ ग्रास बनाके पत्तेपर वासकोरेपर धरके वा हाथहीसें लेकर वनमें रहताहुआ वानप्रस्थाश्रमी भोजन, करे ॥ २८ ॥

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन् । विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः ॥ २९ ॥ ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः । विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये ॥ ३० ॥

अर्थ–वानप्रस्थ ब्राह्मण इन दीक्षाओंको अर्थात् इन नेमोंको तथा इनसें अन्य रहे जो वानप्रस्थ शास्त्रके कहेहुए नेम उन्होंको वनमें वसता हुआ करे और नानाप्रकारकी जो उपनिषदोंमें पढीहुई श्रुति तथा ब्रह्मकों प्रतिपादन करनेवाले विविध प्रकारके जो वाक्य उनको ब्रह्मकी प्राप्तिके अर्थ पाठ अर्थ सहित अभ्यास करे ॥ २९ ॥ ब्रह्मविद्या अर्थात् अद्वैत ब्रह्मज्ञान तथा तप अर्थात् धर्म इन दोनोंके बढनेंके अर्थ और शरीरकी शुद्धिकेवास्ते ऋषि ब्राह्मण गृहस्थी इन्होंने इन श्रुतियोंका सेवन किया है इसवास्ते सेवन करनी चाहिये ॥ ३० ॥

अपराजितां वास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः। आनिपाताच्छरीरस्य युक्तोवार्यनिलाशनः ॥३१॥ आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम् । वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

अर्थ–कुटिलपनेंसे रहित होके ईशान दिशाको आश्रयण करि वायु और जलका आहार करता रहै ऐसें शरीर छूटे तबतक करै और कई ऐसे कहते है कि असाध्य बीमारी होनेंमें ऐसा करे ॥ ३१ ॥ ये जो पहिले कहेहुए महर्षियोंके अनुष्ठान है इनके अन्यनुष्ठान करके जो ब्राह्मण शोक भय करके रहित हुआ अपने शरीरकों छोडता है वह ब्रम्हलोकमें पूजाको प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥ आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः। भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

अर्थ–इस प्रकार आयुके तीसरे भागको वनोंमें व्यतीत करके अर्थात् वानप्रस्थ आश्रमसे रागादिकोंकी शांति करके पीछे आयुके चौथे भागमें विषयादि संगोंको छोडकर संन्यास आश्रमको धारण करे ॥ ३३ ॥ पूर्वपूर्वसे उत्तरोत्तर आश्रममें प्राप्त होके अर्थात् ब्रह्मचारीसे गृहस्थाश्रम तिस्से वानप्रस्थाश्रम इस प्रकार प्राप्त हो यथाशक्ति हवन करताहुआ पुरुष भिक्षादान चिरकालतक सेवा इनसें थकाहुआ पुरुष जो सन्यास धारणकर लेता है वह मरके मोक्षको प्राप्त होता है ॥३४॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥३५॥ अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

अर्थ–पहले कहे इन तीन ऋणोंको दूर करके फिर मोक्षसाधक चतुर्थाश्रम संन्यासको धारण करै और तीन ऋणोंको दूर कियेंविना जो मोक्षसाधक संन्यासको धारण करता है वह नरकमें प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ वेदोंको विधिपूर्वक पढके पुत्रको धर्मसे उत्पादन करि और ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंका अनुष्ठान करि फिर चतुर्थाश्रम सन्यासमें मनको युक्त करै ॥ ३६ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्। अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥ प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ३८

अर्थ–जो पुरुष वेदोंके पढेहुए विना और पुत्रोंको उत्पादन कियें विना यज्ञोंका पूजन कियें विना मोक्षकी इच्छा करताहुआ पुरुष नरकमें जाता है ॥३७॥ यजुर्वेदोक्त सर्वस्व दक्षिणावाली प्रजापतिदेवताके उद्देशवाली इष्टिको अर्थात् यज्ञको करके और उसी उक्त विधान करके अपनेमें अग्निका समारोपण करके फिर ब्राह्मण चतुर्थाश्रम सन्यासको धारण करै ॥ ३८ ॥

यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्। तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥ यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नो-

त्पद्यते भयम् । तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥ ४० ॥

अर्थ–जो पुरुष सब स्थावर जंगमआदि सब जीवोंको अभय देके जो गृहाश्रमसे संन्यासाश्रमको धारण करता है तिस तेजकरके ब्रह्मलोक आदिक प्रकाश होते है अर्थात् तिनको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥ जिस द्विजसे प्राणियोंको सूक्ष्मभी भय नहीं उत्पन्न होता है तिसको मरनेंके पीछे किसीसेंभी भय नहीं होता है ४०

आगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः । समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥ एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान् । सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

अर्थ–घरसे निकसाहुआ पवित्र दंड कमंडलु आदिकोंसे युक्तहुआ मौनी किसी अन्य पुरुषसे समीपमें प्राप्त कियेहुए स्वादु अन्नादिकोंमें इच्छारहित होवे अर्थात् इस प्रकारसे चतुर्थाश्रमको धारण करै ॥ ४१ ॥ संपूर्ण संगोंको त्यागके रहनेंवालेको मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे जानताहुआ पुरुष नित्य अकेलाही विचरै अकेला रहनेंवाला पुरुष कुछ न छोडता है और न कुछ त्याग करके दुःख पाता है ॥ ४२ ॥

अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् । उपेक्षकोऽशंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥४३॥ कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता । समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

अर्थ–लौकिक अग्निके संयोगसे रहित हुआ और घरसे रहित हुआ संन्यासी अन्नकेवास्ते ग्रामका आश्रय करै और बीमार होनेंमें औषधी आदिका यतन न करे स्थिर चित्त रहै और मुनि धर्ममें समाधान रहै ॥ ४३ ॥ माटीके खपरेल आदिको भिक्षाका पात्र बनावे और रहनेंकेवास्ते वृक्षकी जडोंका आश्रय लेवे और पुराना कौपीन कंथा वस्त्र धारण रक्खे सब जीवोंमें समता रक्खे यह जीवन्मुक्त हुआ पुरुषका लक्षण है ॥ ४४ ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् । कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥४५॥ दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् । सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ–मरनें तथा जीवनेंकीभी इच्छा नहीं रक्खे किंतु अपनें कर्मोंके आधीन मरणकालको विचारै जैसे हुकमकी तामीलको नौकर देखता है तैसे समान

रहै ॥ ४५ ॥ दृष्टिसे शोधितकी हुई भूमिमें पैर रक्खे अर्थात् वाल हड्डी आदिकोंपे पैर न रक्खे और वस्त्रमेसे छानके जलको पीवे और सत्यसे पवित्रहुए वचनको कहै ४६

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन । न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥ क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुद्ध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् । सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

अर्थ—अन्य पुरुषसे कहे हुए तिरस्कारके वचनोंको सहै कछुभी अपना निरादर न माने और इस अस्थिर देहकै आश्रय होके किसीके संग वैर न करे ॥ ४७ ॥ क्रोध करताहुआ आप क्रोध न करे और निंदा करनेंवालेको आप अच्छा वचन बोले और पांच ज्ञानेंद्रिय मन बुद्धि इनकरके व्याप्त अर्थात् अपनें अपनें विषयोंके ग्रहण करनेंमें तत्पर ऐसे उन करके युक्त वाणीको झूठ न बोले अर्थात् ऐसी इस वाणीसे असत्य न कहे ॥ ४८ ॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः । आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥ न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया । नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ५०

अर्थ—सदा ब्रम्हध्यानमें युक्त रहै और दंड कमंडलु आदिकोंमेंभी विशेष इच्छा न रक्खे विषयोंकी अभिलाष न करे अपनें शरीरकी सहायतासे मोक्षके सुखकी इच्छा करताहुआ इस संसारमें विचरै ॥ ४९ ॥ भविष्यत उत्पात भूकंप आदिकोंके कहनेंकरके वा नक्षत्र ग्रह आदिकोंके फल कहनेंकरके वा हस्तरेषा तथा शास्त्रार्थ कहनेंकरके कभीभी भिक्षा लेनेंकी इच्छा न करे ॥ ५० ॥

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः । आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरागारमुपसंव्रजेत् ॥ ५१ ॥ क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् । विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥

अर्थ—तपस्वी वनमें रहनेंवाले तथा ब्राह्मण वा अन्य मनुष्य तथा पक्षी तथा कुत्ते और मांगनेंवाले इन्होंकरके व्याप्त घरोंमें मागनेंको न जावे ॥ ५१ ॥ क्लृप्त हैं नख केश श्मश्रु जिसके ऐसा मनुष्य भिक्षा पात्रको लेके तथा दंड और कमंडलु करके युक्त संपूर्ण जीवोंमें किसीको पीडा नही देताहुआ संपूर्ण कालमें बिचरता रहै मनको एकाग्र करके ॥ ५२ ॥

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च । तेषामद्भिः स्मृतं

शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥५३॥ आलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा। एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायं भुवोऽब्रवीत् ५४

अर्थ-तिस भिक्षा मागनेंवालेके पात्र सुवर्ण आदि धातु करके वर्जित और विछिद्रवाले होवें तिन जातियोंके पात्र जलही करके शुद्ध है जैसे यज्ञमें चमस शुद्ध है इसी प्रकार ॥ ५३ ॥ तुंबीपात्र तथा काष्ठका बनाहुआ पात्र अथवा मिट्टीका पात्र तथा वृक्षकी छालका बनाहुआ इतनें पात्र यतियोंके होनेंवास्ते स्वायंभुव मनुनें कहे है ॥ ५४ ॥

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे। भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥५५॥ विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने। वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ-एकवार प्राण रहनेके लिये भिक्षाको लावे तबभी घनी भिक्षाको भोजन न करे क्योंकि घनी भिक्षा खानेसे यतीको कामदेवकी वृद्धि होति है और पीछे स्त्री आदि संगोंमें प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥ रसोईका धूआं निकलगया हो और मूसलसे कूटना आदि कृत्य जहां बंद होगयाहो तथा पाक बनानेंकी अग्नि जहां शांत होगईहो और घरके मनुष्य स्त्री व जीम चुकेहो तथा रसोईके पात्र धरदिये हों तब ऐसे घरोंमें यती नित्य भिक्षा मांगे ॥ ५६ ॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्। प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥५७॥ अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः। अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥ ५८ ॥

अर्थ-भिक्षाके अलाभमें अर्थात् न मिले तो दुःख न माने तथा मिलनेंमें आनंद न मानें प्राण रहनेंमात्र अन्न भोजन करनेवाला होवे और मात्रा संगसे रहित होवे अर्थात् दंडकमंडलुमात्रमेंबी यह अच्छा नहीं इसकों तो त्यागूंगा यह अच्छा है इसको ग्रहण करूंगा ऐसा संग न करे ॥ ५७ ॥ पूजनपूर्वक भिक्षाकों यती निंदित मानें अर्थात् ऐसी भिक्षाको न लेवे क्योंकि पूजापूर्वक भिक्षाके लाभसे देनेंवालेके स्नेहकी ममताकरके मुक्त होनेंसे मुक्तिके समीप प्राप्त हुआभी यतिजन्म बंधको प्राप्त होता है ॥ ५८ ॥

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च । ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वे-

षक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

अर्थ–थोडे अन्नके खानेंसे तथा एकांतस्थानके रहनेसें रूप आदि विषयोंकरके खैंची हुई इंद्रियोंको निवर्त करे अर्थात् रोके ॥ ५९ ॥ इंद्रियोंको रोकनेसे तथा मनुष्योंमे प्रीति और वैर न करनेंसे और जीव धारियोंको न मारनेंसे मोक्षको प्राप्त होनेके योग्य होता है ॥ ६० ॥

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः। निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥ विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाप्रियैः। जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

अर्थ–करनेंको जोग्य कर्मके न करनेसे तथा खोटे कर्मोंके करनेके दोषसे मनुष्योंको पशु आदि देहोंकी प्राप्ति तथा नरकोंमें पडना तथा यमलोकमें कठोर यातना अर्थात् पीडा इत्यादिक दशाओंको देखे अर्थात् श्रुति पुराणादिकोमें कहियोंको अनुचिंतन करे ॥ ६१ ॥ प्यारे जो पुत्र आदि तिनोंसे वियोग होजावे और वैरी जो मारनेवाले तिन्होंसे संयोग होजावे और जरा अर्थात् बुढापाका होना तथा व्याध्यादिकोसे पीडा ये सब कर्मोंके दोषोसे होते है ऐसे अनुचिंमन करे ॥ ६२ ॥

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम्। योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥ अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्। धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

अर्थ–इस देहसे इस जीवका निकलना तथा फिर गर्भमें वास करना तथा गीदड आदि हजारों योनियोंमें जन्म लेना तथा मर्मको छेदन करनेंवाले महारोगोंकरके पडा तथा श्लेष्मआदि दोषोंसे रुकाहुआ कंठवालेको वडीपीडा ये सब कर्मोंसे होते है ऐसे जानें ॥ ६३ ॥ शरीरधारी जीवोंको अधर्मका हेतुसे दुःखका संयोग होता है और अक्षय सुख अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होना यह धर्मार्थके योगसे होता है ॥ ६४ ॥

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः। देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥ दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः। समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

अर्थ-योगकरके अर्थात् सब विषयोंसे चित्तकी वृत्तिका निरोधकरके परमात्माके सूक्ष्म रूपको चिंतवन करै और उत्तम अधम योनियोंमें शुभाशुभ फल भोगनेंके-वास्ते जो अधिष्ठान है उसको चिंतवन करै ॥ ६५ ॥ जिस किसी आश्रममें वसताहुआ उस आश्रमकरके दूषित हुआभी अर्थात् दंड कमंडलु आदि चिन्होंसे रहित हुआभी सब जीवोंमें ब्रह्मबुद्धिकरके समदृष्टि है ॥ ६६ ॥

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् । न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥ संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा । शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

अर्थ-जैसाकि निर्मलीका फल जलको स्वच्छ करदेता है परंतु निर्मली इस शब्दके नाम लेनेसे जल शुद्ध नहीं होता है तैसेंही आश्रमके वेष धारण करना मोक्ष हेतु नहीं है किंतु अनुष्ठान करना मोक्षका हेतु है ॥ ६७ ॥ शरीरको क्लेश होनेपरभी पिपीलिका आदि संपूर्ण जीवोंकी रक्षाकेवास्ते रात्रीमें अथवा दिनमें पृथ्वीको देखके विचरे ॥ ६८ ॥

अह्ना रात्र्या च यान् जन्तून्हिनस्त्यज्ञानतो यतिः । तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत् ॥६९॥ प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः । व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥

अर्थ-जो यति पुरुष विनाजानेंहुए रात्रीमें अथवा दिनमें जीवोंकी हिंसा करता है उस पापके उतरनेंकेवास्ते स्नान करके छहवार प्राणायाम करे ॥ ६९ ॥ ब्राह्मणकरके तीनभी प्राणायाम विधिपूर्वक अर्थात् पूरक रेचक कुंभक इनकी विधिसे और व्याहृति प्रणवआदि सहित कियेजाते है वही उसका परम तप है ७०

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥७१॥ प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम् । प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥

अर्थ-जैसे अग्निमें धमानेसे सुवर्ण आदि धातुओंके मल दूर हो जाते है तैसेही मन प्राणोंके रोकनेंसे इंद्रियोंके दोष दूर हो जाते है ॥ ७१ ॥ पूर्वोक्त प्राणायामोंकरके रागादि दोषोंको जलावे परब्रह्ममें मनकी धारणाकरके पापको जलावे इंद्रियोंके रोकनेकरके विषयोंका जलावे ध्यानकरके काम क्रोध लोभ मोह इनको जलावे ॥ ७२ ॥

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ॥ ध्यानयोगेन संपश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥७३॥ सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते । दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

अर्थ–इस जीवकी उत्तम अधम देव पशु आदिक योनियोंमें प्राप्तिको अकृतात्मा अर्थात् अशास्त्रीय विनाशास्त्रके जाननेंवाले पुरुष नहीं जानसक्ते है किंतु इस अंतरात्माकी गतिको ध्यान योगकरके देखे ॥ ७३ ॥ ब्रह्मको साक्षात्कारकरके संपन्न हुआ पुरुष कर्मोंकरके नहीं बंधता है और ब्रह्मदर्शन अर्थात् ब्रह्मज्ञानकेविना संसारमेंही फिर प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः । तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥ अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् । चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥

अर्थ–निषिद्ध हिंसाके वर्जनेंकरके और इंद्रियोंको विषयोंसे रोकनेंकरके वेदोक्त कर्मोंकरके चांद्रायण आदि तपोंकरके इस संसारमें तत्पद अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिको साधते है अर्थात् इनको करि पीछे ज्ञान करके मोक्ष होते है ॥ ७५ ॥ हड्डीकी थूण करके युक्त और नसोंसे युत अर्थात् जेवरीकी तरह लिपट रही मांस रुधिरसे लिपाहुआ चामसे बंधाहुआ मूत्र मल दुर्गंधि इनसे भराहुआ ऐसा शरीर है ॥ ७६ ॥

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् । रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥ नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा । तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

अर्थ–जरा अर्थात् बुढापा और शोकसे घेराहुआ रोगका घर क्षुधा तृषासे पीडित रजोगुणसें युक्त नष्ट होनेंवाला पंचभूत तत्वोंका स्थान ऐसे इस शरीरको त्यागदेवे अर्थात् ऐसा करे कि जिस्से फिर यह शरीर प्राप्त न हो ॥ ७७ ॥ जैसें नदीके किनारेका वृक्ष अपनें गिरनेंको नहीं जानताहुआ नदीके वेगसे गिरजाता है तैसेही प्रारब्ध कर्मको नहीं जानताहुआ ब्रह्मउपासक पुरुष अंतसमयमें इस शरीरको छोडके और और दृष्टांत ज्ञानकर्मकी बाहुलता होनेंसे भीष्म आदिककी तरह स्वाधीन मृत्युवाला पुरुष, जैसे पक्षी वृक्षको अपनी इच्छासे छोडदेता है तैसे इस शरीरको छोडके कष्ट दाई संसाररूपी ग्राहसे छूटजाता है ॥ ७८ ॥

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् । विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥ ७९ ॥ यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः । तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

अर्थ—ब्रह्मज्ञानवाला अपने हितकारियोंमें अपना सुकृत तथा अहितकारियोंमें अपना दुष्कृतको प्राप्तकरके ध्यान योगसे सनातन ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥७९॥ जिस समय विषय दोषकरके संपूर्ण विषयोंमें नहीं करता है तबही इस लोकमें संतोषसे उत्पन्नहुए सुखको तथा परलोकमें मोक्षसुखकों अविनाशि ब्रह्मज्ञानी प्राप्त होता है ॥ ८० ॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगान् शनैः शनैः । सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥८१॥ ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम् । न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥

अर्थ—पुत्र तथा स्त्री तथा घर इन्होंमें ममता आदि संगोको इस विधिसे त्यागिके शनैशनै और मान अपमान आदिकोंसे रहित होके निश्चै ब्रह्ममें प्राप्त होता है ॥ ८१ ॥ जो यह कहा पुत्र आदिकोंमें ममताका त्याग तथा मान अपमानको दूर करना तथा ब्रह्ममें लीन होना ये सब आत्माका परमात्मता स्वरूपसे ध्यान करनेसे होता है और जो आत्माको परमात्मा नहीं जानता है वह ध्यान क्रियाके फलको अर्थात् मान अपमान आदिकी हानिकों तथा मोक्षकों नहीं प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च । आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥८३॥ इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम् । इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—पहिले ब्रह्मध्यान स्वरूप उपासना कही है अब तिसीके अंगतासे वेद जपको कहते है जो यज्ञको अधिकारकरके प्रवृत्त वेद है अथवा देवताको अधिकारकरके है तथा जीवको अधिकारकरके तथा वेदांतोंमें कहाहुआ सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म इत्यादिक ब्रह्मके प्रतिपादक हैं इन सबोंका सदा जप करे ॥ ८३ ॥ यह वेद ब्रह्म अज्ञोंको अर्थात् वेदका अर्थ न जाननेंसे पाठ हीसे गति देता है और वेदके अर्थ जाननेंवालोंको और स्वर्ग तथा मोक्षकी इच्छावालोंको यही गतिरूप है ॥ ८४ ॥

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः। स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥८५॥ एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्। वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत ॥ ८६ ॥

अर्थ–इसप्रकार कहेहुए क्रमसे जो द्विज आश्रमको प्राप्त होता है वह इस लोकमें पापको छोडके परब्रह्मकों प्राप्त होता है ॥ ८५ ॥ इंद्रियोंको रोकनेवाले यतियोंका यह श्रेष्ठ धर्म तुह्मारे आगे कहा अब वेदसंन्यासीयोंका अर्थात् वेदोक्त संन्यासके धर्म और नियमवालोंका कर्मयोगको सुनों ॥ ८६ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा। एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ ८७ ॥ सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः। यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम् ॥ ८८ ॥

अर्थ–ब्रह्मचारी और गृहस्थ और वानप्रस्थ तथा यति ये चारों आश्रम गृहस्थ आश्रमतें होते है ॥ ८७ ॥ ये सब चारोंआश्रम क्रमकरके शास्त्रके अनुसार जिस विप्रसे सेवन किये जाते है यथोक्तकारी तिस ब्राह्मणकी परम गति होती है ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः। गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥८९॥ यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥९०॥

अर्थ–इन सब ब्रह्मचारी आदिकोंमेंभी वेद स्मृतिके विधानके अनुसार चलनेंवाला गृहस्थी श्रेष्ठ है क्योंकि वह इन तीनोंको भिक्षादान आदिसे पोषण करता है ॥८९॥ जैसा गंगाआदिक नदी और शोणआदि सब नद समुद्रमें जाके ठहरते है तैसेही गृहस्थसे अलग संपूर्ण आश्रम गृहस्थमें ठहरते है अर्थात् गृहस्थीके आश्रय रहते है ॥ ९० ॥

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः। दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥ ९१ ॥ धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ९२ ॥

अर्थ–द्विजातियोंको इन चार आश्रमों करके दश प्रकारका धर्म नित्यप्रति यतनकरके सेवन करना चाहिये तिसको आगे कहते है ॥ ९१ ॥ संतोष धारण १ दूसरेंसे कहाहुआ बुरावचन सहना २ चित्तका रोकना ३ चोरी न करना ४ शौच

५ इंद्रियोंका रोकना ६ शास्त्रका तत्वज्ञान ७ आत्मज्ञान ८ सत्य ९ क्रोध १० नहीं करना यह दश प्रकारका धर्मका लक्षण है ॥ ९२ ॥

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते । अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥ ९३ ॥ दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः । वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा सन्यसेदनृणो द्विजः ९४॥

अर्थ–जो विप्र धर्मके इन दश लक्षणों पढते है और पढके उनके अनुसार चलते है वे परम गतिको अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते है ॥ ९३ ॥ यह कहाहुआ दशलक्षणोंवाला जो धर्म है इसका अनुष्ठान करताहुआ द्विज ऋषि देव पितर इनके ऋणसे रहित हो स्वस्थचित्त होके विधिपूर्वक वेदांतको सुनके संन्यासको धारण करै ॥ ९४ ॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् । नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥ ९५ ॥ एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपपरमोऽस्पृहः । संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥९६॥

अर्थ–पुरुष सन्यासको धारण करके संपूर्ण गृहस्थोंके अग्निहोत्र छोडकर और विनाजानेंहुए जो जीवोंका नाश होता है उसको प्राणायामोंकरके नाश करताहुआ और निरंतर वेदका अभ्यास करके भोजनादिकोंकी चिंतासे रहित हो पुत्रके घरमें सुखपूर्वक वसै ॥ ९५ ॥ इस उक्तप्रकारसे अपनें अग्निहोत्रआदि गृहस्थ कर्मोंको त्यागके अपनें कार्यमें अर्थात् आत्माके साक्षात्कार करनेंमें तत्परहुआ पुरुष संन्यास धारण करनेंसे संपूर्ण पापोंका नाशकर स्वर्गआदिकोंकी इच्छासे रहितहुआ परम गतिको मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

अर्थ–भृगुजी कहते है कि हे ऋषिजनहो तुमको ब्राह्मणके चार प्रकारके यह धर्म कहदिए है और परलोकमें अक्षय फल देनेंवाला यह पुण्य कहदिया है अब राजाओंके धर्मोंको सुनौ ॥ ९७ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः।

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः। संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥ ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ—जिस प्रकारके आचारणोंवाला राजा होना चाहिये तिन सब राजधर्मोंको कहैंगे और जैसे राजाकी उत्पत्ति ईश्वरनेंकी तथा दृष्ट अदृष्टसिद्धि हुई वह सब आगे कहैंगे ॥ १ ॥ उपनयन यथाविधि राज्याभिषेक और वेदोक्त कर्मकरके संस्कार किये क्षत्रियकरके इस संसारकी न्यायानुसार रक्षा होनी चाहिये अर्थात् राजाको न्यायके अनुसार प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २ ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्। रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥ इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥

अर्थ—विना राज्यवाले इस लोकमें बलवान्के भयसे सब प्रकारसे चलायमान हुए इस जगत्की रक्षाकेवास्ते प्रभु राजाको रचते भये इसीवास्ते राजाको इस जगत्की रक्षा करनी चाहिये ॥ ३ ॥ इंद्र वायु यम सूर्य अग्नि वरुण चंद्र कुबेर इनकीसार भूतमात्राके अंशको निकालकरके राजाको बनाया ॥ ४ ॥

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्योनिर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥ तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च। नचैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस्से कि इन इंद्र आदि देवताओंकी मात्राओंसे ईश्वरनें राजा बनाया इसवास्ते यह राजा तेजकरके अधिक होता है और अधिक प्रभाववाला होता है ॥ ५ ॥ यह राजा सूर्यकी तरह देखनेंवालोंके नेत्र मन आदिकोंसे सहा नहीं जाता है और इस राजाके सामनें होके कोईबी देखनेको समर्थ नहीं है ॥ ६ ॥

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्। स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥ ७ ॥ बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ८ ॥

अर्थ—वह राजा अग्निरूप होता है ऐसे वायुरूप होता है तथा अत्यंत शक्ति

होनेंसे सूर्यरूप होता है वा चंद्ररूप होता है और यमरूप होता है ॥ ७ ॥ मनुष्य बुद्धिकरके बालक राजाकाभी अपमान नहीं करे क्योंकि यह बडा देवता मनुष्य रूपकरके स्थित है इस कारणसे राजाके अपमानमें देवताका अपमान होता है ८

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् । कुलं दहति राजाग्निः सपशु(द्रव्यसंचयम् ॥ ९ ॥ कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः । कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनःपुनः ॥ १० ॥

अर्थ–कोई पुरुष अग्निके पास बे चाल चलाजावे तो अग्नि उस अकेलेको जलाता है और राजा बे चाल चलनेंवाले पुरुषको कुल पशु धन आदिकों सहित दग्ध करदेता है ॥ ९ ॥ वह राजा अपनें प्रयोजनकेवास्ते और धर्मकी सिद्धिकेवास्ते शक्ति देश काल इनको तत्वसे विजारके अनेक प्रकारके रूप बार वार धारण करता है अर्थात् कभी क्षमा कभी क्रोध इत्यादि वारवार करता है१०

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे । मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥११॥ तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम् । तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥ १२॥

अर्थ–जिसकी प्रसन्नतासे लक्ष्मी प्राप्त होती है इस्से लक्ष्मीकी इच्छावालेको राजाकी सेवा करनी श्रेष्ठ है और शत्रुवालेके शत्रुओंकोभी प्रसन्न कराहुआ राजा नाश करै है और जिसपर क्रोध होता है उसे मार देता है इस्से जीवनेंकी इच्छावालेको राजाका अपराध न करना क्योंकि संपूर्णोंके अर्थात् सूर्य अग्नि सोम आदिकोंके तेजको धारन करता है ॥ ११ ॥ तिस राजाको मूर्खपनेसे जो कुपित करता है वो निश्चै नाशको प्राप्त होता है उसके जल्दीही नाशकेवास्ते राजामन करता है ॥ १२ ॥

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः । अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १३ ॥ तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् । ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥

अर्थ–जिससे कि सर्व तेजोमय राजा होता है इसवास्ते अपेक्षितोंमें शास्त्र अविरुद्ध धर्म तथा अनपेक्षितोंमें अधर्म निश्चय करके स्थापन करे और तिस धर्मको न छोडे ॥ १३ ॥ तिस राजाकी प्रयोजन सिद्धिकेलिये संपूर्ण प्राणियोंकी रक्षा करनेंवाला धर्म स्वरूप पुत्र ब्रह्मतेजसे बनाहुआ दंड नामवाला जो कहा-

ता है अर्थात् शिक्षा स्वरूप दंडको पूर्व अर्थात् पहिले ब्रह्माजी रचते भये ॥ १४॥

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च। भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥ १५ ॥ तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः। यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु॥ १६॥

अर्थ–तिस दंडके भयसे संपूर्ण प्राणि चर अचर अपनें अपनें भोग करनेंको समर्थ है अपनें अपनें धर्मोंसें भ्रष्ट नहीं होते है कैसेकि वलवाला निर्बलके धन स्त्री आदिकोंको खो नहीं सक्ता और ब्रह्मादिक खंडित नहीं हो सक्के ॥ १५॥ उस दंडको तथा दंडके देश कालकों तथा विद्या आदि शक्तिकों और इस अपराधमें यह दंड जोग्य है इन सबको शास्त्रके अनुसार ज्ञानसे देखके अपराधियोंको यथा योग्य दंड प्राप्त करे ॥ १६ ॥

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।चतुर्णामाश्रमाणां च धर्म स्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ १७॥ दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति। दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः १८

अर्थ–वह दंडही राजा है तिस दंडमें राजशक्ति होनेंसे वह दंडही पुरुष है तिससे अन्य और सब स्त्री है तिसको विधान करनेंसे और दंडही नेता है अर्थात् उसीनें कार्य करिये है तथा दंडही शिक्षा देनेंवाला है और दंडही चारों आश्रमोकों धर्म संपादनमें जा मन कहा है अर्थात् दंडकीराहसे सब धर्मकों प्राप्त होते है ॥ १७॥ संपूर्ण प्रजाको दंडही शिक्षा देता है अर्थात् आज्ञा करवाता है तथा दंडही रक्षा करता है इससे राजा है और जब रक्षा करनेंवाले सोते है तो दंडही जागता है तिसके भयसे चोर आदि नहीं प्रवर्त होते है इससे ज्ञानवान् दंडही क्रोध कहे है ॥ १८ ॥

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः। असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ १९ ॥ यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः। शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥२०॥

अर्थ–सम्यक् प्रकार विचारके दियाहुआ दंड संपूर्ण प्रजाको आनंद करता है और विचारेविना लोभादिकसे प्राप्त कियाहुआ दंड संपूर्ण धनपुत्रादिकोंको नाश करता है ॥ १९ ॥ जो राजा आलस्यरहित होके अपराधियोंको दंड न देवे तो

जैसे शूलसे मच्छको मार देते है तैसे बलवाले निर्बलोंको मार देवे फिर मत्स्य न्यायही हो जावे यह कहा है ॥ २० ॥

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा । स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥ २१ ॥ सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः । दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते २२

अर्थ-जो राजा दंड न देवे तो यज्ञोंमें कागही पुराडाशको भक्षण करे तथा कुत्ता दूध आदिको तथा हविको भक्षण करे और किसीमेंभी किसीका स्वामिभाव न होवे और नीच प्रधान होवेगे ॥ २१ ॥ संपूर्ण यह लोक दंडहीसे रुकाहुआ श्रेष्ठ मार्गमें स्थित है और स्वभाव शुद्ध पुरुष तो जगत्में मिलनें दुर्लभ है और संपूर्ण जगत् दंडहीके भयसे अवश्य भोजनादि भोगोमें समर्थ है ॥ २२ ॥

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः । तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३॥ दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः । सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ २४ ॥

अर्थ-इंद्र आदि सूर्य आदिक देवता तथा दानव गन्धर्व राक्षस पक्षि सर्प ये सब अपने अपने कर्मोंमें दंड हीके भयसे प्राप्त है ॥ २३ ॥ दंड नहीं देनेंसे अथवा अनुचित दंड देनेंसे ब्राह्मण आदि संपूर्ण वर्ण विरुद्ध आचरण करेंगे और धर्म अर्थ आदि चतुर्वर्ग उच्छिन्न होवेगा तथा सब लोगोंमें उपद्रव होवेगा इसवास्ते यथोचित दंड देना चाहिये ॥ २४ ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा । प्रजास्तत्र न मुह्यंति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥ तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् । समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६॥

अर्थ-जिस देशमें श्यामवर्णवाला और लाल नेत्रोंवाला और पापनाशक दंड अर्थात् दंडाधिष्ठातृ देवता विचरता है तहां प्रजा व्याकुल नहीं होती जो यदि दंडप्रणेता राजा अच्छे प्रकार देखता है तो ॥ २५ ॥ तिस दंडको प्रवर्त्त करनेंवाले राजाको सत्य बोलनेंवाला अभिषेक आदि गुणयुक्त समझके करनेवाला बुद्धिमान् धर्म अर्थ काम इनको जाननेंवाला ऐसा मनु आदि कहते है अर्थात् राजा ऐसा होना चाहिये ॥ २६ ॥

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते । कामात्मा विषमः

क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥ दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः । धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥

अर्थ–तिस दंडको अच्छे प्रकारसे चलाताहुआ राजा धर्म अर्थ काम इनकरके बढता है और वही राजा विषयकी अभिलाष करनेंवाला तथा क्रोधवाला वा छल करनेवाला हो तो अधर्मके हेतु उसी दंडसे नष्ट होजाता है ॥ २७ ॥ बडे उत्तम तेजवाला दंड अपनें शास्त्रसे संस्काररहित राजाओंनें दुर्धर अर्थात् धारण करना मुसकिल है और राजधर्मरहित राजाको वही दंड पुत्र बांधवसहित नाशदेता है ॥ २८ ॥

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् । अंतरिक्षगतांश्चैव मुनीन् देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥ योऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना । न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

अर्थ–दोष आदिकी अपेक्षाविना कियाहुआ वह दंड राजाके नाशके अनंतर किला सेना और स्थावर जंगम राजाका लोक अंतरिक्षके रहनेवाले ऋषि देवता इनको पीडा देता है वा नाश करता है ॥ २९ ॥ मंत्री सेनाके सहायसे रहित और मूर्ख लोभी शास्त्र संस्कार बुद्धिसे रहित और विषयमें आसक्त ऐसे राजाकरके वह दंड चलनेंको समर्थ नहीं है ऐसा राजा धर्म नहीं चलासक्ता है ॥ ३० ॥

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा । प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥ स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु । सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥

अर्थ–किंतु अर्थ आदि शौचमें युक्त सत्य बोलनेवाला शास्त्रके व्यवहारके अनुसार चलनेवाला और अच्छे सहायवाला बुद्धिवान् ऐसे राजाकरके दंड कराना योग्य है ॥ ३१ ॥ राजा अपने राज्यमें शास्त्रके अनुसार न्याय करनेवाला होवे और शत्रुओंमे बहुत दंड करनेवाला होवे और प्रीतिवाले मित्रोंमें कुटिल न होवे और ब्राह्मणोंमें क्षमायुक्त रहै ॥ ३२ ॥

एवंवृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः । विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३३ ॥ अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः । संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ॥ ३४ ॥

अर्थ-शिलोंछवृत्तिकरके जीवता हुआभी उक्त प्रकारसे चलनेंवाला राजाका यश संसारमें फैल जाता है जैसें जलमें तेलकी बिंदु फैल जाती है तैसे ॥२३॥ इस उक्त प्रकारसे विपरीत चलनेंवाला और विषयमें आसक्त रहनेवाला राजाका यश संकोचको प्राप्त होजाता है जैसे जलमें घृतकी बूंद नहीं फैलती है तैसे ॥२४॥

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः । वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥३५॥ तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः । तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ३६ ॥

अर्थ-क्रमकरके अपनें अपनें धर्मोका अनुष्ठान करनेंवाले ब्राह्मण आदि चारों वर्णोकी तथा ब्रह्मचारी आदि सब आश्रमोंकी रक्षा करनेंवाला यह राजा विधातानें रचा है ॥ ३५ ॥ इसवास्ते दीवान मंत्री आदिकोंसहित उस राजाको प्रजाकी रक्षाकेवास्ते जो कुछ करना योग्य है वह सब यथार्थ क्रमकरके तुह्मारे आगे कहेंगे ॥ ३६ ॥

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः। त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥ ३७ ॥ वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् । वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते ॥ ३८ ॥

अर्थ-राजा नित्य प्रातःकाल उठके ऋक् यजु साम इन तीनों वेदोंको जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मणोंका पूजन करै और उन्होंकी आज्ञामें रहै ॥ ३७ ॥ वेदके जाननेंवाले तथा शुद्धियुक्त वृद्ध ब्राह्मणोंका सेवन करे क्योंकि वृद्धोंका सेवन करनेवालाको राक्षसभी सदा पूजते है ॥ ३८ ॥

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः। विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्॥३९॥बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः । वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ ४० ॥

अर्थ-अपने शरीरकेसंग जन्मीहुई बुद्धिकरके वा अर्थ तथा शास्त्रादि ज्ञानकरके नित्य विनीतात्मा अर्थात् राजनीतिमें वर्तनेवालाभी अधिक नीतिके लियें तिन ब्राह्मणोमें नम्रता धारण करे क्योंकि राजनीतिवाला राजा नाशको नहीं प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥ हस्ती घोडा कौशल आदि परिच्छदोंकरके युक्त हुए बहुतसे राजे विनानम्रता नाशको प्राप्त हुए है और वनोंमें रहनेवाले बहुतसे विनासेनावालेभी नम्रतासे राज्योंको प्राप्त हुए है ॥ ४० ॥

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः । सुदासो यवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ ४१ ॥ पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च । कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ॥ ४२ ॥

अर्थ-वेन तथा नहुषराजा नम्रताकेविना नाशको प्राप्त हुये और सुदास नामवाला यवनजाती राजा और सुमुख तथा निमिष येभी सब अविनयसे नाश हुये है ॥ ४१ ॥ पृथु और मनु विनयसे राजको प्राप्त हुए और कुबेर विनयसे अर्थात् नम्रतासे धनका मालिक हुआ और गाधिका पुत्र विश्वामित्र क्षत्रीभी ब्राह्मणभावको प्राप्त हुआ ॥ ४२ ॥

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् । आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ ४३ ॥ इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् । जितेन्द्रियो हि शक्नोतिवशे स्थापयितुं प्रजाः ॥

अर्थ-ऋक् यजु साम इन तीनों वेदोंको जाननेंवाले ब्राह्मणोंसें तीनों वेदोंको तथा पुरातन राजनीतिको तथा आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्कविद्याको और ब्रह्मविद्याको और व्यवहारके जाननेवाले मनुष्योंसे व्यवहार विद्याको राजा शीखे ॥ ४३ ॥ राजा नेत्र आदि इंद्रियोंके विषय दूर करनेमें सदा जतन करे क्योंकि जितेंद्रिय राजा संपूर्ण प्रजाको अपने वसकर शक्ता हैं और जो राजाही विषयोंको भोगता है तो प्रजाको क्या वसमें करेंगा ॥ ४४ ॥

दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च । व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥४५॥ कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः । वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४६ ॥

अर्थ-दश कामसे उठेहुए तथा आठ क्रोधसे उत्पन्न हुए जो व्यसन उनको जतनकरके दूर करे कैसे व्यसन हैं वेकि जिनका अंत दुर्लभ है अर्थात् उन व्यसनोंका अंत दुःखसेभी नहीं होता ॥ ४५ ॥ कामसे उत्पन्न हुए व्यसनोंमें आसक्त हुआ राजा धर्म अर्थसे नष्ट होता है और क्रोधसे उत्पन्न हुए व्यसनोंमें आसक्त हुआ राजा स्वभावके कोपसे देहके नाशको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

मृगयाक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः । तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥ पैशून्यं साहसं द्रोह ईर्ष्या-

स्तूयार्थदूषणम् । वर्ग्गोदण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोष्टकः ४८

अर्थ-मृगया अर्थात् मृगकों मारना सिकारमें, और चौपडमें पासोंसे खेलना और दिनमें सोवना और दूसरेके अपवादोंको कहना तथा स्त्रीसंभोग और मदिराके पीनेसे उत्पन्न हुआ मद और नाचना गाना बजाना इनमें रहना, और वे प्रयोजन भ्रमणा ये दश कामसे उत्पन्न हुए मद हैं ॥ ४७ ॥ पैशुन्यं अर्थात् विनदेखे दोष लगाना और अच्छे मनुष्योंको दंड देना और छलसे मारना और ईर्ष्या तथा दूसरेके गुणोंमें दोष लगाना और द्रव्योंका हरना और गाली देना तथा ताडनादेना ये अष्ट व्यसन क्रोधसे उत्पन्न हुए है ॥ ४८ ॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः । तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेताबुभौ गणौ ॥ ४९ ॥ पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ५० ॥

अर्थ-काम क्रोधसे उत्पन्न हुए व्यसनोंके समूहका कारण लोभ है उसको जतन करके दूर करे क्योंकि व्यसनोंके ये दोनों गुण लोभसे होते है कहीं धनके लोभसें कही अन्य लोभसे होते है ॥ ४९ ॥ मदिराका पीना अक्षोंका खेलना स्त्रीसंभोग सिकारमें मृग आदि मारना ये चारों कामसे होनेवालोंमें असंत दुःखके देनेवाले है यह जानना चाहिये ॥ ५० ॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे । क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥५१॥ सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥ ५२ ॥

अर्थ-दंडेसे मारना और कठोर वचन कहना तथा द्रव्यका हरना ये तीनों क्रोधसे हुए व्यसनगणमें अतिशय दुःख देते है एह जानना चाहिये ॥ ५१ ॥ संपूर्ण राजमंडलमें प्रवर्त हुआ जो यह कामक्रोधसे उत्पन्नहुआ मदिरा आदिकोंका सप्तक वर्ग है इसमें उत्तर उत्तर व्यसनसे पूर्व पूर्व व्यसनको श्रेष्ठ पुरुष कठिन जाने ॥ ५२ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते । व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥५३॥ मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्गतान् ।सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥५४॥

अर्थ-व्यसन और मृत्यु दोनों नाश करनेंवाले है इन दोनोंमेभी व्यसन क-

ठिन है क्योंकि व्यसनी मरके बहुत नरकोंमें जाता है और वे व्यसनी मरके स्वर्गमें जाता है ॥ ५३ ॥ पुस्तौंसे नौकरी करनेंवाले और शास्त्रोंको जाननेंवाले और बहादुर अच्छा निशाना लगानेंवाले और अच्छा कुलके परीक्षा किएहुयें सात तथा आठ मंत्रीयोंको राजा रक्खे ॥ ५४ ॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् । विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम् ॥ ५५ ॥ तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् । स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ५६ ॥

अर्थ–सुलभभी कर्म एकसे होना कठिन है और विशेषकरके वडा फलको देनेंवाला राज्यकर्मको एक कैसे करसक्ता है ॥ ५५ ॥ तिनकरके सहित सामान्य संधि विग्रहको सदा चिंतवन करै तिनोंको कहते है दंड, कोश, पुर, राष्ट्रात्मक चतुर्विधको चिंतवन करे और जिस्से धान्य सुवर्णादिकी उत्पत्ति होती है उसे चिंतवन करे और राष्ट्रकी रक्षा और प्राप्तहुए धनको सत्पात्रोंको देना इत्यादिकोंकी सलाह करे ॥ ५६ ॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् । समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥५७॥ सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता । मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम् ॥ ५८ ॥

अर्थ–तिन संपूर्ण मंत्रियोंका अलग अलग अभिप्राय सुनके फिर संपूर्णोंको इकट्ठेकरके तिन संपूर्णोंका अभिप्रायको जानके कार्यमें जो अपना हित हो उसको करे ॥५७॥ उन संपूर्ण मंत्रियोंमें जो बुद्धिमान् ब्राह्मण हो उसके साथ षट्गुण करके युक्त जो मंत्र है अर्थात् छह गुणोंसे युक्त जो सलाह है उसको राजा करे ॥५८॥

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् । तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥५९॥ अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् । सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ६०

अर्थ–तिस ब्राह्मणमें विश्वास करके संपूर्ण कर्म उसके सुपर्द करे और जो कर्म करे सो उससे निश्चय करलेवे तव संपूर्ण कर्म करे ॥ ५९ ॥ औरोंकोभी सुंदर प्रकार पास कर परीक्षा लेके मंत्री बनावे और वे मंत्री ऐसे होनें चाहिये कि शुद्ध चित्तवाले तथा अच्छे प्रकार धनको संचय करनेंमें चतुर हों और बुद्धिमान् हों ऐसोंको बनावे ॥ ६० ॥

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः । तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१॥ तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान् कुलोद्गतान्। शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने॥६२॥

अर्थ-इस राजाका जितनें मनुष्योंसे काम पडे उतनें मनुष्योंको आलस्यरहित तथा चतुर तथा बुद्धिमानोंको कामोंमें प्रवर्त करे ॥ ६१ ॥ तिन मंत्रियोंमें जो शूर वीर तथा चतुर तथा अच्छे कुलमें होनेंवाले तथा शुद्ध हों उनको अर्थात् निर्लोभियोंको द्रव्यके उत्पत्तिस्थानमें युक्त करे और अन्नके स्थानमें तथा अंतर्निवेश अर्थात् महलमें डरनेंवालेको योजन करे ॥ ६२ ॥

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् । इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ६३ ॥ अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् । वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

अर्थ-संपूर्ण शास्त्रोंका जाननेंवाला और अपनें अभिप्रायकों जाननेंवाला वचनको और प्रसन्न अप्रसन्नकी चेष्टाको जाननेंवाला तथा शुद्ध अंतःकरणवाला और चतुर तथा अच्छे कुलमें होनेंवाला ऐसेको दूत करे ॥ ६३ ॥ संपूर्ण प्राणियोंमें प्यार करनेंवाला और धन, स्त्री, शुद्धि, इन्होसे युक्त तथा चतुर और सुनी बातको याद रक्खै और जो देशकालको जानैं तथा सुंदर रूपवाला तथा निडर और सब इल्मोकी वाणी वोलनेंवाला ऐसा दूत राजाको रखना श्रेष्ठ है ॥ ६४ ॥

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया । नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ ॥६५॥ दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्। दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा न वा ॥ ६६ ॥

अर्थ-सेनापतिके आधीन हस्ती घोडे रथ पियादे होते है और इन सबके आधीन शिक्षा है और राजाके आधीन खानी तथा देश है और दूतके आधीन मेल तथा विगांड है ये सब इन्होंकी इच्छासे होते है ॥ ६५ ॥ दूतही मेलकरा देता है और दूतही सबके मनको फाडदेता है अर्थात् मिले हुयोंका मनको फाडता है और दूत वह कर्म करता है कि जिससे मिलेहुए पुरुष जुदे जुदे हो जांवें वा मिलेही रहै अर्थात् दोनों काम कर सक्ता है ॥ ६६ ॥

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेंगितचेष्टितैः आकारमिंगितं चेष्टां भृ-

त्येषु च चिकीर्षितम् ॥६७॥ बुध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् । तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

अर्थ-वह दूत राजाके काममें अनुचरोंके इसारे और चेष्टा करके जो भृत्योंमें किसी मतलबकी चेष्टा करी जाती है उसें जानजाता है ॥ ६७ ॥ अपनें दूतके मुखसे प्रतिपक्ष करनेंवाले राजाका कर्मको जानके तैसा जतन करे कि जिससे अपनेको पीडा न होवे ॥ ६८ ॥

जांगलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् । रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥६९॥ धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

अर्थ-जहां तृण जल थोडा हो और वायु घांम घना हो उसको जांगलदेश कहते हैं और, जहां बहुत खेती हो तथा अच्छे मनुष्य वास करते हों और रोगादि उपद्रवोंसे रहित हों और देखनेमें अच्छा हो, और जहां सुंदर वृक्ष हों तथा सुंदर बाजार होवे और खेती वणज आदि जहां व्यौहार होवे तिस देशमें वसे ॥ ६९ ॥ धनुदुर्ग उसें करते है कि चारों तर्फ मरुभूमिमें पांच योजनतक जल न मिले और महीदुर्गउसे कहते है कि चारों तर्फ बारह १२ हाथ ऊंचा पत्थरोंका बना हुआ किला होवे, और बहुत जलका चारों तर्फ घेरा हो उसें जलदुर्ग कहतें है और अगाध जल चारों तर्फको हो उसको वार्क्षदुर्ग कहते है और जिसके चारों तर्फ बहुत वृक्ष हों या चारों तर्फ फौज हो उसको नृदुर्ग कहते हैं तथा चारों तर्फ पर्वत हो उसें गिरिदुर्ग कहते है सो राजा ऐसी जगंह किल्ला बनाके वास करै और तहांही पुरको वसावे ॥ ७० ॥

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् । एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥ त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः । त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवंगमनरामराः ॥७२॥

अर्थ-इन संपूर्ण किलोंसे पर्वतोंका किला अच्छा होता है इससे संपूर्ण जतन करके पर्वतोंके किलेमें वास करे ॥ ७१ ॥ इन दुर्गोंमें पहिले कहे हुए तीन दुर्ग तो मृगादिकोंके है तहां धनुर्दुर्ग मृगोंका और महीदुर्ग मुसोंका औ जलदुर्ग मच्छादिकोंका है ऐसेही पिछले तीन किले क्रमसे वानर तथा मनुष्य तथा देवताओंके है वृक्षदुर्ग वानरोंका और मनुष्यका नृदुर्ग और देवतोंका गिरिदुर्गहै॥७२॥

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः । तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥ एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः । शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

अर्थ–जैसे इन दुर्गोंमें वसते हुए मृगादिकोंको जीवोंके मारनेवाले व्याधादिक शत्रु नहीं मारसक्ते तैसेही किलेमें राजाको शत्रु नहीं जीत सक्ते ॥ ७३ ॥ किलेमें स्थित होके एकही मनुष्य धनुषको धारण करनेसे सौ शत्रुओंको मार सक्ता है और सौ धनुषोंवाले मनुष्य किलेमें बैठके दशहजार शत्रुओंको मारसक्ते है इसवास्ते किला बनाना बहुत अच्छा है ॥ ७४ ॥

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः । ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥ तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः । गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

अर्थ–उस दुर्गको तलवार आदि शस्त्रोंसे युक्त और सुवर्ण आदि धनधान्य तथा हस्ती घोडे आदि वाहन तथा ब्राह्मणभोजनादि और शिल्पियंत्र अर्थात् कारीगरोंके ए छ और जल तृण इन्होंसे युक्त बनावे ॥७५॥ तिस किलेमें अपना घर ऐसा वनवावे कि जिसमें पृथक्पृथक् स्त्रियोंके घर और देवतोंके अस्थान और शस्त्रोंके मकान और अग्निहोत्रशालाओंसे युक्तहो और परिखा प्राकारकरके गुप्त और संपूर्ण ऋतुओंके फल पुष्पादिसे युक्त और सफेदी कियाहुआ और कूप वावडी आदि जलके स्थानोसे युक्त तथा वृक्षादिकोंसे युक्त होवे ॥ ७६ ॥

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् । कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम्॥७७॥पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम् । तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च॥७८॥

अर्थ–तिस घरमें वास करके अपनी जातिकी और शुभ लक्षणोंकरके युक्त और वडे शुद्ध कुलमें जन्मीहुई और मनको हरनेंवाली और सुंदर रूपवाली और अच्छे गुनवाली भार्याको विवाह करै ॥ ७७ ॥ अथर्वणविधिसे पुरोहितको बनावे और हवनशांति आदि कर्म करानेंके लियें ऋत्विज यानें आचार्य वनावे और वे पुरोहित आचार्यादिक इस राजाके गृह्यकर्म अर्थात् त्रेताअग्नि संपादन कहे हुए जो कर्म उनको करावे ॥ ७८ ॥

अर्थ– तिस देशमें जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र वर्णसंकर इन जातियोंका परंपरा अर्थात् सनातन जो आचार चलाआता है वह सदाचार कहाता है ॥ १८॥

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

अर्थ– कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पांचाल अर्थात् कान्यकुब्जदेश, मथुराके देश, यह ब्रह्मर्षिदेश कहाता है यह देश ब्रह्मावर्त्त देशसे कछुक न्यून है ॥ १९ ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

अर्थ–इन कुरुक्षेत्र आदिदेशमें उत्पन्नहुए ब्राह्मणके सकाशसे पृथ्वीमे सब मनुष्य अपनें अपनें आचारोंको करतेभये अर्थात् जुदे जुदे अपनें संप्रदाय करते भये॥२०॥

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

अर्थ– हिमवान् और विंध्याचल इन्होंके बीचमें और सरस्वतीसे पूर्वकी तर्फ और प्रयागसे पश्चिमकी तर्फ यह जो देश है इसको मध्यदेश कहते है ॥ २१ ॥

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

अर्थ– पूर्वसमुद्रसेलेके पश्चिमके समुद्रतक विंध्याचल और हिमाचलपर्वतके मध्यका जो देश है उसको आर्यावर्त्त देश कहते है ॥ २२ ॥

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥ २३ ॥

अर्थ– जहां कालामृग स्वभावसेही विचरता है अर्थात् बलसे नहीं ल्याया हो, किंतु अपनी खुशीसे विचरता है वह यज्ञकरनेंकोयोग्य देश जानना इससे अन्य म्लेच्छदेश कहाता है ॥ २३ ॥

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः ॥ २४ ॥

अर्थ– द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये वर्ण यतनकरके इन पूर्वोक्त

देशोंकै आश्रय रहैं अर्थात् आर्यावर्त्तआदि शुद्ध देशमें रहना चाहिये और शूद्र तो आजिविकासे पीडित होजावे तो अन्य किसीदेशमें रहै ॥ २४ ॥

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

अर्थ– यह धर्मकी योनि अर्थात् उत्पत्तिका कारण मैंनें संक्षेपमात्रसे तुह्मारेवास्ते कहदिया अब इन सर्वोंकी उत्पत्ति और वर्णोंके धर्मोंको सुनो ॥ २५ ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

अर्थ– वेदमें होनेंवाले पुण्य पवित्र शुभमंत्र योगादिक कर्मोंकरके ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन्होंका गर्भाधानआदि शरीरका संस्कार करना चाहिये क्योंकि वह संस्कार इस लोकमें वेदाध्ययनकेवास्ते और परलोकमें यज्ञआदिकोंके फलकेवास्ते पावन है अर्थात् पापके नाशका हेतु है ॥ २६ ॥

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

अर्थ– गर्भाधानके संस्कार और जातकर्म अर्थात् जन्माहुआके कर्म, चौडकर्म, अर्थातमुंडन, मौंजीबंधन, अर्थात यज्ञोपवीत इनकर्मोंकरके द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन्होंके बीजदोषादि पाप और गार्भिक अर्थात् अशुचिमात्र पाप दूर होते है ॥ २७ ॥

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

अर्थ– वेदाध्ययन, मधुमांसवर्जनादि नियमव्रत, होम, त्रैविद्याख्यव्रत इज्या अर्थात् ब्रह्मचर्यावस्थामें देवर्षि पितृतर्पणादि क्रिया, और गृहस्थ अवस्थामें पुत्रोत्पादनादि कर्म पंचमहायज्ञ अग्निष्टोमादिक यज्ञ इन्होंकरके यह द्विजशरीर ब्रह्मप्राप्तिको योग्य किया जाता है ॥ २८ ॥

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

अर्थ– नालछेदनसे पहले पुरुषका जातकर्मसंस्कार करना चाहिये और तब स्वगृह्योक्त मंत्रोंकरके सुवर्णमधुघृत इन्होंका प्राशन करावे ॥ २९ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥

अर्थ– और जन्मसे दशवें दिन अथवा बारहवें दिन इस बालकका नामकर्म, नाम निकसाना चाहिये और इन दिनोंमें नहीं किया जावे तो पवित्र तिथी शुभमुहूर्त और नक्षत्रके दिन करावे ॥ ३० ॥

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

अर्थ– ब्राह्मणका नाम मंगलवाचक करै और क्षत्रियका नाम बलसेयुक्त करै वैश्यका धनसेयुक्त करै और शूद्रका नाम निंदासेयुक्त करै ॥ ३१ ॥

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

अर्थ– ब्राह्मणका नाममें शर्मा और राजा, क्षत्रियके नाममें वर्मा और वैश्यका नामपुष्टिसेयुक्त गोत्या और शूद्रका नाम दाससेयुक्त करना चाहिये जैसें ब्राह्मणका नाम शुभशर्मा, क्षत्रिय, बलवर्मा, वैश्य, वसुभूति शूद्रदीनदास इत्यादिक नाम करनें चाहिये ॥ ३२ ॥

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम् ।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥

अर्थ– सुखसे उच्चारण करनेंको योग्य और अक्रूर स्पष्ट अर्थवाला मनोहर और मंगलका वाचक दीर्घवर्ण जिसके अंतमें होवे और आशीर्वादके शब्दसेयुक्त ऐसा नाम स्त्रीका करना चाहिये जैसे यशोदा देवी ऐसा नाम होना चाहिये ॥ ३३ ॥

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ॥ ३४ ॥

अर्थ– चौथे महीनेंमें बालकको सूर्यके दर्शन करानेकेवास्ते घरसें बाहिर निकासे और छठे महीनेमें बालकको अन्नप्राशन करावे अथवा जैसा कुलका आचरण हो तैसे करै ॥ ३४ ॥

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।

प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥

अर्थ– संपूर्ण द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन्होंकै पहले वर्षमें धर्मकेवास्ते बालकका चूडाकर्म करना चाहिये अथवा तीसरे वर्षमें करै यही वेदकी शिक्षा है ॥ ३५ ॥

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

अर्थ– गर्भसे आठवें वर्षमें ब्राह्मणका उपनयनकर्म अर्थात् यज्ञोपवीत करवावे और गर्भसे ग्यारवें ११ वर्ष क्षत्रियकै और गर्भसें बारहवें १२ वर्ष वैश्यकै यज्ञोपवीत करवाना चाहिये ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥

अर्थ– वेदके पढनेकेवास्ते जो तेज बढाया जाताहै उसको ब्रह्मवर्चस कहते है सो ब्रह्मवर्चसकी कामना इच्छावाला ब्राह्मणका पांचवें वर्ष ५ उपनयनकर्म करावे और फौजआदि बलकी इच्छावाले राजाका छठे वर्ष करावे और बहुतसी कृषिआदिकी चेष्टावाले वैश्यका आठवें वर्ष उपनयनकर्म करावे यद्यपि बालककै इच्छा नहीं है परंतु यहां उसके पिताकी इच्छा जाननी ॥ ३७ ॥

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

अर्थ– सोलहवर्षतक ब्राह्मणकी सावित्री अर्थात् गायत्री याने उपनयनका समय व्यतीत नहीं होता है क्षत्रियकै २२ बाईसवर्षतक और वैश्यकै २४ चौवीसवेंवर्षतक उपनयनकर्मका समय व्यतीत नहीं होता है ॥ ३८ ॥

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥

अर्थ– इस कहेहुए कालके पीछे ये तीनोंवर्ण पतित होजाते है और अपनें अपनें समय ये संस्कार नहीं होनेंसे सावित्री सपतितहो श्रेष्ठ पुरुषोंसे निंदित होजाते है और इन्होंकी व्रात्यसंज्ञा होजाती है ॥ ३९ ॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च संबन्धन्नाचरेद्ब्राह्मणः सह ॥ ४० ॥

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः । धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च ॥ ७९ ॥ सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् । स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ८० ॥

अर्थ–राजा अनेक प्रकारकी और बहुत दक्षिणासे युक्त अश्वमेधादिक यज्ञोको करे और धर्मके अर्थ ब्राह्मणोंको स्त्री गृह शय्यादिक भोग और सुवर्ण वस्त्रादिक धन देवे ॥ ७९ ॥ राजा अपने राज्यमेंसे वर्षकी उगाहीको उघावे मंत्रियोंकरके और लोगोंसें उस करको शास्त्रकी विधिपूर्वक लेवे और अपनें देशमें वसनेंवाले मनुष्योंमें ऐसा प्यार रक्खे जैसा पिता पुत्रोंमें रखता है ॥ ८० ॥

अध्यक्षान् विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः । तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥ ८१ ॥ आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् । नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥ ८२ ॥

अर्थ–ज्ञानवान् राजा तिन तिन हस्ती और घोडे और रथ तथा पियादे और धन इत्यादिक स्थानोंमे इन कामोंको जाननेंवाले अफसर करे नानाप्रकारके और वे अफसर इस राजाके काम करते हुए मनुष्योंके सब कामोंको देखें ॥ ८१ ॥ वेदके पढेहुए जो गुरुकुलसे निवृत्त हुए ब्राह्मण उन्हको धनधान्यसे पूजै क्योंकि राजाओंको यह ब्राम्हनिधि अक्षय कही है अर्थात् इस प्रकार ब्राह्मणोंको देनेसे धनधान्यमें वृद्धि होती है ॥ ८२ ॥

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति । तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः ॥ ८३ ॥ न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित् । वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम् ८४

अर्थ–ब्राह्मणोंमें स्थापित करीहुई तिस निधिको चौर और शत्रु नहीं ले सक्के और नहीं नाशको प्राप्त होती इससे राजाको ब्राह्मणोंके अर्थ अक्षय निधि अर्थात् बहुत धन देना चाहिये ॥ ८३ ॥ अग्नीमें जो हवन किया जाता है वह कभी जमीनमें जा पडता है और कभी सूषजाता है और कभी नष्ट होजाता है और जो ब्राह्मणके मुखमें होमा है उसमें ये दोष नहीं है इससे अग्निहोत्रादिकोंसे ब्राह्मणको दान देना श्रेष्ठ है ॥ ८४ ॥

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे । प्राधीते शतसाहस्रमनन्तं

वेदपारगे ॥ ८५ ॥ पात्रस्य हि विषेशेण श्रद्दधानतयैव च ।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्यावाप्यते फलम् ॥ ८६ ॥

अर्थ–क्षत्री आदिकोंको देनेसे समान फल होता है और जो क्रियाकरके रहित ब्राह्मण आपको ब्राह्मण कहता है उसको देनेसे दूना फल होता है और पढोकों देनेसे लक्षगुणा और संपूर्ण वेदके जाननेवालाको देनेमें अनंत गुणा फल होता है ॥८५॥ सत्पात्रको देनेंसे और श्रद्धाकरके करनेसे थोडासाभी दान दिया हुआ सत्पात्र और श्रद्धाके अनुसार थोडा वा परलोकमें घना फल देता है ॥ ८६ ॥

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः । न निवर्तेत संग्रा-
मात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७॥ संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव
पालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

अर्थ–समान बलवालेकरके और अधिक बलवालेकरके तथा कमबलवाले-करके बुलायाहुआ अपनी प्रजाका पालन करता हुआ राजाको क्षत्रियधर्मको जानके युद्धसे हटना नहीं चाहिये ॥८७॥ युद्धमें अपराङ्मुखत्वं अर्थात् पीठ नहीं देवे और अपनी प्रजाका पालन करना तथा ब्राह्मणोंकी सेवा करनी ये सब राजोंके कल्याण अर्थात् श्रेष्ठ स्वर्गादिकके देनेवाले है ॥ ८८ ॥

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः । युध्यमानाः परं
शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ ८९ ॥ न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्य-
मानो रणे रिपून् । न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ९०

अर्थ–युद्धोंमें स्पर्द्धा करतेहुए आपसमें एकको एक मारनेंकी इच्छा करतेहुए उत्तम शक्तिकरके सन्मुख युद्ध करते हुए, जो पराङ्मुख नहीं होते है ऐसे राजा स्वर्गको जाते है ॥ ८९ ॥ रणमें जुद्ध करता हुआ शत्रुओंको कूट आयुधोंसे अर्थात् बाहर लकडी लगी हो और भीतर पैना शस्त्र हो ऐसे शस्त्रोंसें नहीं मारे और कर्णिके आकारवाले बाणोंसे और विषमें भरे हों तथा अग्निमें तपाये हों ऐसे बाणोंसे नहीं मारे ॥ ९० ॥

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् । न मुक्तकेशं ना-
सीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥९१ ॥ न सुप्तं न विसन्नाहं न
नग्नं न निरायुधम् । नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥९२॥

अर्थ–आप रथमें बैठा हो और शत्रु जमीनमें हो तो उसे नहीं मारे और नपुंसकको तथा हाथ जोडले उसे और केशोंको खोललें तथा मैंतो आपकी शरण हूं आपहीका हूं ऐसे कहनेवालेको और शस्त्र डालके बैठजावे ऐसेकों नहीं मारे ॥ ९१ ॥ सोते हुएको तथा विना वस्त्रवालेको तथा नग्नको और विना शस्त्रवालेको और युद्ध नहीं करनेवालेको और दूसरेसे युद्ध करतेको नहीं मारे ॥ ९२ ॥

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्। न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ९३॥ यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः। भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ ९४ ॥

अर्थ–जिसका शस्त्र टूटजावे और पुत्रादिकोंके शोकसे आर्त हो और बहुत शस्त्रोंके लगनेसे व्याकुल हो तथा युद्धमें डरता हो और युद्धसें भाजै इतने शत्रुओंको श्रेष्ठधर्मको जाननेवाला राजा नहीं मारे ॥ ९३ ॥ जो डरके रणसे भगा हुआ योद्धा रणमें शत्रुओंसे माराजाता है वह अपने मालिकके संपूर्ण पापको प्राप्त होता है ॥ ९४ ॥

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम्। भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ९५॥ रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः। सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥ ९६ ॥

अर्थ–युद्धमें पराङ्मुख होके मरनेवालेको जो कुछ जीवतेहुए परलोककेवास्ते सुकृत संचय किया था उस संपूर्णको उसका राजा लेता है ॥ ९५ ॥ रथ घोडा हस्ती छत्र धन धान्य गौ आदि पशु स्त्री और संपूर्ण वस्तु गुड नौन आदि तथा कुप्य अर्थात् सौना चांदीकेविना ताम्रादि धातु धन इन संपूर्ण चीजोंको जो अकेला न्यारा जीतके ल्याता है वह सब लानेवालेकाही है और सौना चांदीतो राजाहीका है ॥ ९६ ॥

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः। राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९७ ॥ एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः। अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून्॥ ९८ ॥

अर्थ–यह वेदमें लिखा है कि जीतिके ल्यायाहुआ सौना चांदी या और कोई उत्तम धन उसको राजाके अर्पण करे और हस्ती घोडे वाहनादिकभी राजाको देवे और राजाको यह करना उचित है कि सब जो धावोंको मिलके जीतेहुए

धनको संपूर्ण जो धाओंके अर्थ यथायोग्य वहादुरीकी इनाम देवे ॥ ९७ ॥ यह युद्धधर्म क्षत्रीको सनातन कहा है और अनुपस्कृत है अर्थात् उत्तम है इसवास्ते क्षत्री रणमें शत्रुओंको मारताहुआ इस युद्धधर्मको नहीं छोडे ॥ ९८ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः । रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥९९॥ एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् । अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ १०० ॥

अर्थ–जो नहीं जीताहुआ भूमी सुवर्णादि है उसको जीतनेंकी इच्छा करै और लब्ध हुएकी जतनकरके रक्षा करे और रक्षा किएको वणज आदिकोंसें वढावे और वढेहुए धनको सुपात्रको देवे ॥ ९९ ॥ यह चार प्रकारका पुरुषार्थ अर्थात् स्वर्गादिकोंका प्रयोजन जानें इसवास्ते आलस्यरहित सदा इसका अच्छे प्रकार अनुष्ठान करे ॥ १०० ॥

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया । रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं दानेन निःक्षिपेत् ॥१०१॥ नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृत-पौरुषः । नित्यं संवृतसर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ १०२ ॥

अर्थ–जो नहीं जीती वस्तु है उसको अपनी फौजकरके जीतनेंकी इच्छा करे और जीतेहुएको बंदोबस्तसे रक्षा करे और रक्षा कियेको वणज आदि वृध्युपायसे वढावे और वढेहुए धनको सुपात्रोंके अर्थ दान देवे ॥ १०१ ॥ सदा अपनी सेनाको हस्ती तथा अश्व आदिकोंसे युद्ध करनेंकी शिक्षाका अभ्यास करानेवाला होवे और सदा शस्त्रविद्यासे वलको प्रकाश करनेंवाला होवे और अपनें संपूर्ण मंत्री आदिकोंको गुप्त रखनेवाला होवे और सदा शत्रुके व्यसनादि छिद्रोंको देखनेवाला होवे ॥ १०२ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् । तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३॥ अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया । बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४॥

अर्थ–नित्य उद्यत दंडवाले राजासे संपूर्ण जगत् उद्वेग अर्थात् डरको प्राप्त होता है इससे सब प्राणियोंको दंडहीसे वसमें करे ॥ १०३ ॥ और मंत्रियोंसे छल कभीभी नहीं करे क्योंकि छल करनेसे राजामें विश्वास मंत्रियोंका नहीं रहता

है इससे धर्मकी रक्षाके अर्थ यथार्थ व्यवहार वर्ते और वैरीकी रचीहुई मायाको सदा जानै ॥ १०४ ॥

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु। गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ १०५ ॥ बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्। वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

अर्थ–ऐसा जतन करे कि जिससे इस राजाके छिद्रोंको दूसरा नहीं जानसके और दूसरेके छिद्रको आप जानलेवे और जैसे कछवा अपनें मुखचरणादिकोको अपनें शरीरमें गुप्तकर लेता है ऐसेही अपनें छिद्रोंको जतनसे गुप्त करे॥ १९५ राजा बुगलेकी तरंह अपनें प्रयोजनोंको चिंतवन करे और सिंहकी समान पराक्रम करे और भेडियेकी तरह शत्रुको मार डाले और जो कभी बलवाले शत्रुओंके बीचमें घिरजावे तो शशेकी तरंह छल करके भाज जावे और किसी बलवान्के आश्रय होजावे ॥ १०६ ॥

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः। तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १०७ ॥ यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः। दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥

अर्थ–इस प्रकार विजय करतेहुए इस राजाके जो शत्रु होवे अर्थात् विजय न करने देवे उन संपूर्णोंको साम दान दंड भेद आदि उपायोंसे अपनें वशमें करे ॥ १०७ ॥ जो वे विजय विरोधी आदिके तीन उपायोंसे न माने तो फिर बलसे उशके देशोंको जीतके और युद्धमें दंड करके वशमें करे ॥ १०८ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः। सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥ यथोद्धरति निर्हाता कक्षं धान्यं च रक्षति। तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥ ११० ॥

अर्थ–सामादिक चारों उपायोंमें राज्यकी वृद्धिके अर्थ पंडितजन सामादिक चार उपयोंमेंभी साम तथा दंड इन दोनोंकी प्रशंसा करते है अर्थात् अच्छा कहते है ॥ १०९ ॥ जैसे खेती करनेंवाला पुरुषसाथही उपजे तृण और धान्योंमें निरानेके वक्त तृणको उषाड डालता है और धान्यको रखता है तैसेही राजा राज्यकी रक्षा करे और चोर दुष्ट आदिकोंका नाश करे ॥ ११० ॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया । सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥ १११ ॥ शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा । तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥ ११२ ॥

अर्थ–जो राजा अज्ञानसे विना कसूर प्रजाको कष्ट देता है वह शीघ्रही पुत्र बांधवोंसहित नष्ट हो जाता है ॥ ११२ ॥ जैसे प्राणधारियोंके आहार निरोधादिकसे शरीरशोषण करनेंसे प्राण नष्ट हो जाते है तैसेही राजाओंकेभी प्राण राज्यको पीडा देनेंसे प्रकृतियोंके कोपादिकसे नष्ट हो जाते है ॥ ११२ ॥

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् । सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११३॥ द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् । तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥११४॥

अर्थ–राज्यकी रक्षा करनेंकेवास्ते राजा इस आगे कहेको करे क्योंकि राज्यकी रक्षा करनेंवाला राजा परिश्रमकेविनाही वढता है ॥११३॥ दो ग्रामोंमें अथवा तीन ग्रामोंमे वा पांच ग्रामोंमें तथा सौ ग्रामोंके बीचमें रक्षा करनेंवाले पुरुषोंका समूह स्थापन करे अर्थात् थाना तहशील आदि स्थापन करे ॥ ११४ ॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा । विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च॥११५॥ ग्रामदोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् । शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ॥ ११६ ॥

अर्थ–एकगांवका मालिक करे तैसेही दशग्रामोंका मालिक करे और वीस गामोंका मालिक करै वा सौ गामका मालिक करै तैसेही हजार गामोंका मालिक करे इस क्रमसे राजा स्थापन करे ॥ ११५ ॥ एक ग्राममें चौरादिकोंका दोष वा लडाई फिसाद उठे उसको वह ग्रामाधीश बंद न कर सके तो दशग्रामके अधिपतिको कहै वह वीस ग्रामके अधिपतिको कहै ॥ ११६ ॥

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् । शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥ यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः । अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

अर्थ–वीस ग्रामोंका अधिपति तिस संपूर्ण कार्यको सौ गामके मालिकको कहै और सौ गावोंवाला हजार गांमोंवालेको कहै ॥ ११७ ॥ और जो जो अन्न

पानी ईंधन आदि वस्तु राजाको देनी योग्य है वे सब ग्रामवासी जनोंनें तिस अपनें ग्रामके अधिपतिके वास्ते देनी चाहिये अर्थात् वह ग्रामाधीश अपनी वृत्तिकेवास्ते तिनसे ग्रहण करे ॥ ११८ ॥

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च । ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ ११९ ॥ तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि । राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः॥

अर्थ–छह बैलोंका एक हल ऐसे दो हलोमें जितनी जमीन जोती जावे वह कुल कहाता है सो दशग्रामोंका अधिपति तिस एक कुलको ग्रहण करे और वीस गामोंका अधिपति ऐसी पांच कुलोंको ग्रहण करे और सौ ग्रामोंका अधिपति एक मध्यम ग्रामको ग्रहण करे हजार ग्रांमोंवाला मध्यम पुरको ग्रहण करे ॥ ११९ ॥ उन ग्रामोंके अधिपतियोंके ग्रामोंके जो कार्य है अर्थात् उनसे न हुए है उनको तथा अन्य कार्योंको राजाका किया हुआ योग्य अन्य मंत्री आलस्यरहित होके देखै ॥ १२० ॥

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् । उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥ स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् । तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

अर्थ–नगर नगरके प्रति एक बडे कुलका प्रधानरूप और हस्ती घोडे आदि फौजसे भय देनेवाला और संपूर्ण कार्योंका चिंतवन करनेवाला ऐसा एक पुरुष नक्षत्रोंमें शुक्रके समान तेजवाला होना चाहिये अर्थात् ऐसे गुणवालेको कार्यको देखनेके वास्ते नगरोंका अधिपति करै ॥ १२१ ॥ वह नगराधिपति सदा आप उन ग्राम आदि पतियोंकेपास जावे अर्थात् दौरा करे और उन ग्रामोंके पतियोंको राष्ट्रमें जो कुछ हुवा किया हो वह सब दूतद्वारा जानें ॥ १२२ ॥

राज्ञोहिरक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः । भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२३ ॥ ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ॥ तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् १२४

अर्थ–राजाको रक्षा करनेंवास्ते जो नौकर किये जाते है वे विशेष करके पराये द्रव्यको हरनेंवाले ठग होजाते है इसवास्ते राजा तिन नौकरोंसे इस प्रजाकी आप रक्षा करे ॥ १२३ ॥ जो राजाके कामदार पापबुद्धिवाले होके लोभके

वशसै कार्यार्थियोंसे धनको ग्रहण करलेवे तो राजा उनका संपूर्ण धनको लेके अपनें राज्यसे बाहिर निकला देवे ॥ १२४ ॥

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ॥ प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिस्थानंकर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥ पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् । षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः ॥१२६॥

अर्थ–राजा अपनें कर्ममें नियुक्त हुई स्त्रियोंकी अर्थात् दासियोंका और दूत आदि टहैलवोंकी दिनदिनकी वृत्तिकों स्थान औरके अनुसार करै अर्थात् उनके अनुसार रोजीना वगैरे करै ॥ १२५ ॥ घरको बुहारनेवाला पानीं भरनेवाला निकृष्ट चाकरको दिन दिन प्रति आगे जो कहैंगे वैसा एक पण देवै और छठे महिनें महिनें दो कपडे देवै एक महीनेके प्रति द्रोण अर्थात् सोलह सेरके अनुमान अन्न देवै और उत्कृष्ट चाकरको दिन दिन प्रति छह पण देवै और वस्त्र आदिभी छहगुना देवै मध्यम चाकरको ये सब तिगुनें देवै ॥ १२६ ॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् । योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥ यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम् । तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥

अर्थ–वनियां वस्त्र धान्य आदिको वेचे खरीदे तब इसको कितना मेलिया और कितनी दूरसे ल्याया रास्तेभोजनका क्या खर्च लगा चौरादिकोंकी रक्षा करनेमें क्या खर्च पडा इत्यादिक सब खर्चको राजा देखके वनियांसें कर दिलवावे ॥ १२७ ॥ कामोंको करनेंवाले बनियां कृषि आदि पुरुष जैसा फल पाते है अर्थात् जैसा मुनाफा उठाते है वैसा राजा उस फलको देखके अपनें राज्यमें निरंतर कर लगावे चूंगीलसंस आदि कर लावे ॥ १२८ ॥

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः । तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥ १२९ ॥ पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः । धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥

अर्थ–जैसे जोक अल्प अल्प रक्तको पीती है वच्छा थोडा थोडा दूध पीता है भौंरा शहदको पहले धीरे धीरे पीता है तैसेंही राजाको थोडा थोडाकरके राजाको वर्ष वर्षप्रति कर लेना अर्थात् सालियाना थोडा कर लेवे उजाड न करे

॥ १२९ ॥ खरीदनेंके धनसे अधिक पशु और सुवर्णका पंचासवा भाग राजा कर लेवे और धान्यका आठवां तथा छठवा बारहवा भाग जैसी जमीनकी पैदा इश हो उसके अनुसार ग्रहण करे ॥ १३० ॥

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् । गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१ ॥ पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च । मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२ ॥

अर्थ–वृक्ष मधु घृत गंध औषधी रस पुष्प मूल फल पत्र शाक तृण चर्म वैदल अर्थात् दलाहुआ ॥ १३१ ॥ फोडाहुआ अन्न आदिक मांटीके वरतन संपूर्ण पत्थरकी चीजें इनका छठा भाग लेवे अर्थात् इनकी आमदनीका छठा भाग कर लेवे ॥ १३२ ॥

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् । न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥ १३३ ॥ यस्यराज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा । तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ १३४ ॥

अर्थ–क्षुधाकरके पीडित हुआभी राजा श्रोत्रिय अर्थात् वेदपाठी ब्राह्मणसे कर नहीं लेवे और इस राजाके देशमें वसताहुआ श्रोत्रिय क्षुधाकरके पीडित न होवे ॥ १३३ ॥ जिस राजाके देशमें श्रोत्रिय ब्राह्मण क्षुधाकरके पीडित होता है उस राजाका वह देशभी शीघ्रही भूखकरके नष्ट हो जाता है अर्थात् तिसराज्यमें दुर्भिक्ष पडता है ॥ १३४ ॥

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् । संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ॥ १३५ ॥ संरक्ष्यमाणो राज्ञायं कुरुते धर्ममन्वहम् । तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

अर्थ–श्रोत्रिय ब्राह्मणको शास्त्रके ज्ञानमें और अनुष्ठानमें प्रवृत्तहुएको जानके धर्मके युक्त आजीविकाको राजा करै और इसको जैसे पिता औरस पुत्रकी रक्षा करता है तैसे सब प्रकार चौरादिकोंसे रक्षित करे ॥ १३५ ॥ राजाकरके सम्यक् प्रकारसे रक्षा कियाहुआ यह श्रोत्रिय ब्राह्मण दिनदिनप्रति धर्मको कराता है तिस करके राजाकै आयु धन राज्य ये वढते है ॥ १३६ ॥

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् । व्यवहारेण जीवन्तं रा-

जा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥ कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चा-
त्मोपजीविनः । एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः॥ १३८॥

अर्थ–सागपत्ते आदिकोंको वेचनेंकी आजीविका करनेंवालोंको राजा अपनें राज्यमें थोडासालियाना दिलवावे अर्थात् गरीव आदमियोंसे कर्मकर लेवे॥ १३७॥ कारुक अर्थात् चटाई आदि काम करनेंवाले अथवा चिननेंके काम करनेंवाले और चित्र काढनेंवाले वा लोहकार आदि शिल्पी शूद्र आपेको क्लेश देके आजीविका करनेंवाले मज्दूर पलदार आदि इनसे राजा महीनाके महीनै एक दिन काम ले लेवै ॥ १३८ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया । उच्छिन्दन् ह्या-
त्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥ तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च
स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः। तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः

अर्थ–प्रजाकी दया करके राजा कर नहीं तो अपना मूल छेद करता है और ज्यादा कर लेनेंसे प्रजाका मूल छेद होता है इसवास्ते ऐसा न करे अर्थात् कर नहीं लेनेंमें खजाना क्षीण होके राजा दुःख पाता है ज्यादा कर लेनेंमें प्रजा दुःख पाती है ॥ १३९ ॥ राजा कामको देखके कहीं तेज होवे और कहीं मुलायम हो जावे क्योंकि कभी तेज और कभी नम्र होवे ऐसा राजा सबको प्रिय है ॥२४०

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् । स्थापयेदासने त-
स्मिन् खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥ एवं सर्वं विधायेदमि-
तिकर्तव्यमात्मनः। युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः॥१४२॥

अर्थ–आप मनुष्योंके मुकदमें देखनेंमें खिन्न हो अर्थात् स्वस्थ चित्त न होवे तो प्रधान धर्मको जाननेंवाला बुद्धिमान् जितेंद्रिय कुलीन ऐसे मंत्रीको अपनी जगह स्थापितकर देवे मुकर्रिर करै ॥ १४१ ॥ इस प्रकार कहे हुए संपूर्ण अपनें कामोंको विधान करके फिर आप प्रमादसे रहित हुआ एकाग्र चित्तसे युक्त होके इस प्रजाकी रक्षा करे ॥ १४२ ॥

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ह्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः । संपश्यतः
सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३ ॥ क्षत्रियस्य परो धर्मः
प्रजानामेव पालनम् । निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ४४

अर्थ-दीवान मंत्रियोंसहित जिस राजाके देखते हुए उसकी प्रजा क्लेश पाती हुई है और चौर धारियों करके लुटती है वह जीवता हुआही राजा मरा हुआ है जीवते हुएके कार्य करनेंमें असमर्थ होनेंसे जीवता नहीं है ॥ १४३ ॥ प्रजाकी रक्षा करना यही राजाका परम उत्तम धर्म है क्योंकि यथोक्त फलको भोगनेंवाला राजा धर्मके संबंधसे होता है अर्थात् धर्मसे राज्यके फलको भोगनेंवाला होता है ॥ १४४ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः। हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥ १४५ ॥ तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्। विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः॥

अर्थ-वह राजा रात्रीके पीछले पहरमें पहरके तडके उठके शौच, मुखशुद्धि आदि क्रिया कर स्नान कर सावधान हो अग्निमें हवन कर और ब्राह्मणोंका पूजन करि पीछे सुंदर सभामें प्रवेश करै अर्थात् नित्यकर्म करके कचहरीमें जावे ॥ १४५ ॥ फिर तिस सभामें प्राप्त होके दर्शनकेवास्ते आई हुई प्रजाके संग संभाषण आदि करके उनका विसर्जन करे अर्थात् अपनें अपनें घरों जानेंकी आज्ञा देवै पीछे अपनें मंत्रियोंसे सब वातोंकी सलाह करै ॥ १४६ ॥

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः। अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥१४७॥ यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः। स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः॥४८॥

अर्थ-पर्वतपे चढके अथवा वनमें एकांतस्थानमें प्राप्त होके जहां कोई अन्य चुगलखोर नहीं सुनते हों ऐसे मकानमें बैठके मंत्रियोंके साथ राज्यसंबंध गुप्त बातोंकी सलाह करे ॥ १४७ ॥ जिस राजाके मंत्रको अर्थात् सलाह अन्य कोई मिलके नहीं जानसक्ते है वह राजा कोश अर्थात् खजानोंसे हीन हुआभी इस संपूर्ण पृथ्वीका राज्यको भोगता है ॥ १४८ ॥

जडमूकान्धबधिरांस्तिर्यग्योनान्वयोतिगान्। स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४९॥ भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तिर्यग्योनास्तथैव च। स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत्॥१५०॥

अर्थ-राजा मंत्र सलाह करनेंके समय जडबुद्धिरहित गूंगा अंधा बहिरा

तोता मैना आदिक पक्षी अति वृद्ध स्त्री म्लेच्छ व्याधिसे पीडित इनकोभी अलग हटवा देवै ॥ १४९ ॥ पूर्वोक्त ये जडादिक पहलेके दुष्कृतके कारणसे जडादिक भावको प्राप्त हो सुनके मंत्रको भेदन करदेते है इसी तरह तोता मैना आदि पक्षी स्त्री वृद्ध रोगी इत्यादिकभी राजाकी सलाहको भेदन करदेते है इसवास्ते तिनको दूर करके गुप्त सलाह करै ॥ १५० ॥

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः । चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा ॥ १५१ ॥ परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् । कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२ ॥

अर्थ–मध्यान्हसमयमें तथा अर्द्ध रात्रीकी समय चित्तके क्लेशसे रहित हो स्वस्थ चित्त होके तिन मंत्रियोंसहित अथवा अकेला धर्म अर्थ काम इनको करनेंका विचार करे ॥ १५१ ॥ धर्म अर्थ काम इन तीनोंका आपसमें विरोध है इसवास्ते इनका विरोध नहीं होसके तिस मार्गसे इनको संचय करनेको तथा पुत्रियोंके विवाह दान आदिको और पुत्रोंको नीतिशास्त्र विनय रक्षा करनी इनके पढानेंको चिंतवन करै ॥ १५२ ॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च । अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ १५३ ॥ कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः । अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १५४ ॥

अर्थ–दूतोंको परराज्यमें भेजनेका प्रकार और अन्य बाकी कामोंका विचार जनानें महलोंमें जो प्रचार होरहा हो तिसका विचार और प्रति राजाओंका विचार इनको अनुचिंतवन अर्थात् विचार करे ॥ १५३ ॥ संपूर्ण आठ प्रकारके कर्मोंको चितवन करे और पंचवर्गको तत्वसे निश्चयसे चिंतवन करे अनुराग विरागको विचारै और मंडलका विचार करे अर्थात् कौन लडना चाहता है कौन मुलाकात चाहता है इत्यादि विचार करे ॥ १५४ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् । उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥१५५॥ एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः। अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः॥१५६॥

अर्थ–मध्यम अर्थात् जीतनेंकी इच्छा करनेंवाले शत्रु और अपनी सेनाके बीच वालेके प्रचारको १ जीतनेंकी इच्छावाले शत्रुके कर्मको २ उदासीन शत्रुके प्रचा-

रको ३ और शत्रुके किये हुए यतनको ४ राजा चिंतवन करता रहै ॥ १५५ ॥ ये मध्यम आदि चार प्रकृति संक्षेपमात्रसे मंडलकी मूल कही है और अन्य आठ कही है ये दोनों तरहकी प्रकृति मिलके बारह कही है ॥ १५६ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः । प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥ अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च । अरेरनन्तरं मित्रमुदासिनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥

अर्थ–अमात्य राष्ट्र दुर्ग अर्थ दंड ये पांच द्रव्यप्रकृति है फिर ये पांच प्रकृति पहले कही बारह प्रकृतियोंके साथ बारह गुनी होके साठ ६० होती है और ४ मूलप्रकृति ८ शाखा प्रकृति इन समेत संक्षेपमात्रसे ७२ बहत्तर प्रकृति मुनियोंने कही है ॥ १५७ ॥ जीतनेंकी इच्छा करनेवाले राजाके चारों तर्फ अरि प्रकृतिको जानैं और तिस अरिके मित्रकोभी अरि जानै और उसके अनंतर मित्रप्रकृति अरिको जानै और मित्र शत्रुसे जो अन्य कोई जीतनेंकी इच्छा करता है उसको उदासीन प्रकृति जानै ॥ १५८ ॥

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः । व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥१५९॥ संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च । द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥१६०॥

अर्थ–तिन सब राजाओंको साम दानादिक सब उपायोंकरके वशमें करै अथवा केवल दंडहीकरके वशमें करे तथा केवल साम कहै समझानेंसेही वशमें करे ॥ १५९ ॥ हस्ति अश्व आदि देके मेल करना १ लडाई २ शत्रुपर युद्धकेवास्ते जाना ३ वा उसकी राह देखना ४ अपनें प्रयोजनके वास्ते फौजके दो हिस्से करना ५ शत्रुसे पीडित होके बलवान् राजाका आश्रय लेना संश्रय कहिये ६ ये छह गुण है इनको सदा चिंतवन करता रहै ॥ १६० ॥

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च । कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥ संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च । उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

अर्थ–अपनी समृद्धि और शत्रुकी हानि आदि कार्यको देखके मेल करना वा शत्रुपै युद्धकेवास्ते गमन करना लडाई करना वा आश्रय होना इन चारों माहसें जैसा उचित देखै वैसाही करे ॥ १६१ ॥ राजा संधिको दो प्रकारकी

जानै विग्रहकोभी दो प्रकारकी जानैं और यान, आसन, संश्रय येभी दो प्रकारके है अर्थात् ये छहों गुण दो दो प्रकारके है ॥ १६२ ॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च । तदात्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥ १६३ ॥ स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा । मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥१६४॥

अर्थ-तात्कालके फलके वास्ते वा उत्तरकालके फलकेवास्ते जो अन्य सहायवाले राजाके साथ होके शत्रु राजाके प्रति यान आदि कर्म कियाजाता है वह समान यानकर्मासंधि कहाती है और तू यहां आ हम आवेंगे ऐसें जो परफलके वास्ते की जाती है वह असमान यानकर्मा संधि है ऐसे दो प्रकारकी है ॥१६३॥ शत्रुके जयरूप कार्यकेवास्ते शत्रुके व्यसन आदिकोंको जानके उचित मार्गशीर्ष आदि कालमें वा वे कालहीमें युद्ध करना यह एक विग्रह है और अपनें मित्रका अपकार हो जा उसकेवास्ते युद्ध करना यह दूसरा विग्रह है ॥ १६४ ॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया । संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥१६५॥ क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा । मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

अर्थ-अत्यावश्यक कार्य होनेमें इच्छापूर्वक शत्रुपे दौड करना यह एक यान है और समर्थ नहीं हो तो मित्रको संग लेके शत्रुपे दौड करना यह दूसरा यान है ॥ १६५ ॥ पूर्वजन्मके दुष्कृतसे वा इसी जन्मकी बुराईसे जिसकी फौज हस्ती घोडे कोश आदिका नाश होजावे उसका आसन अर्थात् रक्षा करना वा मित्रके अनुरोधसे रक्षा करना ये दो प्रकारके आसन है ॥ १६६ ॥

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये। द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥१६७॥ अर्थसंपादनार्थं च पीडयमानस्य शत्रुभिः । साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

अर्थ-राजा अपनें कार्यकी सिद्धिकेवास्ते कुछ फौजको एक स्थानपर स्थापन करे और कुछ फौजको अपनें साथ किलामें रक्खे यह दो प्रकार द्वैध षट्गुणोंके जाननेंवाले मुनियोंनें कहा है ॥ १६७ ॥ शत्रुओंसे पीडित हुआ राजा अपनें प्रयोजनकी सिद्धिकेवास्ते जो किसी बलवान् राजाका आश्रय लेना यह एक संश्रय है और सज्जनोंकी पीडा निवारणकेवास्ते किसीका आश्रय लेना यह दूसरा संश्रय है ॥ १६८ ॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः। तदात्वे चाल्पिका पी-
डा तदा संधिं समाश्रयेत् ॥ १६९ ॥ यदा प्रकृष्टा मन्येत सर्वास्तु
प्रकृतीर्भृशम्। अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१७०॥

अर्थ-जब उत्तरकालमें निश्चय करकेभी अपना अधिक बल जानें तब थोडा-सा धनको ग्रहण करकेही संधिकरै अर्थात् थोडाही धनकी कोड लेके मेलकर लेवे ॥ १६९ ॥ जबकि अपनें मंत्रीआदिकोंको मान आदिसे प्रसन्न जानें और राजा आपेको फौज हाथी घोडा खजाना इत्यादि शक्ति करके युक्त जानें और धन आदिसे पुष्ट सेनाको जानें तब युद्ध करे ॥ १७० ॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्। परस्य विपरीतं च त-
दा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१ ॥ यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन ब-
लेन च। तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन् ॥ १७२ ॥

अर्थ-जबकि अपनें धन वाहन सेना आदि हर्षसे युक्त हो और शत्रुकी सेना, बल आदिकसे ही नहो तब राजा शत्रुके प्रति दौड करे अर्थात् शत्रुको कर्म जोर जानके उसका पीछा करे ॥ १७१ ॥ जब राजा सेना वाहन आदिकोंसे क्षीण हो जावे तब यतन करके धीरे धीरें शत्रुको समझाता हुआ ठहरे ॥ १७२ ॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्। तदा द्विधा बलं कृत्वा
साधयेत्कार्यमात्मनः ॥ १७३ ॥ यदा परबलानां तु गमनीयतमो
भवेत्। तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥ १७४ ॥

अर्थ-जब राजा शत्रुको संपूर्ण प्रकारसे बलवान् जानें तब सेनाके दो भेद करके अपना कार्य सिद्ध करे अर्थात् कुछ फौजको मोरचेपे लडनेंकेवास्ते रक्खे कुछ अपनें साथ किलामें रक्खे ॥ १७३ ॥ जब शत्रुकी सेनाकी बहुत चढाई होवे और किलाका आश्रयसेभी नहीं वचसके तब बलवान् धार्मिक किसी अन्य राजाका आश्रय लेवे ॥ १७४ ॥

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च। उपसेवेत तं नित्यं स-
र्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥१७५॥ यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारि-
तम्। सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

अर्थ-जो पूर्वोक्त प्रकृतियोंको और शत्रुके बलको हटावे तिस बलवंत राजा-

को संपूर्ण यतनोंकरके गुरूके समान नित्यप्रति सेवै अथात् उसकी आज्ञाके अनुसार चले ॥ १७५ ॥ जो यदि जिसकै आश्रय हुआ हो उसमेंभी दोष अर्थात् वे इमानी देखे तो निस्संदेह होके उसके संग युद्ध करे ॥ १७६ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः । यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥ आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् । अतीतानां च सर्वेषा गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥

अर्थ–नीतिके जाननेंवाले राजानें संपूर्ण उपायोंकरके ऐसा यतन करना चाहिये कि जिस्सें इसके मित्र उदासीन शत्रु ये अधिक न होवे ॥ १७७ ॥ संपूर्ण कार्योंके उत्तरकालके फलको विचारे अर्थात् इस्से क्या फाइदा होगा ऐसा विचारे और वर्त्तमानकालको शीघ्रही उत्पादन करे व्यतीत हुए कार्योंके गुण दोषोंको विचारे अर्थात् इस्में क्या बाकी करना रहा ऐसें विचारे ॥ १७८ ॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः । अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥१७९॥ यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः । तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥ १८० ॥

अर्थ–जो राजा होनेंवाले कार्योंके गुण दोषोंको जानता है और वर्त्तमान कार्यमें शीघही निश्चयकरके कार्य करता है और व्यतीत हुए कार्यमें अवशेष रहे-कार्यको विचारै वह शत्रुओंकरके दुःख नही पाता है ॥ १७९ ॥ जिस प्रकारसे इस राजाको मित्र उदासीन शत्रु ये वाधा न देसके तिस प्रकारसे संपूर्ण विधान करै यह राजा राजाके संक्षेपमात्र नीति है ॥ १८० ॥

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः । तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥ मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥ १८२ ॥

अर्थ–और जब वह राजा अपनी सेनाके बलसे पूर्ण होके शत्रुके राज्यके प्रति चढे तब इस आगे कहे हुए विधानके अनुसार चले ॥ १८१ ॥ उत्तम सेनासे युक्त हुआ राजा शुभ मंगसिरके महीनेंमें अथवा फाल्गुनके महीनेंमें तथा चैत्रके महीनेंमें शत्रुके राज्यमें यात्रा करे अर्थात् युद्धकेवास्ते गमन करे ॥ १८२ ॥

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुवं जयम् । तदा यायाद्वि-

गृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः ॥ १८३ ॥ कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधायच १८४

अर्थ-और जो निश्चयकरके अपनी जय जाने तो राजा इस्से अन्य ग्रीष्म ऋतुआदिमेंभी हस्ती घोडे आदि बहुत बलको ग्रहणकरके शत्रुके प्रति गमन करे और जब शत्रुकै व्यसन उठे हौं तब उसके राज्यमें यात्रा करे ॥१८३॥ अपनें राज्य और किला आदिकी रक्षा विधानकरके पीछे यात्रासंबंधी विधान विधिपूर्वक करके डेरा तंबू आदि ग्रहणकरके दूतोंकी जगह अगाऊ स्थापित कर यात्रा करै ॥ १८४ ॥

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८५॥ शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्। गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥ १८६ ॥

अर्थ-तीन प्रकारके मार्गको शोधके और अपनें छह प्रकारके बलको ग्रहणकरके संग्रामकल्पकी विधिसे धीरे धीरे शत्रुके पुरकी यात्रा करे ॥ १८५ ॥ जो मित्र छिपकरके शत्रुसे मिलाहुआ हो और जो नौकर पहले द्वेषभावसे छोडदियाहुआ फिर आया हो इन दोनोंमें हुशयारीसे रहना चाहिये क्योंकि इन दोनोंका निग्रह करना दुर्लभ है ॥ १८६ ॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा। वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥ १८७ ॥ यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम्। पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् १८८

अर्थ-दंडके समान जो रचना हो वह दंडव्यूह कहलाता है जैसे आगे फौजके अफसर बीचमें राजा पीछे सेनापति दोनोंतर्फ बराबरोंमें हस्ती उनके समीपमें घोडे तिनके आसपास पैदल ऐसे दीर्घ रचनाके विस्तारसे चलना दंडव्यूह कहाता है उसप्रकार चले वा शकटव्यूह तथा वराहव्यूह वा मकरव्यूह वा सूची गरुडवत् आकृतिवाला व्यूहकरके रास्तामें चले जैसा योग्य जाने वैसाही व्यूहकरके चले ॥ १८७ ॥ जिस दिशामें शत्रुका भय जानें तिसतर्फ विशेष सेना फैलावे और समान विस्तृत मंडलके मध्यमें राजा आप रहे यह व्यूह कहाता है सदा पद्मव्यूह आदिक पटमें युक्त रहे ॥ १८८ ॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् । यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥ १८९ ॥ गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान्समंततः । स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः १९०

अर्थ-सेनाका पति और सेनाका नायक इन दोनोंको सब दिशाओंमें योजना करे और जिस दिशामें भय समझे उस दिशाके तर्फ उनको पहले युक्त करे ॥ १८९ ॥ सैन्यके एक देशमें स्थित रहनेवाले बिगुल ढोल बजानेवाले प्रवीण पुरुषोंको स्थापन करे और युद्धके गुरचेपर सूर वीर डर नहीं मानैं विकारसे रहित ऐसे पुरुषोंको स्थापन करे सेनापति सेनानायक इनको सब दिशाओंमें शत्रुके बंदोबस्तकेवास्ते स्थापन करे ॥ १९० ॥

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् । सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥१९१॥ स्यन्दनाश्वैः समे युद्धयेदनूपे नौद्विपैस्तथा । वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥ १९२ ॥

अर्थ-अल्पयोद्धाओंको इकट्ठे कराके युद्ध करवावै और बहुत योद्धाओंको फैलाके युद्ध करवावै इन सब योद्धाओंको पूर्वोक्त सूच्यग्रव्यूहकरके वा वज्राकार रचनाकरके युद्ध करवावै ॥ १९१ ॥ समान भूमिपर रथ घोडे आदिकोंकरके युद्ध करे जलसे भरी धरतीमे नौका हस्ती आदिपर सवार होके युद्ध करे वृक्ष गुच्छे लता आदिसे आवृत जगहमें बाणोंकरके और कांटे आदि रहित स्थल भूमिमें तलवार ढाल आदिसे युद्ध करे ॥ १९२ ॥

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान् शूरसेनजान् । दीर्घाँल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥१९३॥ प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् । चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥ १९४ ॥

अर्थ-कुरुक्षेत्र देशके मनुष्य विराटदेश निवासी कान्यकुब्ज शूरसेन देशमें होनेंवाले अर्थात् मथुरादेशके निवासी बडे शरीरवाले तथा हलके शरीरवाले लडनेंका अभिमान रखनेंवाले मनुष्योंको युद्धके आगे करै ॥ १९३ ॥ युद्ध होनेंके समय सेनाको हर्ष अर्थात् जीतनेमें धर्म लाभ है मरनेमें नरककी प्राप्ति है इत्यादि हर्ष करवावै और ये किस अभिप्रायसे कुपित होते है वा हर्ष करते है ऐसे परीक्षा करे शत्रुके संग लडते हुयोंकी चेष्टा देखे कि कैसे लडते है ॥ १९४ ॥

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् । दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥ १९५ ॥ भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा । समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥ १९६ ॥

अर्थ–शत्रुको किलेमें अथवा किलेसे बाहिर घेरके उसके राजाको पीडा देवे देस लूट करे और उसके घास अन्न जल इंधनादिको विषे आदि मिलाके खराब करदेवै ॥ १९५ ॥ बावडी तलाव आदिको तोडडाले शहरके कोट खाही घेर आदिको तोडडाले और रात्रीकी समयमें कमजोरकरके इस शत्रुको पीडा देवै ॥ १९६ ॥

उपजप्यानुपजपेद्बुद्ध्येतैव च तत्कृतम् । युक्ते च दैवे युद्ध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः ॥ १९७ ॥ साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥ १९८ ॥

अर्थ–रिपुके वंशके जो पुरुष राज्यकी इच्छा करते हों उनको और क्रोधवाले उसके मंत्रियोंको मारदेवे और अपनी तथा उनकी चेष्टाको जानके शुभ ग्रहदशा आदि दैव होवे तब निर्भय होके युद्ध करे ॥ १९७ ॥ साम दान भेद इन तीनोंकरके अथवा एकेकेही करनेंसे पहले शत्रुके जीतनेंकी इच्छा करे इनसे पहलेही युद्ध करनेंका यत्न कभीभी न करे साम, प्रीति आदर करना दान, हस्ति घोडे आदि देना, उसके अनुचरों आदिका मारना ये तीन है ॥ १९८ ॥

अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युद्ध्यमानयोः । पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत् ॥ १९९ ॥ त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे । तथा युद्ध्येत संपन्नो विजयेत रिपून्यथा ॥२००॥

अर्थ–क्योंकि दो राजाओंके लडते हुए विजय अनित्य है अर्थात् कौनसा जीतेगा और कौनसा हारेगा यह कुछ निश्चय नहीं है इसवास्ते जबतक अन्य उपाय होसके तबतक युद्ध न करे ॥ १९९ ॥ इन तीनों पूर्वोक्त उपायोंकरके जो शत्रु नहीं जीता जावे तो हस्ती घोडे आदिकोंके बलसे युक्त हो जिस प्रकार शत्रुको जीतसके उस प्रकार युद्ध करे ॥ २०० ॥

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान् । प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥ २०१ ॥ सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन

चिकीर्षितम् । स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२ ॥

अर्थ–राजा अन्य राजाके राज्यको जीतके तहांके देवताओंका पूजन करे और अपनें धर्ममें रहनेंवाले ब्राह्मणोंका पूजन करे वा देवता ब्राह्मण आदिकोंके-वास्ते परिहार अर्थात् किसी मतलबकी छुटी देवै और यह कहदेवे कि अबसे आगे किसीको कुछ भय नहीं है ऐसे अभयदान देवे ॥ २०१ ॥ विजय करनें-वाला यह राजा शत्रुराजा तिसका मंत्री इन सबोंके संक्षेपसे अभिप्रायको जानके तिसी हतराज्यवालेके अंशीको वह राज्य देदेवै और यह करना यह न करना इत्यादि नियम सुनादेवे ॥ २०२ ॥

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान् । रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥ २०३ ॥ आदानमप्रियकरं दानं च प्रियका-रकम् । अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥ २०४ ॥

अर्थ–उनके यथार्थ योग्य धर्मोंको प्रमाण करे और जिस राजाको राज्यका अभिषेक करे उसको मंत्री आदिकोंसहित पूजित करे अर्थात् राजा दिवान आ-दिकोंको खिलात देवे ॥ २०३ ॥ इच्छित द्रव्योंका लेना श्रेष्ठ नहीं है और इ-च्छित वस्तुओंका देना प्रीतिकारक है परंतु यथायोग्य अवसरके अनुसार लेना वा देनाभी श्रेष्ठही है इसवास्ते उस समय उस शत्रु राजाकेवास्ते येनाही अच्छा है ॥ २०४ ॥

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे । तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानु-षे विद्यते क्रिया ॥ २०५ ॥ सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः । मित्रं हिरण्यं भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ २०६ ॥

अर्थ–यह सब कर्म दैव वा मनुष्यके विधानमें आधीन है तिनमें दैव अर्थात् भाग्य सो चिंतवन नहीं किया जाता है और मनुष्यके कर्मोंमें व्यवहार आदिक क्रिया दीखनेंमें आती है इसवास्ते मनुष्यद्वाराही कार्यकी सिद्धिकेवास्ते यतन करे ॥ २०५ ॥ मित्र सुवर्ण भूमि यह तीन प्रकारका फल शत्रुके राज्यमें यात्रा करनेंका है अर्थात् शत्रुके राज्यमें जाके उस्से कुछ द्रव्य वा पृथ्वी लेके और मेल करके वहांसे आवे ॥ २०६ ॥

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले । मित्रादथाप्यमि-मित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥ हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पा-

र्थिवो न तथैधते । यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् २०८

अर्थ–जो जयकरनेंवाले राजाके पीछे मुलकको दवाता आता हो वह पार्ष्णिग्राह कहाता है और जो तिसके अनंतर राज्यका मालिक किया जावे वह आक्रंद कहाता है सो इन दोनोंको देखके मित्रहुए राजासे वा विनामित्रभाववाले राजासे यात्राके फलको ग्रहण करे अर्थात् ऐसा न हो कि उनके धोखेंमें आजावे ॥ २०७ ॥ राजा वैसे सुवर्ण भूमि आदिकोंको पाकर नहीं वढता कि जैसे आगामी कालमें वढनेंकेवास्ते समर्थ कृशभी मित्रको पाके वढता है ॥ २०८ ॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च । अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥ प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च । कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ २१० ॥

अर्थ–धर्मज्ञ कियेहुए गुणको जाननेंवाला श्रेष्ठ स्वभाववाला प्रीति करनेंवाला स्थिर कार्यका आरंभ करनेंवाला ऐसा हलकासाभी मित्र वहुत अच्छा है॥२०९ विद्वान् अच्छे कुलमें होनेंवाला शूर वीर चतुर दाता कियेहुए गुण औगुनको जाननेंवाला धीरजबाला, ऐसे शत्रुको पंडित जन कठिन कहते है इसवास्ते उसके संग मेल करना योग्य है ॥ २१० ॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता । स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ २११ ॥ क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि । परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२ ॥

अर्थ–साधुपना पुरुषको जानना शूर वीरपना कृपालुपना, उदारता बहुत देंनेंवाला इन सामग्रियोंसे युक्त हो यह उदासीन वृत्तिवाला कहाता है इसवास्ते उदासीनको आश्रय होके पहले कहे शत्रुके संग युद्ध करे ॥ २११ ॥ कल्याणको देंनेंवाली बहुत धान्यको उत्पन्न करनेंवाली पशुवृद्धि करनेंवाली ऐसी भूमिकोभी राजा अपनी रक्षाकेवास्ते शीघ्रही छोड देवे ॥ २१२ ॥

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि । आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥ सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् । संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान् सृजेद्बुधः ॥ २१४ ॥

अर्थ–आपत्ति दूर करनेंकेवास्ते धनकी रक्षा करे और स्त्रियोंकी रक्षा धनका

खर्चकेभी करे और अपनें आत्माकी रक्षा धनकरके वा स्त्रीकरके करै ॥ २१३ ॥ एकहीवार जो संपूर्ण विपत्ति उत्पन्न हो जावे तो बुद्धिमान् राजा सामआदि संपूर्ण उपायोंको मिलाके करे वा अलग अलग करे ॥ २१४ ॥

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः । एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये ॥ २१५ ॥ एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः । व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥२१६॥

अर्थ–उपाय करनेंवाला और उपाय करनेंके योग्य संपूर्ण उपाय इन तीनोंका आश्रय लेके राजा अपनें कार्यकी सिद्धिकेवास्ते यतन करे ॥ २१५ ॥ राजा इस उक्त प्रकारसे संपूर्ण प्रयोजन मंत्रियोके संग विचारके अनंतर आयुधोंके अभ्याससे कसरत कर मध्यान्हमें स्नान आदि कर्मकर फिर भोजन करनेंकेवास्ते अंतःपुर रहनेंके महलोंमें जावे ॥ २१६ ॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः । सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७ ॥ विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् । विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८ ॥

अर्थ–तहां अंतःपुरमें अपनें तुल्य और भोजन कालके भेदको जाननेंवाले रसोईदाकरके परीक्षित किया हुआ चकोर आदि पक्षियोंकरके परीक्षित कियाहुआ विषनाशक मंत्रोंकरके शुद्ध कियाहुआ अन्नको भोजन करे ॥ २१७॥ राजाके भोजन आदि सब द्रव्योंमें विषनाशक औषध डाले और राजा विषनाशक रत्नोंको यतनकरके सदा धारण करे ॥ २१८ ॥

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः । वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः ॥ २१९ ॥ एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने । स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥ २२० ॥

अर्थ–परीक्षाकी हुई और वेष आभरण आदिकोंसे शुद्ध हुई एकाग्रचित्त हुई इस राजाकी स्त्रियां पंखा जल धूप इत्यादिकरके सेवा करे और चंवर आदिसे सेवा करे ॥ २१९ ॥ इसी प्रकारसे वाहन शय्या आसन इनमेंभी परीक्षाका यतन करे वा भोजनमें स्नानमें अनुलेपमें सब गहिनोमें परीक्षाका यतन करे ॥२२०॥

भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह । विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥ अलंकृतश्च संपश्येदायुधी-

यं पुनर्जनम् । वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च २२२

अर्थ–भोजन करके पीछे तहांही अंतःपुरमें स्त्रियोंकेसाथ क्रीडा करे दिनके सातवें भागतक क्रीडा करे आठवें भागमें फिर राज्यके कार्योंको चिंतवन करे ॥ २२१ ॥ आभूषण आदिकोंसे अलंकृत हुआ राजा आयुध जीवी सीपाही आदि नौकरोंको और हस्ती घोडे आदि वाहनोंको और संपूर्ण शस्त्रोंको अलंकारोंको देखै ॥ २२२ ॥

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत् । रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥२२३॥ गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम् । प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः २२४

अर्थ–उसके अनंतर संध्योपासन करके अंतःपुर अर्थात् जनानेमहलोंमें एकांतस्थानमें जाके शस्त्रको धारण करनेवाला और एकान्तका कहनेवाला जो दूत है उसके किये हुएको सुनै ॥ २२३ ॥ पीछे उस दूतको वहांसे जानेकी आज्ञा देके जनानेमहलोंमें फिर भोजनकेवास्ते तहां स्त्रियोंकी वातें सुनैं तिन अंतःपुरकी स्त्रियोंमें संयुक्त रहे ॥ २२४ ॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः । संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥ एतद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः । अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

अर्थ–फिर तहां अंतःपुरमें कछुक भोजनकरके बाजा वजनेंके शब्दोंसे प्रसन्न हुआ राजा उचित कालमें चार घडी रात गयें शयन करे पीछे पहर भरके तडके विश्रांत हुआ ऊठे ॥ २२५ ॥ रोगरहित राजा इस कहेहुए संपूर्ण प्रकारको आप करे और जो अस्वस्थ अर्थात् वीमारी आदिसे पीडित हो तो इस संपूर्ण कार्यको योग्य मंत्री आदि भृत्योंको सौंपदेवें ॥ २२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां राजधर्मो नाम सप्तमोध्यायः ॥ ७ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः । मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभि-
श्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥ तत्रासीनः स्थितो वापि पा-
णिमुद्यम्य दक्षिणम्।विनीतवेषाभरणःपश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् २

अर्थ-नीतिशास्त्रमें कुशल राजा व्यवहारोंको देखनेंकेवास्ते ब्राह्मण और मंत्रके जाननेंवाले मंत्रियोंके साथ सभाप्रवेश करे ॥ १ ॥ वेष आभरण करके सुंदर प्रकारसे युक्त हुआ उस सभामें बैठा अथवा खडा हुआ राजा दहिनी भुजाको उठाके कामवालोंके कामोंको विचारे ॥ २ ॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः । अष्टादशसु मार्गेषु निब-
द्धानि पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥ तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामि-
विक्रयः । संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥ वेत
नस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः । क्रयविक्रयानुशयो वि-
वादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥ सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्ड-
वाचिके । स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च । पदान्यष्टादशैतानि
व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥ एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरता
नृणाम् ॥ धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

अर्थ-अठारह जो व्यवहारके मार्ग है उनमें कहेहुएको देश जाति कुल व्यवहारमें प्राप्त जो हेतु उनकरके और शास्त्रमें अवगत साक्षी, द्रव्यादिकके हेतु इनकरके अलग अलग दिन दिन प्रति विचार करे तिन अठारह मार्गोंको आगे कहते है ॥ ३ ॥ अब तिन अठारहोंको गिनाते है तिन अठारहोंमें प्रथम ऋणादानको विचारते है ऋणके लेनें देनेंको ऋणादान कहते है १ अपना धन अन्यमें जमा करना यह निक्षेप कहाता है २ मालिकके विना दूसरेको बेचना ३ फिर वनियेंकी क्रियाका अनुष्ठान अर्थात् हिसाब किताब दियेका फिर लेना ४ दिया हुआ धनको क्रोध आदिसे न लेना ५ काम करनेंवालेकी नौकरी न देना ६ इकरारनामेंसे निकलजाना ७ खरीदनें बेचनेंके पीछे किया झगडा ८ मालिक और पशुपालका झगडा ९ डांडबांधकी लडाई १० कठोर वचन कहना ११ मारपीट करना

१२ चोरी करना १३ जबरदस्तीसे धन आदिका हरना १४ स्त्रीका परपुरुषसे मिलना १५ स्त्रीपुरुषके धर्मकी व्यवस्था १६ पिता आदिके धनका हिस्सा १७ पासों आदिसे जूवा खेलना वा मेंढा आदि जानवरोंकी लडाईमें हार जीत लगाना १८ ये अठारह स्थान व्यवहारकी प्रवृत्तिके कहे है ॥ ७ ॥ इन ऋण आदि व्यवहारोंके स्थानोंमें बहुतसा झगडा करतेहुए मनुष्योंका अनादिसे चले आते धर्मका आश्रयणकरके कार्यका निर्णय करे अर्थात् पुरानेंकानूनके अनुसार इनसाफ करे ॥ ८ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् । तदा नियुंज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥ सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः । सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा १०

अर्थ–जो यदि अन्यकार्यमें लगाहुआ अथवा रोगादिकसे व्याकुल हुआ राजा आप कार्यको न देखसके तो तिस कार्यके देखनेंकेवास्ते विद्वान् ब्राह्मणको युक्त करे ॥ ९ ॥ वह ब्राह्मण सभामें रहनेंवाले तीन अन्य ब्राह्मणोंसेयुक्त हो सभामें प्रवेश हो एकाग्र खडा हो अथवा बैठके राजाके देखनेंके सब कामोंको अच्छी तरहसे देखै ॥ १० ॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः । राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्राह्मणस्तां सभां विदुः ॥ ११ ॥ धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते । शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः १२

अर्थ–जिस देशमें ऋक् यजु साम इन तीनों वेदोंको जाननेंवाले ब्राह्मण रहते हैं और वैसाही विद्वान् ब्राम्हण राजासे अधिकार पाके सभामें रहता है मुनिजन तिस राजाकी सभा ब्रह्माकी सभाके समान मानते है ॥ ११ ॥ जिस राजाकी सभामें अधर्मसें विंधाहुआ धर्म अर्थात् झूटसे मिला सच मुकदमा जाता है तहां जो यदि विंधेहुए धर्मकी शल्यको अर्थात् झूठरूप कांटेको नहीं निकालते है तो वे सभासद उसी अधर्मसे विंधजाते हैं ॥ १२ ॥

सभा वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अब्रुन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ १३ ॥ यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च । हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ १४ ॥

अर्थ–मुकदमेंकेवास्ते राजाकी सभामें जावे नहीं और जो जावे तो सच बोले

क्योंकि सभामें जाके कुछ न बोले वा झूठ बोले तोभी मनुष्य पापी होता है ॥ १३ ॥ जिस सभामें अधर्मकरके धर्म नष्ट होता है और झूटसे सच नष्ट होजाता है ऐसे मुद्दई मुद्दाइलोंको धर्म और सच नष्ट होजाता है तहांके सभासदोंका कसूर नहीं दूर होता इसवास्ते वे सभासद नष्ट होजाते हैं ॥ १४ ॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः । तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत् ॥ १५ ॥ वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् । वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥

अर्थ-नष्ट किया हुआ धर्म नाशकर देता है और रक्षित किया हुआ धर्मही अर्थि प्रत्यर्थियोंसहित सबकी रक्षा करता है इसवास्ते धर्म नष्ट नहीं करना चाहिये नष्ट हुआ धर्म हमारा तुह्मारा नाश करेगा यह वचन सभासदोंकेप्रति न्याय करनेंवालेका है ॥ १६ ॥ भगवान् धर्म वृष कहाता है तिसको जो पुरुष निवारण करता है उसको देवता वृषल ऐसा कहते है इसवास्ते धर्मका लोप नहीं करे ॥१६॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः । शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥ पादो धर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति । पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥१८॥

अर्थ-इस पुरुषका मित्र एक धर्मही है क्योंकि वह मरनेंके पीछे चलता है और अन्य सब पुत्र स्त्री आदि कुटुंब शरीरकेहीसाथ नष्ट होजाता है अर्थात् मरेपीछे कोई साथ नहीं रहता ॥ १७ ॥ दुर्व्यवहारके देखनेसे अधर्मके चार पैर हैं सो एक पाद अर्थात् एक भाग करनेंवालेको प्राप्त होता है दूसरा भाग झूठी गवाही देनेंवालेको ३ भाग सभासदोंको ४ भाग राजाको ठीक इन्साफ न होनेंसे इस तरह इन सबोंको पाप लगता है ॥ १८ ॥

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः । एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥ १९ ॥ जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः । धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥२०॥

अर्थ-जिस सभामें असत्यवादी वा पापकर्त्ता ये ठीक इन्साफ करनेंसेभी राजा आदिकोंकी निंदा करते है तहां राजा और सभासद पापोंसे रहित होजाते है और उन निंदा करनियोंको पाप लगता है ॥१९॥ जो जातिमात्र तथा कहनें मात्र ब्राह्मण है और कोई कर्म ब्राह्मणका नहीं करता है ऐसाभी ब्राह्मणधर्म

प्रवक्ता कहिये न्यायदर्शनमें श्रेष्ठ है परंतु शूद्रको कभीभी न्याय करनेंवाला न करे ब्राह्मण या क्षत्रिय वा वैश्यकोही इन्साफ करनेंमें राजा युक्त करे ॥२०॥

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् । तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥२१॥ यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् । विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ २२ ॥

अर्थ–जिस राजाके धर्मका निर्णय शूद्र करता है उस राजाका राज्यका देश कीचडमें धसकीहुई गौकी तरंह पीडा पाता है ॥ २१ ॥ जिस राष्ट्रमें अर्थात् राजाके देशमें बहुत शूद्र है और नास्तिक मतके पुरुष अधिक है तथा ब्राह्मणोंकरके रहित है वह संपूर्ण राज्य दुष्कुल और रोगआदिसे पीडित हुआ शीघ्रही नष्ट हो जाता है ॥ २२ ॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः । प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥२३॥ अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ । वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २४ ॥

अर्थ–राजा धर्मासनपर बैठके शरीरको वस्त्रादिकसे आच्छादितकर एकाग्र चित्त हो लोकपालोंके अर्थ प्रणाम कर कार्यके देखनेंका आरंभ करे अर्थात् अच्छीतरंह राज्यसिंहासनपर बैठके मुकदमा करे ॥ २३ ॥ प्रजाकी रक्षा और प्रजाको नष्ट करनेवाले अर्थ अनर्थोंको जानके तथा केवल धर्म अधर्मको जानके वर्णक्रमसे अर्थात् प्रथम ब्राह्मण पीछे क्षत्रिय आदि इस क्रमसे कार्योंको देखे अर्थात् मुकदमेंवालोंके मुकदमोंको देखे ॥ २४ ॥

बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् । स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥ आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २६ ॥

अर्थ–मनुष्योंके बाहरके चिन्होंसे अर्थात् बोलनेसे और मुखकी शोभा बिघडनेसे नीचेको देखनेसे शरीरमें पसीना आनेसे भयकरके रोमोंके उठनेसे और हाथोंके मसलनेंसे मनके मतलबको जानें ॥ २५ ॥ पहिले कहे आकारोंसे चेष्टासे बोलनेंसे और चालको देखनेंसे नेत्र मुखके विकारसे मनुष्योंके मनकी बात गृहणकी जाती है ॥ २६ ॥

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् । यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥ वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च । पतिव्रतासुच स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥२८॥

अर्थ–चाचेबाबा आदिकोंकरके अन्यायसे लियाहुआ बालकका धनकी और बालककी तबतक राजा रक्षा करे कि जबतक वह बालक जवान होवे और पढनें लिखनेंमें हुसियार होवे तबतक ॥ २७ ॥ वंध्याके पासके धनकी अर्थात् वह वंध्या कि जिस्के पतिने दूसरा विवाह किया होवे उसकी और विनापुत्रवाली प्रोषिद्भर्तृका, और निष्कुला अर्थात् जिसके कुलमें कोई न रहे उसके धनकी तथा पतिव्रता, विधवा रोगवाली इन स्त्रियोंके धनकी रक्षा राजा करे ॥ २८ ॥

जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः । ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः । प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ३०

अर्थ–हम अधिकारी है इन्होंके पीछे इस धनकी हम रक्षा करेंगे ऐसे छलसे जो भाई बंधु उन स्त्रियोंके जीवते हुए तिस धनको ग्रहण करते है उनको धर्मके जाननेंवाला राजा आगे कहेंगे जो चोरदंड उस दंडकरके शिक्षा देवे ॥ २९ ॥ जिस धनके मालिककी न मालुम होवे उस धनका, यह ढंढोरा पिटावे कि किसीका कुछ धन खोगया हो तो वह धन राजाके धरा है इसप्रकार राजद्वारमें रक्षाकरके तीन वर्ष रक्खे जो तीन वर्षभीतर धनका मालिक आजावे तो वह लेवे और पीछे वह धन राजाका है ॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि । संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥ ३१ ॥ अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वतः । वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२ ॥

अर्थ–जो यह कहे कि मेरा धन है उसको यह पूछे कि तेरा धनका क्या रूप है और कितना तोलका है कहां खोया है इत्यादि सब पूछे पीछे जब ये सब सही मिल जावें तो धनका मालिकको धन मिलैं ॥३१॥ उस देशमें, उस कालमें, मेरा धन खोया था और वर्ण शुक्ल था या कृष्ण रक्तादि था और फलाना गहना था इतना तोल, काथा इस बातको नहीं जानता हुआ जो पुरुष छलसे धन लिया चाहता हो उसको उस धनके समान दंड देवे ॥ ३२ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः। दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ ३३॥ प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्। यांस्तत्र चौरान् गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत् ॥ ३४ ॥

अर्थ–पहलेके श्रेष्ठ पुरुषोंका यही धर्म है इस बातको जाननेंवाला राजा किसीके नष्ट हुए धनको प्राप्त होके उसमेंसे छठे हिस्सेको या दशमेंह हिस्सेको या बारहें हिस्सेको लेवे और बाकी धन मालिकको देदेवे ॥ ३३ ॥ जो किसीका नष्ट हुआ धन राजाके नौकरोंको प्राप्त हुआ हो और रक्षा करनेवालोंसें रक्षित किया गया हो तिस द्रव्यको हरतेहुए जिन चौरोंको पकडे उनको राजाके हस्तीसे मरवा देवै ॥ ३४ ॥

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः। तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५॥ अनृतं तु वदन्दण्ड्यः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्। तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम्॥३६

अर्थ–जिस किसीको जमीनमें गडा हुआ धन पाजावे या और पाये धनको यह कहै कि यह धन मेरा है तब उसके साच कहनेंसे या प्रमाण देनेंसे अपने धनकी सचाबर करानेसे उस पुरुषके गुन औगुणके समान उस धनका आठवा या बारहवा हिस्साको राजा लेके बाकी रहाको उसको देदेवे ॥ ३५ ॥ जो अपना धन नहीं है उसको अपना बताता हो उसको उसके घरके आठवे हिस्से धनका दंड देना योग्य है अथवा उसी धनके थोडेसे भागका दंड देना योग्य है ॥ ३६ ॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्। अशेषतोऽप्याददीत सर्वस्याधिपतिर्हि सः ॥३७॥ यं तु पश्येन्निधिं राजा पुराणं निहितं क्षितौ। तस्माद्द्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत् ॥३८॥

अर्थ–विद्वान् ब्राह्मण पूर्वोक्त धनके खजानेंको देखके संपूर्णको आपही ग्रहण करलेवे अर्थात् छठा हिस्सा राजाको नहीं देवे क्यों कि संपूर्ण द्रव्यका मालिक ब्राह्मणही है ॥ ३७ ॥ जो राजा कभी पहले वक्तका गडा हुआ धनको जमीनमें देखे अर्थात् पावे तो उसमेंसे आधा धनको ब्राह्मणोंके अर्थ देके आधाको खजानेंमें प्राप्त करे ॥ ३८ ॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ। अर्धभाग्रक्षणाद्रा-

जा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥ दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् । राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४० ॥

अर्थ–जो जमीनमें पुरानी धनकी निधि है और राजाकी नहीं है तथा विद्वान् ब्राह्मणोंसे अन्योंको पाई है उसका और सुवर्ण आदि धातुओंकी खानिके आधे धनका मालिक राजा है रक्षा करनेंसे क्योंकि राजा भूमीका मालिक है ॥३९॥ जो धन चौरोंको चोरा हो उस धनको चोरोंसे छीनके धनके मालिकको देवे और जो उस धनको राजा आप लेता है वह चोरके पापको प्राप्त होता है ॥४०॥

जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् । समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥४१॥ स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोऽपि मानवः । प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः॥

अर्थ–ब्राह्मणादिक जातियोंके धर्म अर्थात् पूजनादि तथा देशके धर्म, और श्रेणिधर्म अर्थात् वणज आदि और कुलधर्म इन सब धर्मोंको देखके धर्मज्ञ राजा अपना श्रेष्ठ राजधर्मको प्रतिपादन करे ॥ ४१ ॥ अपनी जातिके और कुलके और अपनें देशके कर्मोंको करतेहुए और अपनें अपनें नित्य नैमित्तिक कर्मोंमें रहनेंवाले मनुष्य, दूरभी वसतेहुए, संसारके प्यारे होते है ॥ ४२ ॥

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः । न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ ४३ ॥ यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् । नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

अर्थ–राजा वा राजपुरुष अर्थात् कामदार, धनके लोभादिकोंकरके करज आदि झगडोंको नहीं उत्पन्न करावे और करजा देनेंलेनेंवालोंको मुकदमोंको लाँच लेके खारीज नहीं करे ॥ ४३ ॥ जैसे शस्त्रकरके हतहुए मृगके शरीरसे पडाहुआ रुधिरके पीछे जाके, मृगको मारनेंवाले जन मृगके स्थानको प्राप्त होते है तैसेही अनुमानकरके वा देखेहुए प्रमाणकरके, राजा धर्मके तत्वको निश्चै करता है ॥ ४४ ॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः । देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥ सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः । तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

अर्थ–व्यवहारके देखनेंमें प्रवर्तहुआ राजा साचको देखे और तैसेही अर्थको अर्थात् गौ सुवर्णादि धनके विषयमें स्थितहुए व्यवहारको देखे तैसेही अपनेंको और सत्य बोलनेंवाले साक्षीको देशकालको रूपको इन सबको देखे ॥ ४५ ॥ जो धार्मिक सत्पुरुषोंको आचरण किया हो तथा द्विजातियोंको आचरण किया हो ऐसा जो देश कुल जाति अविरुद्ध धर्म उसको लेके व्यवहारका निर्णय करे ॥ ४६ ॥

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः । दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥४७॥ यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः । तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥

अर्थ–अधमर्ण अर्थात् अपनें करजेके धनको लेनेंवाले साहूकारके कहनेंसे राजा इष्टाम आदिसे प्रमाणित कियेहुए करजेको करजदारके पाससे तिस धनीको दिवा देवे ॥ ४७ ॥ पहिले कहेहुए उपायोंकरके जो साहूकार अपनें धनको लेता है उसीउसी उपायकरके करजेको अपनें आधीनकरके राजा दिवावे ॥४८॥

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च । प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥ यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् । न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

अर्थ–धर्मकरके या वणज आदि व्यवहारकरके या छलकरके या आचरितकरके अर्थात् घरके द्वारे बैठके या पांचमें बलकरके युक्त धर्मको अर्थात् करजेको लेवे ॥ ४९ ॥ जो धनवाला अपनें धनको करजदारसे बलकरके आपही ले लेवे तो उसें राजाको यह कहना न चाहिये कि तैंने बलसे हमारे कहेविना क्यों ले लिया ५०

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् । दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥ अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि । अभियोक्तादिशेद्देश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

अर्थ–और जो करजदार करजेको निकलता हो और करण आदिकोंसे अर्थात् वही, कागजसे करजा साबूत होवे तो उस करजेको राजा धनवालेको दिवावे और निकलनेंवाले करजदारको कुछ दंडभी देवे ॥५१॥ जब सभामें राजा करजदारको यह कहै कि धनवालेका करजा दो और वह करजदार यह कहे कि मैं जानताभी नहीं तब कर्जे मांगनेवाला महाजन फिर गवाह देवे या इष्टाम आदि कागजपत्र दिखावे ॥ ५२ ॥

अदेश्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्नुते च यः । यश्चाधरोत्तरानर्थान् विगीतान्नावबुद्धयते ॥ ५३ ॥ अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति । सम्यक् प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः । निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्पतेत् ॥ ५५ ॥ ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् । न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥

अर्थ–जो झूठे गवाह और झूठे कागजपत्रको दिखाता है और जो देखनेंलायक कागजादिकोंको देखके निकलता है ओ आगे पीछे कहेका खयाल नहीं रखता जो अपनी कही बातको उलटता है जो प्रतिज्ञा कियेहुए मतलबको इन्साफ करनेंवालेके पूछनेंसे खुश नहीं होता है जो गवाह आदिकोंसे एकांतमें सलाह करता है जो अपनी कहीहुई बातके सही होनेंकेवास्ते इन्साफ करनेंवालेके कियेहुए सवालको अच्छा न समझे जो वे प्रयोजन बातको कहताहुआ इधर-उधर घूमें जो पूछनेंपर कुछ न कहे और जो कहे सो साबूतीसे न कहे और जो अगली पिछली बातको न जानें ऐसे वे पुरुष अपनें प्रयोजनसे नष्ट होते है अर्थात् मुकदमोंको हारते है ॥ ५३–५६ ॥

साक्षिणः सन्ति मे त्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः । धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत् ॥ ५७ ॥ अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्बध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः । न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ ५८

अर्थ–मेरे गवाह हाजिर है ऐसे कहके जो फिर गवाहोंको न देवे अर्थात् राजाके सन्मुख न करे तो फिर उसको धर्मस्थ राजा यह कहै कि तू हारगया ॥ ५७ ॥ जो मनुष्य मुद्दईहुआ अर्जी देके जबानी जवाब न देवे अर्थात् राजाके सन्मुख जबाब न करे तो छोटे बडे मुकदमेंके अनुसार कैद या जुल्बानेंके योग्य है और जो एक वार अर्जी करके डेढ महीनेंके भीतर हाजिर न हो तो वह कानूनसे बाहिर होके मुकदमेंको हार जावेगा ॥ ५८ ॥

यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् । तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥ ५९ ॥ पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा । त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसन्निधौ ॥ ६० ॥

अर्थ–जो प्रत्यर्थी अर्थात् मुद्दाइलेह जितनें धनको घटावता है और जो मुद्दई झूठ बोलके जितनें धनको बढाता है जानके निकलनेवाले उन दोनोंके अर्थ जितनें धनकी झूठ बोलते है उस्से दूना दंड देना चाहिये ॥ ५९ ॥ हाकिमके आगे इन्कार करनेवाले मुद्दाइलेहको धनी महाजन राजाके ब्राह्मणके पास लेजाके तीन गवाहोंकरके साबित करे अर्थात् राजाके धर्मविवेचन करनेंवाले ब्राह्मणके आगे उसका लेना सही करे ॥ ६० ॥

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः। तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः ॥ ६१ ॥ गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः।अर्थ्युक्ताःसाक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि६२

अर्थ–धनी पुरुषोंको व्यवहारोंमें जैसे साक्षी करनें कहे है तैसोंको कहेंगे और उन गवाहोंको जिस प्रकारसे कहना योग्य है सोभी कहेंगे ॥ ६१ ॥ कुटुंबी, पुत्रवाले, उसी देशमें रहनेंवाले, क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन जातियोंवाले, ऐसे गवाह-महाजनके प्रेरेहुए योग्य है हर कोई गवाह देना योग्य नहीं है, यह काइदा आपत्कालके विना है अर्थात् फौजदारी आदि मुकदमोंमें नहीं है ॥ ६२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः। सर्वधर्मविदो लुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥ नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः। न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥६४॥

अर्थ–संपूर्ण वर्णोंमें जो पुरुष यथार्थ देखे हुए कर्मको कहनेंवाले हों और संपूर्ण धर्मोंको जाननेंवाले होवें लोभी नहीं होवें ऐसे पुरुषोंको साक्षी करै इनसे विपरीतोंको वर्ज देवै ॥ ६३ ॥ जिनकै करज मांगता हो ऐसे पुरुषोंको गवाह न करे मित्रजन सेवक पुरुष, वैरी, जिनमें कहीं दोष देख लिया हो, व्याधिसे पीडित, महापातक आदिकोंसे दूषित, ऐसे इन पुरुषोंको गवाह न करे ॥ ६४ ॥

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ। न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः॥ ६५॥ नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत्। न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः॥

अर्थ–राजाभी गवाह नहीं करना चाहिये और कारुक अर्थात् छाज चटाई आदि करनेंवाला, नट आदि, वेदाध्यापक विद्वान, ब्रह्मचारी संन्यासी इनको

गवाह न करे ॥ ६५ ॥ जो अत्यंत परपुरुषके आधीन हो उसको गवाह न बोले और क्रूरकर्म करनेंवाला, निषिद्ध कर्मोको करनेंवाला, वृद्ध पुरुष, बालक, इनकोभी गवाह न करे और एकको तथा चांडालको वा विकल इंद्रियोंवालाकोभी गवाह न बोले ॥ ६६ ॥

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः। न श्रमार्तो न कमार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥ स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः। शूद्राश्च संतः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८॥

अर्थ-दुःखी, मदिराआदि नसोंसे पीडित, बावला, क्षुधा तृषासे पीडित थका हुआ, कामकरके पीडित, क्रोधी चोर, इन पुरुषोंको गवाह न करे ॥ ६७॥ स्त्रियोंको आपुसके व्यवहारोंमें स्त्रियोंकीही गवाही देनी चाहिये और ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इनको अपनी जातिकेही द्विजोंकी गवाही देनी चाहिये शूद्रोंको सज्जन शूद्र गवाह करनें चाहिये और चांडाल आदिकोंको चाडाल आदही गवाह करनें चाहिये ॥ ६८ ॥

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम्। अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥६९॥ स्त्रियाप्यसंभवेकार्थं बालेन स्थविरेण वा। शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥

अर्थ-घरके भीतर वा अरण्यमें चौरादिकोंकरके मार पीट होनेंमें शरीरमें चोट लगनेंमें इस तरंहके मुकदमोंमें झगडनेंवालोंकीही साक्षी करे॥ ६९ ॥ मकानके भीतर पूर्वोक्त गवाहोंके न होनेंमें स्त्री बालक वृद्ध शिष्य भाई दास सेवक इत्यादिकोंकीभी गवाही देनी योग्य है ॥ ७० ॥

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा। जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥७१॥ साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च। वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥

अर्थ-बालक वृद्ध रोगी इन गवाहोंकी झूठ बोलनेंके वक्त वाणी स्थिर नहीं रहती है और तैसेही कच्चेदिलवालोंकीभी बाणी स्थिर नहीं रहती है इसवास्ते अनुमानसे उनकी झूटको जानें ॥ ७१ ॥ संपूर्ण साहस अर्थात् डांकापडना, मकान आदि जलाना और चोरी धाडआदिकोंका पडना, गाली देना, गुप्तमार

पीट करना, इन मुकदमोंमें पूर्वोक्त गवाहोंकी परीक्षा न करे अर्थात् कैसाही गवाह होवें ॥ ७२ ॥

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः । समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥७३॥ समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति । तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥

अर्थ–जिस मुकदमेंमें गवाह दो तरह कहैं तहां जिस वातको ज्यादै जनें कहते हौं उसको राजा ग्रहण करे और जहां सब एकसीही वात कहते हौं तहां गुणवान् द्विजोंके कहेहुएको प्रमाण करे ॥ ७३ ॥ अपनी आंखोंसे देखनेंसे और कानोंसे सुननेसे साक्षी सिद्ध होता है अर्थात् आंखोंसे देखनेंवाला सुननेंवाला गवाह होना चाहिये सो वह गवाह यदि सत्यवचन कहता है तो धर्म अर्थसे हीन नहीं होता है ॥ ७४ ॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि । अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥ यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किंचन । दृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥

अर्थ–जो साक्षी देखे हुएसे और सुनें हुएसे जुदा अन्य कुछ कहता है वह नीचेंको मुखकरके नरकमें गिरता है और परलोककेवास्ते स्वर्ग प्राप्तिके किये हुए सब पुण्य तिस पापकरके नष्ट हो जाते है ॥ ७५ ॥ जिस मुकदमेंमें विना कहाहुआभी कि तुम इस मुकदमेंमें साक्षी हो ऐसे कहे विनाभी जो कुछ देखे और जो सुनें उसको पूछनेंपर जैसा देखा वा सुना हो वैसे कह देवे यह मनुआदिकोंनें अकृत साक्षी कहा है ॥ ७६ ॥

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बह्व्यः शुच्योऽपि न स्त्रियः । स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥७७॥ स्वभावेनैव यद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम् । अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७८॥

अर्थ–लोभ आदिकोंसे रहित एकभी साक्षी होवे और पवित्रभी बहुतसी स्त्रियां न होवें क्योंकि स्त्रियोंकी बुद्धि स्थिर नहीं होती है इसवास्ते लेनें देनेंके मुकदमोंमें स्त्रीकी साक्षी योग्य नहीं है और जो दोषोंकरके युक्त है उनकीभी साक्षी करनी योग्य नहीं है ॥ ७७ ॥ जो किसीकें भयविना अपनें स्वभावसेही कहते है वे साक्षी लेनें देनेंके व्यवहारमें ग्रहण करनें योग्य हैं और जो भयादिकों-

से युक्त होके कहते है वे साक्षी निरर्थक है अर्थात् राजा उनके कहनेंपर ख्याल न करे ॥ ७८ ॥

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ । प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥ यद्द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः । तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥

अर्थ–संभाके वीचमें प्राप्तहुए साक्षियोंको अर्थी और प्रत्यर्थी अर्थात् मुद्दई मुद्दाईलेहके सामनें इन्साफ करनेंवाला अभियोक्ता ब्राह्मण आगे कही हुई विधिसें अच्छे तौरसे शांतिसे पूछे ॥ ७९ ॥ मुद्दई मुद्दाईलेह इन दोनोंके इस कार्यमें तुम जो कुछ जानते हो सो सच कहो क्योंकि तुह्मारी इस मुकदमेंमें गवाही है ॥ ८० ॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् । इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥ साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बद्ध्यते वारुणैर्भृशम् । विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ ८२ ॥

अर्थ–गवाहीके काममें सत्य कहनेंवाला साक्षी उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है और इस संसारमें उत्तम यशको प्राप्त होता है ऐसी यह सत्य वाणी ब्रह्माजीसे पूजी गई है ॥ ८१ ॥ झूठ बोलनेंवाला साक्षी पुरुष वरुणसंबंधी पाश अर्थात् सर्पकी फांशियोंसे बांधा जाता है ॥ और सौ १०० जन्मोंतक जलोदर रोगकरके पीडित होता है इसवास्ते साक्षीमें सत्य बोले ॥ ८२ ॥

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते । तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥ आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः । मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

अर्थ–सत्य बोलनेंसे साक्षी पुरुष पहिले कियेहुए पापसेभी छूट जाता है इसवास्ते सब वर्णोंके विषयमें साक्षियोंको सत्यही बोलना चाहिये क्योंकि सत्य बोलनेंसे इसका धर्मभी वढता है ॥ ८३ ॥ शुभअशुभ कर्मोंमें आपही अपना साक्षी है और तैसेही आपही अपना शरण है अर्थात् रक्षक है इसवास्ते ऐसे अपनें आत्माको उत्तम साक्षीको मनुष्योंकी झूठी बातकी गवाही देनेंसे अपमानी मत करो अर्थात् निंदित मत करो ॥ ८४ ॥

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः । तांस्तु देवाः प्रप-

श्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥ ८५ ॥ द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रा-
र्काग्नियमानिलाः । रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ८६

अर्थ–पापकरनेंवाले पुरुष यह जानते है कि पापकरते हुए हमको कोईभी नहीं देखता है परंतु उनको आगे कहेहुए ये देवते देखते है और उनके भीतरका आत्मा देखता है ॥ ८५ ॥ आकाश भूमि जल हृदयस्थ जीव चंद्रमा सूर्य अग्नि यम वायु रात्रि दोनों संध्या धर्म ये सब संपूर्ण देहधारियोंके शुभाशुभ कर्मको जाननेंवाले है ॥ ८६ ॥

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् । उदङ्मुखान्प्राङ्मुखा-
न्वापूर्वाह्णेवै शुचिः शुचीन्॥८७॥ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूही-
तिपार्थिवम् । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

अर्थ–देवताकी मूर्तिके आगे वा ब्राह्मणके आगे द्विजाति और पवित्र ऐसे साक्षियोंको इन्साफ करनेंवाला अभियोक्ता उत्तरकी तर्फ मुख करवाके अथवा पूर्वकी तर्फ मुख करवाके आप स्वस्थचित्त होके सवेरेके प्रहरमें सच सच हाल पूछे ॥ ८७ ॥ ब्राह्मणको ब्रूहि अर्थात् कहो ऐसे पूछे और क्षत्रियको सच कहो ऐसे पूछे वैश्यको गौ बीज सुवर्ण इनके चोरनेंका पाप तुमको झूट बोलनेंमें होगा ऐसे पूछे और शूद्रको जो झूठ बोलोगे तो सब पातक तुमको लगेंगे ऐसे कहके पूछे॥

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः । मित्रद्रुहः कृत-
घ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥८९॥ जन्मप्रभृति यत्किञ्चित्पुण्यं
भद्र त्वया कृतम् ॥ तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा॥९०॥

अर्थ–जो ब्राह्मणको मारनेंवालोंके नरक ऋषियोंनें कहे है और जो स्त्री बालक इनके मारनेंवालोंके नरक कहे है वा मित्रसे द्रोह करनेंवालेंको कृतघ्नी पुरुषको जो नरक प्राप्त होते है वे सब नरक झूठ बोलनेंवाले तुजको होवेंगे ॥ ८९ ॥ हे शुभाधार तैनें जन्मभरमें जो कुछ पुण्य किया है वह सब तेरा पुण्य कुत्तोंको मिलेगा जो तू इस विषयमें अन्यथा कहे ॥ ९० ॥

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे । नित्यं स्थितस्ते
हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥९१॥ यमो वैवस्वतो देवो यस्त-
वैष हृदि स्थितः । तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥९२॥

अर्थ–हे भद्र एकही हम है ऐसे जो अपनें आत्माको मानते हो तुह्मारे हृदयमें स्थित परमात्मा मुनि नित्य देखता है ॥ ९१ ॥ सूर्यका पुत्र यमदेव जो तुह्मारे हृदयमें स्थित है उसके साथ जो तेरा विवाद नहीं है तो गंगाजीको और कुरुक्षेत्रको मत जा अर्थात् सत्यही बोलनेंसे सब पाप दूर हो जावेगे ॥ ९२ ॥

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः । अन्धः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥ ९३ ॥ अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं व्रजेत् । यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्टः सन् धर्मनिश्चये ॥ ९४ ॥

अर्थ–जो पुरुष झूठी गवाही देवेगा वह कपडे रहित और सिरमुंडाये तथा भूख तृषासे युक्त हो और अंधा होके शत्रुके कुलमें भीख मांगेगा ॥ ९३ ॥ धर्मके निश्चयकेवास्ते पूछाहुआ जो साक्षी झूठ बोलता है वह पापी अधोमुख अर्थात् नींचेको मुखकरके अन्धतम अर्थात् अंधकाररूप नरकमें जाता है ॥ ९४ ॥

अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति स नरः कण्टकैः सह । यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः ॥ ९५ ॥ यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते । तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥ ९६ ॥

अर्थ–जो राजाकी सभामें जाके विना देखे हुई झूठ बातको कहता है वह अन्धा पुरुषकी तरंह कांटोंके साथ मछलियोंको खाता है ॥ ९५ ॥ सर्वज्ञ अंतर्यामी परमात्मा जिसके बोलनेंकी शंका नहीं करता है अर्थात् यह सच कहैं या झूठ कहेंगा ऐसी शंका नहीं करता है किंतु यह सच कहेंगा ऐसा निश्चय करता है देवते उससे श्रेष्ठ अन्य किसीको नहीं कहते है ॥ ९६ ॥

यावतो बान्धवान् यस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन् । तावतः संख्यया तस्मिन् शृणु सौम्यानुपूर्वशः ॥ ९७ ॥ पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते । शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ९८ ॥

अर्थ–हे सौम्य साक्षीमें झूठ बोलनेंवाला पुरुष जितनी गिनतीके बांधवोंको नरकमें भेजता है वा उनको सुन अथवा जितने बांधवोंका मारनेंका फल होता है उस गिनतीको सुन इन दोनों अर्थोंमें झूठ बोलनेंवालेकी निंदा कही है ॥ ९७ ॥ पशुके विषयकी झूठ बोलनेमें पांच बांधवोंको नरकमें भेजता है वा पांच बांधवोंके मारनेंके फलको प्राप्त होता है गौके विषयमें दशोंको और घोडे वगैरों-

के विषयमें सौ और मनुष्योंके विषयमें झूठ बोलनेंवाला हजार बांधवोंको नरकमें भेजता है ॥ ९८ ॥

हन्ति जातानजाताश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्। सर्वं भूम्यनृते हन्ति मास्म भूम्यनृतं वदीः॥ ९९॥ अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने। अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वश्ममयेषु च॥१००॥

अर्थ–सुवर्णके वास्ते झूठ बोलता हुआ पुरुष जन्में हुए और विना जन्में हुए पुत्रादिकोंके मारनेंके फलको प्राप्त होता है और पृथ्वीके मामलेमें झूठ बोलनेंवाला पुरुष संपूर्ण प्राणियोंके वधके फलको प्राप्त होता है ॥ ९९ ॥ तलाव कूवा बावडी इनके विषयमें झूठ बोलना स्त्रियोंके भोग मैथुन आदि मामलोंमें झूठ बोलना मोति वगैरे रत्नोंके विषयमें तथा हीरा पुषराज आदिकोंके मामलोंमें झूठ बोलना इन सबका पाप भूमिके पापके समान है ॥ १०० ॥

एतान् दोषानवेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे। यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाञ्जसा वद ॥ १०१ ॥ गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान्। प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ १०२॥

अर्थ–तूं इन सब झूठ बोलनेंके पापोंको जानके जैसा सुना और जैसा देखा हो वेसाही सच सच कह ॥ १०१ ॥ गौओंको पालीकी वृत्ति करनेंवाला बनियेंकी वृत्ति करनेंवाला रसोई आदि कर्म करनेंवाला नौकरी करनेंवाला व्याजकी आजीविका करनेंवाला ऐसे इन ब्राह्मणोंसे शूद्रसे पूछनेंकी तरंह पूंछे ॥ १०२ ॥

तद्वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः। न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम्॥१०३॥ शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः। तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते॥ १०४ ॥

अर्थ–जो मनुष्य अन्यथा जानता हुआभी दया आदि धर्मसे व्यवहारमें अन्य प्रकारसे कहदेता है वह स्वर्गलोकके फलसे भ्रष्ट नहीं होता है क्यों कि मन्वादिकोंनें वह देवसंबंधिनी वाणी कही है ॥ १०३ ॥ जिस मुकदमेंमें सच बोलनेंसे शूद्र क्षत्रिय वैश्य ब्राह्मण इन्होंका वध होता है तहां झूट बोलना चाहिये क्यों कि वह झूठही सचसे अधिक है ॥ १०४ ॥

वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्तेसरस्वतीम् । अनृतस्यैनसस्तस्य

कुर्वाणा निष्कृतिं पराम् ॥ १०५ ॥ कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद्घृत-
मग्नौ यथाविधि। उदित्यृचा वा वारुण्या त्र्यृचेनाब्दैवतेन वा १०६

अर्थ—वे साक्षी उस झूठ बोलनेंके पापकी अत्यंत शुद्धि करनेंके लिये वाग्दे-
वतासंबंधी चरुकरके सरस्वतीकेनिमित्त यजन करै ॥ १०५ ॥ यजुर्वेदसंबंधि
'यद्देवादेवहेडनं' इत्यादिक कुष्मांडसंज्ञक मंत्र देवताकरके अग्निमें घृतको हवन करै
और 'उदुत्तमं वरुणं' इस ऋचाकरके वा 'आपोहिष्ठा' इस वरुणदेवताकी ऋचा-
करके अग्निमें आहुति करै ॥ १०६ ॥

त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः। तद्दणं प्राप्नुयात्सर्वं द-
शबन्धं च सर्वतः ॥ १०७ ॥ यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य
साक्षिणः। रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥ १०८॥

अर्थ—लेनें देनेंके मामलेमें जो कर्जदार डेढमहिनेतक अपनें गवाह न देवे तो
वह महाजनके कुल रुपय्ये देवै और जितनें रुपय्ये हों उनका दशवां भाग रा-
जाको दंडका देवै ॥ १०७ ॥ जिसके कहेहुए साक्षीके सात दिन भीतर रोग
होजावे या अग्नि लगजावे अथवा बांधव मरजावे तो दैवकी मायासे मिथ्या दो-
षके सूचन होनेंसे वह कर्जदारका धन और राजाका दंड उलटा दिलवा दे-
ना चाहिये ॥ १०८ ॥

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः। अविन्दन्तत्त्वतः सत्यं
शपथेनापि लम्भयेत् ॥ १०९॥ महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शप-
थाः कृताः। वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे वै यवने नृपे॥ ११० ॥

अर्थ—विना गवाहीके मुकदमेंमें आपसमें झगडते हुए दोनोंके सही सही हाल
न मालूम होवें तो आगे कहे हुए शपथ अर्थात् सौगंद दिलवाके इन्साफ करनें-
वाला पूछे ॥ १०९ ॥ सप्त महर्षियोंने और इंद्रादिक देवतोंनेंभी कार्यकेवास्ते
शपथकी और यवनका अपत्य सुदामा राजाके आगे पहले वसिष्ठजीनेंभी विश्वा-
मित्रके मामलेमें शपथ अर्थात् सौगंद करी ॥ ११० ॥

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः। वृथा हि शपथं कु-
र्वन् प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ १११ ॥ कामिनीषु विवाहेषु गवां
भक्ष्ये तथेन्धने। ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम्११२

अर्थ-थोडेसे मामलेमेंभी पंडितजन वृथा शपथ अर्थात् झूठी सौगंद न करे क्योंकि वृथा शपथ करता हुआ पुरुष परलोकमें तथा इस लोंकमें नाशको प्राप्त होता है ॥ १११ ॥ मैथुनके समय स्त्रियोंके विषयमें और विवाहोंके विषयमें गौओंकेवास्ते घास आदिके हरनेंके विषयमें अग्निकेवास्ते समिध आदिके हरनेमें ब्राह्मणकी रक्षाकेवास्ते इन सबोंमें झूठी शपथका पाप नहीं है ॥ ११२ ॥

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ११३ ॥ अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् । पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥ ११४ ॥

अर्थ-ब्राह्मणको सत्यकी कसम दिवावे और क्षत्रियको हस्ती आदि वाहनोंकी तथा शस्त्रोंकी कसम दिवावे वैश्यको गौ बीज सुवर्ण इनकी कसम दिवावे और शूद्रको संपूर्ण प्राणियोंके वधकी हिंसाके फलकी कसम दिवावे ॥ ११३ ॥ जलते हुए लोहा आदिके गोलेको इस्से उठवावे अथवा इसको जलमें डुबावै और पुत्र स्त्री इनकी शिरोंपर अलग अलग हाथ रखवावे ॥ ११४ ॥

यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च । न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥११५॥ वत्सस्य ह्यभिशस्तस्य पुरा भ्रात्रा यवीयसा । नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पृशः ११६॥

अर्थ-जिसको जलतीहुई अग्नि न जलावे और पानी जिसको ऊपरको नहीं फेंकै और जल्दीसे बहुत पीडा न होवे वह शपथ अर्थात् कसममें सच्चा जानना ॥ ११५ ॥ पहले वत्स ऋषिको दूसरी माताके छोटे भाईनें कहा कि तूं ब्राह्मण नहीं शूद्रका पुत्र है तब वत्सऋषि अग्निमें प्रवेश होगया उस समय सत्यके कारणसे जगत्के शुभाशुभहेतु अग्निजी उसके रोमभी नहीं जलाये ॥ ११६ ॥

यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥ लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च । अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥

अर्थ-जिस जिस मुकदमेंमें साक्षीको झूटी गवाही दी है ऐसा निश्चय हो जावे तहां राजा तिस मुकदमेंको फिर दूसरे वार सही करे और जो सजावगैरह करदी हो उसकोभी बदले ॥ ११७ ॥ लोभसे वा मोहसे भयसे मित्रतासे कामसे क्रोधसे अज्ञानसे वचपनसे झूठी गवाही दी जाती है ॥ ११८ ॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् । तस्य दण्डविशेषास्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥ लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भयाद्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥१२०॥

अर्थ-इन कहे हुए मतलबोंमें जिस किसी मतलबकेवास्ते झूटी गवाही देता है तिसी तिसीके दंडको यथाक्रमसे कहेंगे ॥ ११९ ॥ लोभसे झूठी गवाही देनेंवालेको आगे जो हिसाब कहेंगे जैसे दश घरका शतमान होता है तैसे वह हजार दंड देवै और मोहसे झूठी गवाही देनेंवालेको आगे कहाहुआ प्रथम साहस दंड देवे भयसे झूठी गवाही देनेंवालेको दो मध्यम साहस देवे मित्रतासे कहनेंवालेको प्रथम चतुर्गुण साहस दंड देवे इन सब नामोंका भेद आगे कहा जावेगा ॥१२०॥

कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् । अज्ञानाद्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥१२१॥ एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः । धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च ॥१२२॥

अर्थ-स्त्री भोगकरनेंके कामसे कहनेंवालेको प्रथम साहस दशगुण दंड देवे क्रोधसे कहनेंवालेको मध्यम साहस तिगुना दंड देवै और अज्ञानसे झूठी गवाही देनेंवालेको दो सो पण दंड देवे और बचपनसे झूठी गवाही देनेंवालेको सौ पण दंड देवे इनका भेदभी आगे कहा है ॥ १२१ ॥ सत्यरूप धर्मको लोप नहीं होनेंकेवास्ते और असत्यरूप अधर्मके दूर होनेंकेवास्ते झूठी साक्षीमें पहिलके मुनियोंसे कहे हुए इन दंडोंको मनुजी कहते है ॥ १२२ ॥

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणान्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः । प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥१२३॥ दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् । त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत् १२४

अर्थ-धार्मिक राजा झूठी गवाही देनेंवाले तीनों वर्णोंको पूर्वोक्त दंड देके अपनें राज्यसे निकाल देवे और ब्राह्मणको दंड दियें विनाही अपनें राज्यसे बाहिर निकाल देवे ॥ १२३ ॥ स्वायंभुव मनुनें दंडके दश स्थान कहे है वे क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंकेवास्ते है और ब्राह्मणको बडा अपराध होनेंपर मारे पीटेंविनाही अपनें राज्यसे निकाल देवे ॥ १२४ ॥

अपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णौ

च धनं देहस्तथैव च ॥ १२५ ॥ अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः। सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् १२६

अर्थ-लिंग उदर जीभ हाथ पैर ये पांच और आंख नांक कान धन शरीर ये दश दंडके स्थान है इनमें जिस अंगसे अपराध हुआ हो उसी अंगको दंड देवे और थोडे अपराधमें धनका दंड देवे और महापातक आदिकोंमे शरीरका दंड देवे अर्थात् फांसी वगैरह देवे ॥ १२५ ॥ वारंवार वा एकहीवार अपराध करनेंके संबंधको देखकर और देशकालको तत्वसे विचारके और धन शरीर आदिकोंकी सामर्थ्य तथा अपराधको देखकर जैसी सजा लायक हो वैसाही दंड देवे ॥ १२६ ॥

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्। अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥१२७॥ अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥१२८॥

अर्थ-धर्म देखेंविना दंड देनेंसे लोगोंमें यशका नाश होता है और विख्यातिका नाश होता और परलोकमें स्वर्गप्राप्तिको हित नहीं है इसवास्ते ऐसा न करे किंतु इंसाफके अनुसार सजा देवे ॥ १२७ ॥ वे सजावालोको सजा देता हुआ और सजा देनेंके योग्योंको नहीं सजा देताहुआ राजा बडे अपयसको प्राप्त होता है और नरकमेंभी जाता है ॥ १२८ ॥

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम्। तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परं ॥१२९॥ वधेनापि यदात्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात्। तद्वैषु सर्वमप्येतत्प्रयुञ्जीत चतुष्टयम् ॥ १३० ॥

अर्थ-पहले वाग्दंड देवे अर्थात् तैंनें यह अच्छा न किया ऐसे कहे पीछे धिग्दंड अर्थात् तेरे जीनेंको धिःकार है ऐसे कहे इन कहनोंसेभी न मानें तो धनका दंड देवे फिर धन अर्थात् जुल्बानेंसेभी न मानें तो बेंत वगैरे लगावे ॥ १२९ ॥ जो यदि केवल मारनेंसेभी दंडयोग्य पुरुषोंको वशमें न कर सके तो ये वाग्दंड आदि चारों दंड देनें चाहिये ॥ १३० ॥

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि। ताम्ररूप्यसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १३१ ॥ जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥ १३२ ॥

अर्थ–लोगोंके व्यवहारकेवास्ते जो पृथ्वीमें तांबा चांदी सोना इनकी पण आदि संज्ञा प्रसिद्ध है तिस संपूर्णको जुल्वानेंकेवास्ते उपयोगी होनेंसे यहां कहेंगे ॥ १३१ ॥ मकानके झरोंखेरोसन दान आदिकोंमें जो सूर्यकी किरणसे उडते हुए सूक्ष्म धूलिके रजके किणके दीखते है तिस एकको प्रथम त्रसरेणु प्रमाण कहते है ॥ १३२ ॥

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः । ता राजसर्षपस्तिस्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥ १३३ ॥ सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् । पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥ १३४ ॥

अर्थ–आठ त्रसरेणुवोंको एक लिक्षिका प्रमाण कहते है तीन लिक्षिकाओंका एक राजसर्षप होता है और वे तीन राजसर्षप एक गौरसर्षप प्रमाण संज्ञक है ॥ १३३ ॥ तिन छह गौरसर्षप अर्थात् ६ सिरसवोंका एक साधारण जव होता है और तीन जवका एक कृष्णल होता है इसको रत्तीभी कहते है और पांच कृष्णलका एकमाष यानें मासा होता है सोलह माषोंका एक सुवर्ण होता है ॥ १३४ ॥

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश । द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥ १३५ ॥ तेषोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः । कार्षापणं तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥ १३६ ॥

अर्थ–चार सुवर्णका पल होता है दशपलोंका धरण होता है और दो बराबरोंके कृष्णलोंका एक रौप्यमाषक जानें अर्थात् चांदीका मासा जानें ॥ १३५ ॥ तिन सोलहमाषकोंका रौप्य धरण होता है और तिसको रजतसंबंधी पुराणभी कहते है और तांबेका कर्षभरका पणको कार्षापण कहते है वह कर्षपलका चौथाई प्रमाणका जानना ॥ १३६ ॥

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः । चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥१३७॥ पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः । मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः १३८

अर्थ–चांदीके दश धरणोंको रौप्यका शतसंज्ञक मान जानें और चार सुवर्णोंका एक निष्क प्रमाण जानें ॥ १३७ ॥ २५० अढाईसै पणोंका प्रथम साहस मन्वादिकोंनें कहा है यहां एकपण आध आनेंके करीब जानना और पाँचसौ ५०० पणोंका मध्यम साहस होता है हजार पणोंका उत्तम साहस होता है १३८

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पञ्चकं शतमर्हति । अपह्नवे तद्द्विगुणं तन्मनोरनुशासनम् ॥ १३९ ॥ वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम् । अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते ॥ १४० ॥

अर्थ–कर्जदार राजाकी सभामें कहे कि मोंको महाजनके रुपय्ये देनें है तो उसको पानसौ ५०० पण दंड देवे और जो सभामें इन्कार कर देवे और पीछे रुपय्ये साबित होवें तो हजार पण दंड देनेंके योग्य है ॥ १३९ ॥ वसिष्ठकरके कही हुई धनको बढानेंवाली वृद्धिको अर्थात् व्याजको करे व्याजकी आजीविका करनेंवाला पुरुष महीना महीनाप्रति सौ रुपय्योंका अस्सीवां भाग लेवे अर्थात् सवा रुपय्या सैंकडा व्याज लेवे ॥ १४० ॥

द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् । द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्बिषी ॥१४१॥ द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् । मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १४२॥

अर्थ–अथवा श्रेष्ठ पुरुषोंके धर्मको स्मरणकरके यानें याद करके दो रुपय्ये सैंकडा माहवारी व्याज लेवे क्यों कि दो रुपय्ये सैंकडा व्याज लेनेवाला पुरुष पापका अधिकारी नहीं है ॥ १४१ ॥ ब्राह्मण आदि वर्णोंके क्रमसे दो तीन चार पांच रुपय्या सैंकडा माहवारी व्याज लेवे ब्राह्मणसे २ क्षत्रियसे ३ वैश्यसे ४ शूद्रसे ५ रुपय्या महीनेंमें लेवे इससे अधिक न लेवे ॥ १४२ ॥

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् । न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥१४३॥ न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत् । मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥

अर्थ–भूमि वा गोधन आदिकोंको भोगनेकेवास्ते बंधक अर्थात् गिरौं रखदेनेंमें पूर्वोक्त व्याज न लेवे क्योंकि बहुत दिन होनेंमें व्याज बढजानेंसे उसका छुटाना अथवा बेचना नहीं हो सक्ता इसवास्ते रखनेंमें उतना व्याज नहीं पाता है ॥ १४३ ॥ आधी अर्थात् वस्त्र आदि गिरौंकी चीजको जबर्दस्ती नहीं वर्त्ते और जो वर्त्ते तो व्याज छोडदेवे मूल्यकरके उसे प्रसन्न करे अथवा उनमें जो वरतनेंसे घटगया है उसको पहलेके मूल्यसहित देकर खुश करे नहीं तो गिरौंकी वस्तुको चोरनेंवाला कहलावेगा ॥ १४४ ॥

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः । अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥ संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन । धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते ॥१४६॥

अर्थ–आधि अर्थात् पृथ्वी आदिका किसीमें गिरौं रखना और उपनिधि प्रीतिकरके उपभोगकेवास्ते दीहुई वस्तु ये दोनों बहुत दिनमेंभी आईगई नहीं होती अर्थात् जब मालिक लिया चाहे तब ले सक्ता है कुछ दिनोंका नियम नहीं है ॥ १४५ ॥ प्रीतिकरके जो अन्यको उपभोगकेवास्ते दियेजाते है वे कभी नष्ट नहीं होते है गौ ऊंट घोडा बैल इत्यादिक जो अपनें काममें वर्त्तेजाते है इनके स्वामीकी मालिकी दश वर्षके वादभी दूर नहीं होती है ॥ १४६ ॥

यत्किञ्चिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी । भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥१४७॥ अजडश्चेदपौगण्डो विषये चास्य भुज्यते । भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्द्रव्यमर्हति ॥ १४८ ॥

अर्थ–जो कुछ धन स्वामीके सामनेंही अन्य जनोंकरके दशवर्षतक वर्त्ताजाता है अर्थात् न तो प्रीतिकरके दिया और न मना किया है ऐसे तिस धनमें स्वामीकी मालिकी जाती रहती है दश वर्षके वाद तिसको नहीं ले सक्ता है ॥ १४७ ॥ जो धनका स्वामी मूर्ख न हों और वालक न हो अर्थात् सोलह वर्षसे अधिक हो और बुद्धिमान् हो तबभी तिस धनीके सामने जो उपभोग किया हो तिसको मना न किया हो तो वह धन दश वर्षके वाद धन भोगनेंवालेका है और उसका स्वामी अदालतसे हार जावेगा ॥ १४८ ॥

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः । राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥ यः स्वामिनाऽननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः । तेनार्धवृद्धिर्मोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥१५०॥

अर्थ–आधि अर्थात् गिरौं रक्खा धन ग्राम आदिकीसीम, बालकका धन धरो हर प्रीतिकरके भोगनेंकेवास्ते दिया हुआ धन दासी आदि स्त्री राजाका धन श्रोत्रिय ब्राह्मणका धन इनको दश वर्षतक भोगनेंसेभी भोगनेंवाला नहीं पासक्ता ॥ १४९ ॥ जो मूर्ख जन स्वामीकी आज्ञाविना छलकरके गिरौंकी वस्तुको वर्त्तता है तिसका आधा व्याज छुटादेवे और जो जबरदस्तीसे भोगता है तिसको संपूर्ण व्याज न देवे ॥ १५० ॥

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता। धान्ये सदे लवे वाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥१५१॥ कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न सिद्ध्यति। कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

अर्थ–रुपय्योंका व्याज एकवार लेनेंसे ९ मूल धनके दुगुनेंसे अधिक नहीं हो सक्ता और धान्यादिककेवास्ते तथा वृक्ष फल मूल वैल इत्यादिकोंकेवास्ते दिये हुये रुपय्ये बहुतकालमेंभी मूल धनके पांच गुनेंसे अधिक नहीं हो सक्के ॥१९१॥ शास्त्रमें कियेहुए अनुसारसे अधिक वा विपरीत व्याज लेना ठीक नहीं है जैसे ब्राह्मणसे पांच रुपय्ये सैंकडा व्याज लेना यह कुसीदपथ है अर्थात् निंदित मार्ग है ॥ १९२ ॥

नातिसांवत्सरीं वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेत्। चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिका च या ॥ १५३ ॥ ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः। क्रियाम् स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥

अर्थ–जो माहवारी व्याज लेना अथवा दो या तीन महीनोंके प्रति प्रति सर्वदा नियमकरके व्याज लेना ठहरा हो तिस नियमको वर्षदिनके पीछे नहीं रक्खे और शास्त्रकी मर्यादासे रहित अर्थात् क्रमसे कहा २ रुपय्ये सैंकडेसे ९ तकसे अधिक व्याज न लेवे और व्याजकाभी व्याज न लेवे तथा बहुतकालसे वढाहुआ ऋणका मूलधन दुगुनासे अधिक हो उसको न लेवे और व्याजकी जगह कुछ कामकरानेंकी कर लगाना ये सब शास्त्रविरुद्ध व्यवहार न करे ॥१९३॥ जिसकी कर्जा देनेंकी सामर्थ्य न हो और हिसाब किया चाहता हो वह व्याज देके दूसरा कागज करदेवे अथवा व्याजको और मूलको मिलाके उन रुपय्योंका तमस्सुक कर देवे ॥ १९४ ॥

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत्। यावती संभवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥ चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः। अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥

अर्थ–जो लेखा हिसाब करे और व्याज न देवे तो व्याजकोभी मूलधनमें जोड देवे पीछे रुपय्योंकी जितनी संख्या हो उतनाही व्याज देना योग्य है१९९ चक्रवृद्धि अर्थात् व्याजकाभी व्याज लेना तिसको आश्रयणहुआ महाजन देश-

की और कालकी व्यवस्थामें अर्थात् नियममें रहै और देशकालके नियमको छोडनेंवाला पुरुष तिस संपूर्ण लाभको प्राप्त नहीं होता है ॥ १५६ ॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः । स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥१५७॥ यो यस्य प्रतिभूस्तिष्ठेद्दर्शनायेह मानवः । अदर्शयन् स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥

अर्थ–स्थलके मार्ग और जलके मार्गको जाननेंवाले और देशकालको जाननेंवाले अर्थात् इतनें दूर इतनें दिनतक इस काममें यह लाभको इस बातको जाननेंवाले वैश्य आदिक जिस वृद्धिको यानें व्याजको जैसे विषयमें स्थापित करते है वही उस धनकी प्राप्तिमें प्रमाण है ॥ १५७ ॥ जो मनुष्य कर्जदारका प्रतिभू होवे अर्थात् जामिन होवे वह जो यदि कर्जदार उक्त समयपर न मिले तो अपनें पाससे महाजनका रुपय्या देवे ॥ १५८ ॥

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत् । दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥१५९॥ दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः । दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥१६०॥

अर्थ–जामिन हुयेका धन तमाशवीनीका रुपय्या जुवा आदिका और मदिरापानका रुपय्या पूर्वोक्त दंड शुल्क अर्थात् मासूल आदिका धन ये सब पिताके मरनेंपर पुत्रको देनें योग्य नहीं है अर्थात् ये सब बापके कियेहुए हों उनको शास्त्रमें पुत्रको देना योग्य नहीं कहा है ॥ १५९ ॥ मदिराके निमित्त जो दंड आदि पहले कहे है उनके देनेंमें जो खाली पिता जामिन हुआ हो तो मरनेंके पीछे पुत्र नहीं देवे किंतु जामिन हुआ पिता आपही देवे और जो आप खुद जामिन होके अपनें हाथसे रुपया देवे तो उसके मरनेंपीछे पुत्र आदिकोंको देना योग्य है १६०

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम् । पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥ निरादिष्टधनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलंधनः । स्वधनादेव तद्दद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६२ ॥

अर्थ–अपनें हाथसे विनादियेहुए प्रतिभूके अर्थात् जामिनके मरनेंपीछे महाजन कर्जके रुपय्योंको कैसें पावे यह शंका है अगले श्लोकमें उत्तर कहैंगे ॥१६१॥ जो प्रतिभू अर्थात् जामिन धनकरके पूर्ण हो और कर्जदारसे निरादिष्ट हो यानें कर्जदार यह कहै कि तुमही मेरे कर्जेको देवो तब महाजनके धनको प्रतिभू अपनें पाससे देवे यह निरादिष्टकी व्यवस्था है अर्थात् प्रतिभूके पुत्र आदिभी देवे१६२

मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा। असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ॥ सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता। बहिश्चेद्भाष्यते धर्मान्नियताद्व्यावहारिकात् १६४

अर्थ–मदिरापान आदिकसे मदवाला व्याधिसे उन्मत्त अत्यंत पराधीन बालक वृद्ध इनके संग अनुमति कियेंविना अर्थात् इनके कुटुंबका अन्य मनुष्यके संग वतलायेंविना जो व्यवहार किया जाता है वह सिद्ध नहीं होता ॥ १६३ ॥ जो यदि आपसमें लिखा पढीसे या जुवानीं शर्त्त ठहर जावे तौभी जो कानूनसे अथवा परंपराके धर्मसे विरुद्ध वचन बोले तो वह व्यवहार सिद्ध नहीं होता है ६४

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्। यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥ ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः। दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥१६६॥

अर्थ–जो छलकरके बंधक अर्थात् कुछ गिरौं रखते है और वेचते है तथा प्रतिग्रह दान देते है वे सब लौटा देवे अर्थात् छलसे दियेहुए दान गिरौं आदिके धनको न लेवे और जमाकियेहुए धनकोभी लौटा देवे ॥ १६५ ॥ कुटुंबके खर्चकेवास्ते धन लेनेंवाला ऋणी अर्थात् कर्जदार मरजावे तब सामिलहुए अथवा जुदेहुए उसके बांधव कर्जेके धनको देवें ॥ १६६ ॥

कुटुम्बार्थेऽध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत्। स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥१६७॥ बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्। सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

अर्थ–जो किसीका दास अपनें कुटुंबकेवास्ते अन्य किसी महाजनसे कर्जा लेवे तो उसी देशमें रहनेंवाला वा अन्य देशमें रहनेंवाला तिसका मालिक कबूल करे ॥ १६७ ॥ बलसे दियाहुआ और बलकर भोगाहुआ और बलसे अधिक व्याज आदिका इष्टामपत्र लिखायाहुआ ये सब बलसे किये व्यवहार सिद्ध नहीं है इनको लौटा देवे यह मनुजीका वचन है ॥ १६८ ॥

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्। चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ्नृपः ॥१६९॥ अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः। न चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात्। दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति ॥ १७१ ॥ स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वबलाना च रक्षणात्। बलं संजायते राज्ञः स प्रेत्येह च वर्धते १७२॥

अर्थ–साक्षी प्रतिभू अर्थात् जामिनकुल ये तीन पराये धनकेवास्ते क्लेश पाते है और ब्राह्मण धनी बनियां, राजा ये चार पराये सबबसे बढते है ॥ १६९ ॥ क्षीण हुआभी राजा नहीं लेनें योग्यको कभी न लेवे और लेनेंके योग्य वस्तुको समृद्ध हुआभी राजा छोड नहीं देवे क्योंकि नहीं लेनें योग्य द्रव्यके लेनेंसे और ग्राह्यवस्तुके छोड देनेंसे राजाकी शिथलता प्रसिद्ध होती है इसीवास्ते कीर्ति नष्ट होनेंसे इस लोकमें और परलोकके प्रयोजनमें नष्ट होताहै ॥१७०॥१७१ न्यायकरके धनको ग्रहण करनें और वर्णोंके नियम रखनेंसे दुर्वल पुरुषोंकी रक्षा करनेंसे राजाके वल वढता है इसवास्ते वह इसलोकमें तथा परलोकमें वढता है ७२

तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये। वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥१७३॥ यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः। अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥१७४॥

अर्थ–इसवास्ते यमकी तरंह राजा क्रोधको जीत, जितेंद्रिय हुआ अपनें प्रिय अप्रियको छोडकर धर्मकी वृत्तिसे सब मनुष्योंमें समदृष्टिसे वर्त्ते ॥ १७३ ॥ जो राजा लोभ आदिकरके अधर्मके व्यवहार करता है तिस दुष्ट चित्तवालेको शीघ्रही शत्रु वशमें करलेते है ॥ १७४ ॥

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति। प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ १७५ ॥ यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे। स राज्ञा तच्चतुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् १७६॥

अर्थ–जो राजा काम क्रोधको त्यागके धर्मकरके व्यवहारोंको निरूपण करता है तिसको प्रजा भजती है अर्थात् उसके आधीन होके रहती है जैसे समुद्रको नदी ॥ १७५ ॥ जो कोई कर्जदार, मैं राजाका प्रियहूं ऐसा गर्वकरके महाजन धनीके लेनेंपर तिस महाजनको राजाकेपास निवेदन करे तो तिस कर्जदारकेपाससे राजा धनका चौथा हिस्सा दंड और वह सब धन महाजनकेवास्ते दिलवा देवे ॥ १७६ ॥

कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः । समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥ १७७ ॥ अनेन विधिना राजा मिथो विवदतां नृणाम्। साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् १७८

अर्थ-जो समानजातिका वा नींचि जातिका कर्जदार धनीके रुपय्ये न देसके तो कामकरके पूरे करदेवे और धनीसे उत्तम जातिका कर्जदार काम न करे किंतु धीरे धीरे करके रुपय्या देवे ॥१७७॥ इस पूर्व प्रकारकरके राजा दोनों झगडनेंवालोंका मुकदमा कागजगवाहआदिकोंका निर्णय करके ठीकठीक करे १७८

कुलजे वृत्तसंपन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि । महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः ॥ १७९ ॥ यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः । स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥

अर्थ-उत्तम कुलमें जन्मेहुए सदाचारसे युक्त धर्मात्मा सत्य बोलनेंवाले महापक्षवाले धनसे युक्त आर्य अर्थात् भला आदमी ऐसे पुरुषमें बुद्धिमान् पुरुष धरोहर रक्खे ॥ १७९ ॥ जो मनुष्य जिस प्रकारकरके जिसके हाथ सुवर्ण आदि वा रुपय्या जैसी धरोहर रक्खे वैसेही जैसा दिया वही उसी प्रकार लेना योग्य है८०

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति । स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसन्निधौ ॥ १८१ ॥ साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः । अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥१८२॥

अर्थ-जो अपनी धरोहरको रखनेंवाला पुरुष मांगताहुआ नहीं पावे तो वह धनी पुरुष धरोहर रखनेंवालेके पीछेसे हाकिमसे मांगा जावे अर्थात् हाकिम, रखनेंवालेकी पसगैवनही तिस धनीपास धरोहरको मांगै ॥ १८१ ॥ जो उस धरोहरके रखनेंके समय गवाही न होवे तो पूर्वोक्त अवस्थारूप आदिकोंकरके युक्त अपनें मुलाजिमोंकरके धनीकेपास धरो हर रखवावे और वे मुलाजिम राजासे दंड आदि भय दिवानेंको योग्य हों फिर वह धरो हर न मिले तो तिनही पुरुषोंकरके और हाकिमकरके धरो हरका धन मांगा जावे ॥ १८२ ॥

स यदि प्रतिपद्येत यथा न्यस्तं यथा कृतम् । न तत्र विद्यते किंचिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥ तेषां न दद्याद्यदि तु तद्धिरण्यं यथाविधि । उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा १८४

अर्थ–वह धरो हरको धरनेंवाला महाजन जैसी आकृतीका जैसा धन रक्खा हो वैसाही अपनें जुम्में अंगिकार करे तवभी जो नालिशकरके जो कोई अपनी अन्य कुछ धरो हर बतलाता है उसका कुछभी नहीं है ऐसे जाने ॥ १८३ ॥ जो वह महाजन तिस मुलाजिमोंका यथार्थ विधिसे धराहुआ धरो हरका धनको नहीं देवे तो उस महाजन पाससे दोनोंको दिलवावे अर्थात् पहले जो नालिशकरी है उसकोभी सच समझे दोनोंके धरो हरके धनको दिलवा देवे यह धर्मका निश्चय अर्थात् कानूनकी मन्शा है ॥ १८४ ॥

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयौ प्रत्यनन्तरे । नश्यतो विनिपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥ स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे । न स राज्ञा नियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः॥१८६॥

अर्थ–जो धरोहर और उपनिधि अर्थात् सुवर्ण आदि कोई रक्खा हुआ द्रव्य इन दोनोंको धरनेंवाला पुरुष जीवता हुआ कहीं नष्ट होजा यानें कहीं गुप्त चलाजावे तो तिसके पुत्र आदिकोंको नहीं देवे क्योंकि पुत्रादिकोंको सौंपे विना वह धन नष्ट हुआ है और धरोहरको राखनेंवाला महाजनको तो वह धन देनाही योग्य है परंतु वह पुरुष कहीं जीता हो फिर चला आवे तो अनर्थ है इससे उसके पुत्रादिकोंको न देवे ॥ १८५ ॥ धरोहर धरनेंवाला पुरुष जो मरजावे तो निक्षेपधारी महाजन उसके रुपय्योंको उसके पुत्र आदिकोंकेवास्ते विना मांगे हुएही देदेवे तब राजाको अथवा उसके अन्य बांधव आदिकोंको उस धनी महाजनको ऐसा नहीं कहना चाहिये कि तेरेको धरोहरका धन देना योग्य है ॥ १८६ ॥

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम् । विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥ निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने । समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥

अर्थ–जो यदि तिस महाजन साहूकारके धरोहरके धनका संभव होवे तो साम आदि समझानेके उपायोंकरके प्रीतिके वचनोंकरके उससे धनको लेवे ॥ १८७ ॥ यह विधि संपूर्ण धरोहरोंमें साक्षीके अभावमें निश्चय करनेकेवास्ते है और जो चिन्हकरके कुछ धरोहर धरी हो उसमेसे यदि कुछ निकाला नहीं हो तो कुछभी दोष नहीं पावेगा ॥ १८८ ॥

चौरैर्हृतं जलेनोढमग्निना दग्धमेव वा । न दद्याद्यदि तस्मात्स

न संहरति किंचन ॥ १८९ ॥ निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च। सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

अर्थ–जो निक्षेपधारी अर्थात् धरोहरको रखवानेंवाला पुरुष रक्खी हुई धरोहरमेसे आप कुछ न लेवे और वह धन चौरोंसे हराजावे अथवा जलसे कहीं वहजावे वा अग्निसे दग्ध होजावे तो तिसको कुछ नहीं देवे ॥ १८९ ॥ धरोहरसे निकलनेंवालेको और विना धरीहुईको मांगनेंवालेको संपूर्ण साम आदिक उपायोंसे और वेदके शपथ अर्थात् पूर्वोक्त कशमोंकरके सही करे ॥ १९० ॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते। तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ॥१९१॥ निक्षेपस्यापहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम्। तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

अर्थ–जो किसीकी धरोहरको नहीं देता है और जो विना धरीहुई धरोहरको मांगता है ये दोनों चौरकेसमान सजा पानेंको योग्य है अथवा उस धनके समान दंड करना योग्य है ॥ १९१ ॥ निक्षेप अर्थात् धरोहरको हरनेंवाले पुरुषको राजा उस धनकेसमान दंड देवे और तैसेही विना रक्खे हुए धनको मांगवेवालेको वा उपनिधिको हरनेंवालेकोभी उस धनकेसमान दंड देवे ॥ १९२ ॥

उपधाभिश्च यः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः ॥ ससहायः स हन्तव्य प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥१९३॥ निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ। तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥

अर्थ–तुमपर राजा नाराज है हम तुह्मारी रक्षा करते है हमको धन दो ऐसे झूठ बोलनेंके उपायोंकरके जो किसीके धनको हरता है उसको राजा बहुतसे मनुष्योंके सामनें नाक हाथ आदि काटनेंकी अनेक प्रकारकी पीडा दंड देवे ॥ १९३ ॥ जो सुवर्ण आदि धन जिस साक्षीकेसामने किसी महाजनमें धरा हो तिसके तोलके झगडे होनेंपर वह साक्षी कहे उतना प्रमाण जानना और उसमें तकरार करनेंवाला उक्त दंड पानेको योग्य है ॥ १९४ ॥

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा। मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥१९५॥ निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च। राजा विनिर्णयं कुर्यादक्षिण्वन्न्यासधारिणम् १९६

अर्थ–जिसको एकांतमें धरोहर रक्खी और लेनेंवालेनेंभी एकांतमें लेके धरी हो वह धरोहर एकांतमेंही देनी चाहिये अर्थात् देनेंके समय कुछ गवाहकी जरूरत नहीं ॥ १९५ ॥ धरोहरके धनका अथवा प्रीतिकरके रक्खा हुआ प्रीतिका धनका राजा इस पूर्वोक्त प्रकारसे धरोहरधारीको पीडा नहीं देता हुआ निर्णय करे ॥ १९६ ॥

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः । न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तेनमानिनम् ॥ १९७ ॥ अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम् । निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ॥ १९८ ॥

अर्थ–जो कोई मालिककी आज्ञा लियेंविना दूसरेकी वस्तु बेचता है उस चोरको अपनेंको साबित माननेंवालेको कहीं साक्षी न करे अर्थात् उसका कहींभी प्रमाण न करे ॥ १९७ ॥ जो वह बेचनेंवाला स्वामीका संबंधी होवे तो उसपर छह सोपण २५ रुपय्योंके अनुमान दंड देवे और जो धनके मालिकका संबंधी न हो तथा दीवान वगैरहभी न होवे तो चोरकेसमान दंड देनेंको योग्य है ॥ १९८ ॥

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा । अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥ संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित् । आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः ॥

अर्थ–स्वामी अर्थात् मालिकके विना दूसरेको जो किया वा जो दिया हो जो बेचा हो वह सब सही नहीं होता है व्यवहारकी जो मर्यादा है तैसे ठीक नहीं हुआ है ॥ १९९ ॥ जिस वस्तुमें संभोग वर्त्तना दीखता है औ क्रय आदि रूप खरीदनेका आगम नहीं दीखता है तहां खरीदके आनेंका प्रमाण है संभोग कारण नहीं ऐसी मर्यादा है ॥ २०० ॥

विक्रयाद्दो धनं किञ्चिद्गृह्णीयात्कुलसन्निधौ । क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥ अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः । अदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥

अर्थ–जो कुल बहुतसे व्यवहारी जनोंके सामनें विकतेहुए द्रव्यको मूल्यसे खरीद कर ग्रहण करता है वह शुद्ध है और न्यायसे उस धनको पाता है ॥ २०१ ॥ जो विना मालिककी वस्तुको चोरीसे बेचनेवाला पुरुष मरजावे वा देशांतरमें चलाजावे तब उसको खरीदनेवाला पुरुष बहुत जनोंके खरीदनेंसे दं

डको योग्य नहीं है परंतु वह धनका स्वामी तिसको आधा मूल्य देके अपनी वस्तुको लेलेवे ॥ २०२ ॥

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति । न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम् ॥ २०३ ॥ अन्यां चेद्दर्शयित्वान्या वोढुः कन्या प्रदीयते । उभे ते एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ॥ २०४ ॥

अर्थ–कोई चीज अन्य दूसरी चीजमें मिलाके बेचना योग्य नहीं है और बिगडी हुई चीजको श्रेष्ठ बतलाके न बेचे और कमतोलके न देवे तथा दूरसे ढकी हुई चीजको न वेचे ॥ २०३ ॥ शुल्क धनके ग्रहण करनेंकेसमय जो अन्य उत्तम कन्याको दिखाके फिर विवाहसमय अन्य दूसरीको देता है तहां वे दोनों कन्या उसी शुल्कसे उसी एकही वरकेसाथ विवाहै यह मनुजीनें कहा है ॥२०४॥

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना । पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥२०५॥ ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहापयेत् । तस्य कर्मानुरूपेण देयोंऽशः सह कर्तृभिः॥२०६॥

अर्थ–जो उन्मत्त वाली कुष्ठरोगवाली कन्या हो और परपुरुषकेसंग मैथुनकर चुकी हो ऐसी इन कन्याओंके दोषोंको वरकेवास्ते कहके देनेंवाला पुरुष राजासे दंड देनें योग्य नहीं है ॥ २०५ ॥ यज्ञमें वरण हुआ ऋत्विक् कछु कर्मकरके फिर रोग आदिकसे पीडित होके तिस कर्मको छोडदेवे तो तिसके कृतकर्मके अनुसार अन्य कर्त्ताओंके भागकेसाथ कछु दक्षिणा देनी योग्य है ॥ २०६ ॥

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयन् । कृत्स्नमेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत् ॥ २०७ ॥ यस्मिन् कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रत्यङ्गदक्षिणाः । स एव ता आददीत भजेरन्सर्वे एव वा ॥२०८॥

अर्थ–दक्षिणा देनेकेपीछे रोग आदिसे पीडित हुआ ऋत्विक् जो अपनें कर्मको त्यागै तो संपूर्ण दक्षिणा पानेको योग्य है और अपनें बाकी रहे कर्मको अन्य किसी विद्वान्से करवा देवै ॥ २०७ ॥ जिस आधान आदि कर्ममें अंग अंगके प्रति जो दक्षिणा जिसके संबंधसे सुनी जाती है उसको वही एक ग्रहण करें तिसके भागमात्रको सब जन ग्रहण न करे ॥ २०८ ॥

रथं हरेत वाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम् । होता वापि हरेदश्वमु-

द्गाता चाप्यनः क्रये ॥ २०९ ॥ सर्वेषामर्धिनो मुख्यास्तदर्धेना-
र्धिनोऽपरे । तृतीयिनस्तृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥

अर्थ-आधानकर्ममें अध्वर्यु रथको ग्रहण करे ब्रह्मा अश्वको ग्रहण करे होताभी अश्वको ग्रहण करे और उद्गाता सोमक्रयको धारण करनेंवाले शकटको ग्रहण करे इत्यादिक नियमोंके प्रमाणसे जिसकी जो दक्षिणा है उसको वही ग्रहण करे ॥ २०९ ॥ सौ १०० करके दीक्षा करानी यह सुनाजाता है तहां होता अध्वर्यु ब्रह्मा उद्गाता ये चार मुख्य ऋत्विक् सब दक्षिणाका आधा भाग ग्रहण करें और इनसे आधी दक्षिणा लेनेंवाले अन्य चार ऋत्विक् होते हैं और तीसरे हिस्सेको ग्रहण करनेंवाले तीसरे अन्य ऋत्विक् होते हैं और चौथे हिस्सेको ग्रहण करनेंवाले अन्य चार ऋत्विक् हैं ऐसे सोलह ऋत्विक् होतेहैं ॥२१०॥

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः । अनेन विधियोगेन
कर्तव्यांशप्रकल्पना ॥ २११॥ धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्या-
चते धनम् । पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥२१२॥

अर्थ-मिलकरके गृहनिर्माण आदि अपनें कर्मोंको करते हुए मनुष्योंने इस यज्ञ दक्षिणा विधिके अनुसार व्यापारकी अपेक्षासे हिस्सोंकी कल्पना करनी चाहिये ॥ २११ ॥ जिसको यज्ञ आदि धर्मके अर्थ किसी याचकके वास्ते धन दिया हो अथवा देनेंका इकरार करलिया फिर वह याचक तिस धनको यज्ञमें नहीं लगावे तो देनेंवाला उलटा लेलेवे और प्रतिज्ञा किया हुआ धनभी न देवे ॥ २१२ ॥

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः । राज्ञा दाप्यः सुवर्णं
स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥ दत्तस्यैषोदिता धर्म्या य-
थावदनपक्रिया । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् २१४

अर्थ-जो यदि तिस दियेहुए धनको ग्रहणकरके फिर लोभसे तथा अहंकारसे उलटा न देवे और देनें किये हुएको बलसे मांगे तो राजा उसकी चोरीकी निष्कृतिके अर्थ पूर्वोक्त सुवर्ण १॥ तोला प्रमाणके अनुमान दंड देवे ॥ २१३ ॥ धर्मकेवास्ते दिया हुआको नहीं देनेंकी यह विधि कही अब इससे भृत्यकी तनख्वाह न देनेंको कहते है ॥ २१४ ॥

भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम् । स दण्ड्यः कृष्ण-

लान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥ २१५ ॥ आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः।स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम्॥

अर्थ–जो बीमारीकेविना स्वस्थचित्त हुआभी नौकर मालिकके कहेहुए कामको अहंकारसे नहीं करता है वह सुवर्णके आठ कृष्णल यानें रती सुवर्ण दंड देनेको योग्य है और उसकी तनखाहभी न देवे ॥ २१५ ॥ और जो बिमारीसे पीडित हुआ कर्म नहीं करता है फिर स्वस्थ चित्त होके मालिक जैसा कहाता है वैसाही काम करता है वह बहुत दिनकी बाकी रही तनखाहकोभी प्राप्त होवेगा १६

यथोक्तमार्तः सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत्। न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः ॥ २१७ ॥ एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः। अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम् ॥२१८॥

अर्थ–जो बीमार हुआ नौकर मालिकके कामको अन्य किसीकेपाससे नहीं करवाता है और स्वस्थ हुआभी आप काम नहीं करता है वा अन्य किसीसेभी नहीं करवाता है उसके कुछ बाकी कियेहुए कामकीभी नौकरी न देवे ॥ २१७ ॥ यह वेतन अर्थात् नौकरीके कर्मका मूल्य तनखाह लेनेंका संपूर्ण धर्म कहा अब इस्से आगे समयभेद अर्थात् जानके निषिद्ध कर्मोंको करनेवालोंकी व्यवस्थाको कहैंगे ॥ २१८ ॥

यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्। विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥२१९॥ निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्। चतुः सुवर्णान् षण्निष्कांश्छतमानं च राजतम् ॥ २२० ॥

अर्थ–जो राजाके देशमें रहनेंवाले वैश्य आदिकोंका समूह हमको यह करना है ऐसे किसी मतलबकेवास्ते कोई समयका संकेत करते है और सत्य सौगंदकरके राजासे कहते है फिर तिनमें जो कोई लोभकरके उस उक्त प्रयोजनसे विरुद्ध चले तो राजा उसको अपनें राज्यसे निकालदेवे ॥ २१९ ॥ ऐसे उक्त प्रयोजन समयसे विरुद्ध करनेंवाले तिस मनुष्यको राजा जानलेवे तब चार सुवर्ण वा छह निष्क अथवा पूर्वोक्त शतमान राजत इनका दंड कसूरके अनुसार करे ॥२२०॥

एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः। ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम् ॥२२१॥ क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत् सोऽन्तर्दशाहात्तद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत च ॥ २२२ ॥

अर्थ-ग्राममें जो जातिके समूह है उनमें जो समयसे उक्तसंकेतसे विरुद्ध चलनेंवाले है उनको धार्मिक राजा इसप्रकार दंड देवे ॥ २२१ ॥ कोई पुरुष भूमि तांबा आदिक द्रव्यको बेचके वा खरीदके पिछता वेकी मैने अच्छा नहीं किया वह दशदिनके अंदर उस वस्तुको लौटा देवे और बेचनेवालाभी ग्रहण करलेवे ॥ २२२ ॥

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत् । आददानो ददश्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥२२३॥ यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति । तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं स्वयं षण्णवतिं पणान् ॥२२४॥

अर्थ-दशदिनके पीछे बेचाहुआको न लेवे और खरीदाहुआको लौटावे नहीं और जो बलसे उलटा लौटते है वह राजाको छह सौ प्रमाण दंड देनेंके योग्य है ॥ २२३ ॥ जो पुरुष उन्मत्त आदि दोषोंवाली कन्याको विना कहें वरकेवास्ते दान देता है तिसको राजा आप इन्साफ करके नव्वे ९० पण दंड देवे ॥ २२४ ॥

अकन्येति तु यः कन्या ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः । स शतं प्राप्नुयाद्दण्डंतस्यादोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥ पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः । नाकन्यासु क्वचिन्नॄणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥२२६॥

अर्थ-जो पुरुष कन्याको द्वेषभावसे क्षतयोनिवाली अकन्या कहते है वह उक्त दोष न होनेंसे राजाको सौपण दंड देनेको योग्य है ॥ २२५ ॥ मनुष्यके जो पाणिग्रहण, विवाहसंबंधी वैदिक मंत्र है वे कन्याकेही विषयमें कहे है अकन्या अर्थात् क्षतयोनिवाली जो है उनकेविषैं कहीं वैदिकमंत्र नहीं है क्योंकि वे धर्म क्रियाको नाश करनेंवाली है ॥ २२६ ॥

पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम् । तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥ यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत् ॥ तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥२२८॥

अर्थ-और विवाहसंबंधी मन्त्र भार्या होनेमें निश्चय निमित्त हैं ऐसे विद्वानोंको जानना चाहिये सो क्योंकि सप्तपदीभव ऐसे मन्त्र पढके सप्तपदी दान अर्थात् विना सातवीं भांवर फिरे भार्या नहीं होती है ॥ २२७ ॥ जिस जिस कियेहुए काममें दश दिनतक पश्चात्ताप अर्थात् मैंने यह अच्छा न किया ऐसा

पिछताव होजावे तिस कार्यको राजा इस धर्ममार्गमें नियुक्त करे अर्थात् दश दिनके भीतरके किये कार्यको नापसंद होनेंमें लौटवा देवे ॥ २२८ ॥

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे । विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥ दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे । योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात् ॥

अर्थ—गौ आदि पशुओंके विषयमें जो स्वामी और पालीका व्यतिक्रम होजावे तो उनके विवादको यथावत् धर्मतत्वसे कहते है ॥ २२९ ॥ दिनमें तो पालीके हाथ सौंपनेंसे पशुओंके योगक्षेमकी जुम्मेदारी पालीको है और रात्रीकी समयमें स्वामीके घरमे लादेनेंपीछे स्वामीकाही दोष है और जो यदि रात्रीमेंभी पालीको पशु सौंपे हो तो जबाव देहपाली होवेगा ॥ २३० ॥

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्दशतो वराम् । गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृते भृति ॥ २३१ ॥ नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम् । हीनं पुरुषकारेण प्रदद्यात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥

अर्थ—जो गोपाल भृत्य अर्थात् गौओंका मालीक स्वामीकी अनुमतिसे एक उत्तम गौको दुहता है यानें उसके दूधको ग्रहण करता है वह दश गौओंको चरावे अर्थात् दशोंका पाली रहे उसकी वहीतनखाह है ॥ २३१ ॥ जो गौआदि पशु, चरानेंवाले मनुष्यके समीपसे खोयजावे या पालिकेविना देखे सर्प विच्छू आदि कीडे यदि पशूको खालेवे या कुत्ते आदि दुष्ट जानवर पशुको भक्षण करलेवे या खड्ढे आदि विषम भूमीमें पडके मरजावे या पशुओंकी रक्षा करनेंवाला पाली रक्षा करनेंमें पुरुषार्थ न करे तो ऐसें ऐसें नष्ट हुये पशुको स्वामीके अर्थ पालीदेवे ॥ २३२ ॥

विघुष्य तु हृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति । यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शंसति ॥२३३॥ कर्णौ चर्म च वालांश्च बस्तिं स्नायुं च रोचनाम् । पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥

अर्थ—जो यदि पटहा आदि बाजोंको बजाके चौर अपनें बलकरके पशुओंके पालीके समीपसे लेजावे तो रक्षा करनेंवाला पालीकभी न देवेगा और जो यदि स्वामी नजीक होवे तो पशुओंके हरनेंकों अपनें स्वामीसे जल्दी कहै ॥ २३३ ॥ जो अपनें मौतसे आपही पशु मरजावे तो उस पशुके कान चर्बी वाल पूंछ और

बस्तियानें सूंडीका नीचेका भाग और स्नायु रोचना ये सब पशुके स्वामीको देदेवे और मरेहुये पशुके सींग खुर आदि अंगोंको दिखादेवे ॥ २३४ ॥

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति । या प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥२३५॥ तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने । यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥२३६॥

अर्थ–जिस बकरी भेड आदि पशुको भेढिया रोकलेवे तब जो यदि पशुओंको पाली दौरे नही और बलकरके जिस बकरी भेड आदिको भेडिया मार देवे तो फिर तहां वह दोष पालीका है ॥ २३५ ॥ और जो यदि वे बकरी भेढ आदि पशु तृणयुक्त वनमें इकट्ठे कियेहुये आपसमें अपनी अपनी इच्छासे चरते हो और उनमेंसे किसी पशुको अचानक कूदके जो भेडिया मारजावे तो तहां पालीका दोष नहीं ॥ २३६ ॥

धनुः शतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्समन्ततः । शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ २३७ ॥ तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि । न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

अर्थ–ग्रामके चारोंतर्फ चारसै हाथमें परिहार यानें पशुओंकी बैठनेंकी जमीनको न वोवे या जहांतक तीनवार फैंकनेंसे लाठी जाके पडे वहांतकका गोरवको न वोवे और सहरको चारोंतर्फ इससे तिगुनो जमीन छोडनी चाहिये ॥ २३७ ॥ और जो यदि उस गोरेकी जमीन कोई विनाराजाको माल दिये बोले वे और उसमें किसीके पशु आनके चरजावे तो फिर उस मामलेमें पशुपालको राजा दंड न देवे ॥ २३८ ॥

वृतिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्ट्रो न विलोकयेत् । छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥ पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः । सपालः शतदण्डार्हो विपालांश्चारयेत्पशून् ॥ २४० ॥

अर्थ–और उस परिहार यानें गोरेकी जमीनमें वोनेवालेको खेतके चारोंतर्फ डौला बनाना चाहिये और उस डौलेपे कांटोंके वृक्ष लगादेवे कि जिस्से खेतीको ऊंटभी न देखसके और उस डौलेमें जो कुत्तेका या शूरका मुख आनेका छिद्र हो तो उस छिद्रकोभी रोकदेवे ॥ २३९ ॥ सडकके समीप होनेवाले क्षेत्रमें या ग्रामके समीप हो उस क्षेत्रमें या परिवृत्त यानें गोरेके खेतमे जो किसी प्रकार

पालीके देखते देखते पशु वडके चरनें लगजावे तो उस पालीको सोपण दंड देवे और पाली न होवे तो खेतवालाही पशुओंको रोकदेवे यानें अपनें खेतमें न बडनें देवे ॥ २४० ॥

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति । सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥२४१॥ अनिर्दशाहां गां सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा । सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥२४२॥

अर्थ–और अन्य क्षेत्रोंमें जो पालिके आगे पशु वडके खेतमें चरलेवे तो तहां पालीको सवा १। पणका दंड देवे और सब जगह खेतवालेको अपराधके अनुसार पाली या पशुका स्वामी हरजाको देवे ॥२४१ ॥ व्याई गौ दशदिनके भीतर जो किसीके खेतमें जाके चरले और देवरूपपशु अर्थात् चक्र त्रिशूलवाला सांड जो किसीके खेतमें खेतीको भक्षण करता हो तो ये दोनों सपाल होया बिना पालीवाले हों इनको दंड न देना यह मनुजीनें कहा है ॥ २४२ ॥

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत् । ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रियस्य तु ॥ २४३ ॥ एतद्विधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः । स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे २४४

अर्थ–जो यदि खेतवाला राजाको उगाही आदि न देता हो और वे समयमें खेती वोयी हो ऐसे कसूरमें उसके खेतको पशु चरजावें तो उस क्षेत्रवालेको राजभागसे दशगुण दंड देवे और जो माल देता हो तो और किसानकेविना मालूम पशु खेतीको चरे तो तिस क्षेत्रवालेसे आधा दंड नौकरोंको देवे ॥ २४३ ॥ धर्मको जाननेंवाला पृथिवीका पति इस विधानको धारण करे स्वामियोंके और पशुके पशुपालोंके अपराधमें, यह श्रेष्ठ धर्म है ॥ २४४ ॥

सीमांप्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः । ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥२४५॥ सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान् । शाल्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ २४६ ॥

अर्थ–यदि दो ग्रामोंका सीमके लिये विवाद होजावे तो फिर राजा ज्येष्ठके महीनेंमें तृणोंके सूखनेंसे और सीमके प्रकाश होनेंसे सीमका निश्चय करे और दोनोंका विवादको दूर करे ॥ २४५ ॥ और सीमके ऊपर वटका वृक्ष पीपलका

वृक्षटेशूका और वृक्ष शालमलीका वृक्ष सालका ताडका उदुंबर यानें गुलरका ऐसे ऐसे वृक्ष बहुतकाल स्थिर रहनेंवाले सीमके चिन्हरूप बनावे ॥ २४६ ॥

गुल्मान्वेणूंश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि चाशरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति॥२४७॥ तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्रवणानि च । सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च ॥ २४८॥

अर्थ–गुल्म वेणु नानाप्रकारके जांटीका वृक्षवेल मुकर्वा और शरकुब्जगुल्म ऐसे ऐसे चिन्हसीमके वनावे क्योंकि इसप्रकार करनेसे सीम नष्ट नहीं होती है २४७ तलाव कूआ वापि यानें वावडी और जल वहनेंके मार्ग और मंदिर शिवाला आदि देवतोंके स्थान इत्यादि दोनों ग्रामोंके सीम संधेपर बनावे ॥ २४८ ॥

उपच्छन्नानि चान्यानि सीमालिङ्गानि कारयेत् । सीमाज्ञाने नृणांवीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम् ॥ २४९ ॥ अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्म कपालिकाः।करीषमिष्टकाङ्गारांश्छर्करा वालुकास्तथा२४९

अर्थ–सीमके निश्चयके लिये अन्य गुप्त चिन्ह सीमके बनावे और सीमके अर्थ मनुष्योंका अज्ञान देखकर सदा संसारके विषयरूप अज्ञान दूर होनेंको अवश्य बनावे ॥ २४९ ॥ पाषाण अस्थी गोवाल तुष भस्म कपालिक सूका गोवर और पकी ईट कोइ ले खपरैल वालुरेत इतनी वस्तु घडेमें घालके सीमपर गाडदेवे ५०

यानि चैवंप्रकाराणि कालाद्भूमिर्न भक्षयेत् । तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत्॥२५१॥ एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः । पूर्वभुक्त्या च सततमुदकस्यागमेन च ॥ २५२॥

अर्थ–इसप्रकारकी जिन वस्तुओंको बहुतकालके वाद होनेंमेंभी भूमि न खासके तिन वस्तुओंको दोनों ग्रामोंकि सीममें गाडदेवे ॥ २५१ ॥ सीमके अर्थ विवाद करनेंवाले दो ग्रामोंके मनुष्योंका विवाद दूर करनेंके अर्थ इन पूर्वोक्त चिन्होंकरके राजा सीमको वाट देवे या पहिलेके भोगनेंसे या नदीके प्रवाह आगमकरके वांट देवे ॥ २५२ ॥

यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने । साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥२५३॥ ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः । प्रष्टव्याः सीमलिङ्गानि तयोश्चैव विवादिनोः॥ २५४॥

अर्थ—और जो यदि चिन्होंके देखनेंसेभी सीमके निश्चयमे संदेह होवे तो फिर विवाद करनेंवाले मनुष्योंके साक्षीही निश्चय करनेंवाले है ॥ २५३ ॥ ग्रामीयक मनुष्योंके आगे और दोनों ग्रामोंके विवादी मनुष्योंके सन्मुख जो कोई मनुष्य सीमके विषयमें साक्षी हो उसको सीमके चिन्ह पूछनें चाहिये ॥ २५४ ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः समस्ताः सीम्नि निश्चयम्। निबध्नीयात्तथा-सीमां सर्वांस्तांश्चैव नामतः ॥ २५५ ॥ शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वीं स्रग्विणो रक्तवाससः। सुकृतैः शापिताः स्वैस्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम् ५६

अर्थ—वे संपूर्ण पूछेहुये मनुष्य सीमके विषयमें जो निश्चयकरके कहै तैसेही संपूर्ण सीमको पत्रमें लिखे और उन संपूर्ण मनुष्योंके नाम लिखै ॥ २५५ ॥ वे साक्षी रक्तपुष्पोंकीमाला और रक्तवस्त्र पहिनके और पृथिवीके डले शिरपर धरके यह कहैं कि हमारे सुकृत नाश हो जो हम असत्य कहते हों तो ऐसे कहाके उस सीमको विधिसे निश्चय करे ॥ २५६ ॥

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः। विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युर्द्विशतं दमम् ॥ २५७ ॥ साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः। सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ॥२५८

अर्थ—वे सच्चे साक्षि शास्त्रोक्तविधिसे सीमको निर्णय करनेंवाले पापोंसे दूर होजाते है और विपरीत विधिसे करनेंवालेको दोसो पण दंड देना चाहिये ५७ और विवाद करनेंवाले मनुष्योंके साक्षियोंके अभावमें समीपके ग्राम चारोंतर्फ आसपास वसनेवाले चार जमीदार साक्षी धर्मकरके सीमका निर्णय राजाके संपीजाके करे ॥ २५८ ॥

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम्। इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥२५९॥ व्याधांश्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान्। व्यालग्राहानुञ्छवृत्तीनन्यांश्च वनचारिणः ६०

अर्थ—और परंपरासे प्राप्त होनेंवाले जो सीमके साक्षी न होवें तो वनमें रहनेंवाले इन वक्ष्यमाण पुरुषोंको सीमके विषयमें साक्षी करे ॥ २५९ ॥ पहले कहे इन सबके अभावमें, व्याध और जानवरोंको मारके भक्षण करनेवाले और गोपाल मच्छीको मारनेंवाले वृक्षोंको पाडनेवाले सर्पोंको पकडनेवाले उंच्छवृत्तिकरनेवाले अन्य वनचारी इन सबको सीमके विषयमें पूछलेवे ॥ २६० ॥

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासंधिषु लक्षणम् । तत्तथा स्थापयेद्राजा-
धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥ क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृह-
स्य च । सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

अर्थ—वे व्याध आदिक पूछेहुये सीम संधिमें जैसे लक्षण कहै सो तैसेही राजा दोनों ग्रामोंकी सीमको व्यवस्थाकरके स्थापन करे ॥ २६१॥ एक ग्राममें क्षेत्र कूप तलाव बगीचा घर इनोंके और सीमके और सेतुके विवादमें अपनें देशमें वसनेंवाले सब साक्षियोंका प्रमाण जानना व्याध आदिका प्रमाण नहीं ॥ २६२॥

सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम् । सर्वे पृथक् पृथग्द-
ण्डया राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥२६३ ॥ गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा
भीषया हरन् । शतानि पञ्च दण्डयः स्यादज्ञानाद्विशतो दमः २६४॥

अर्थ—सीमके निमित्त विवाद करनेंवाले मनुष्योंमें रुषारुषी पक्षकरके जो यदि आसपास ग्रामोंमें वसनेंवाले मनुष्य मिथ्या कहैं तो वे संपूर्ण पृथक्पृथक् राजाकरके मध्यम साहस दंड देनेंके योग्य है ॥ २६३ ॥ घर तडाग, बगीचा क्षेत्र इनोंको जो मारणके भयसे या बंधनादि भय कहके जो कोई हरलेवे उसको राजा धर्मको जानके पाँचशौ पण दंड देवे बलसे लेनेंवालेको तीनशौ पण दंड देना ॥ २६४ ॥

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित् । प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुप-
कारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥ एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमा-
विनिर्णये । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्पारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

अर्थ—सीमके चिन्ह और साक्षियोंके अभावमें धर्मज्ञ राजाही आपही विचारकरके उस अविसह्य सीमको अर्थात् विनानिश्चय हुई सीमको, जिन विवादी पुरुषोंका अधिक नुकसान होता हो उन्होंहीके लिये देदेवे क्योंकि तिनोंको उपकार है ऐसी धर्मकी व्यवस्था है ॥ २६५ ॥ यह धर्म सीमके निर्णयमें संपूर्ण कहा है और अब इस्से ऊर्ध्ववाक् पारुष्यका अर्थात् कठोर वचन कहनेंका निर्णय कहते है ॥ २६६ ॥

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति । वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा
शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७॥ पञ्चाशद्ब्राह्मणो दण्डयः क्षत्रियस्या-

भिशंसने। वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः॥ २६८॥

अर्थ-जो यदि क्षत्रिय होके ब्राह्मणको चोर ऐसे पारुष्य वचन कहे तो क्षत्रि शौपण दंड देनेके योग्य है और वैश्य, वचनके अनुसार डेढशो या दोशोपण दंड देनेके योग्य है और शूद्र ब्राह्मणको खोटे वचन कहै तो वह शूद्र वधयाने मारनेके योग्य है॥ २६७॥ ब्राह्मण जो क्षत्रीको परुष वचन कहै तो पचाशपण दंड देना ब्राह्मणको योग्य है और वैश्यको खोटे वचन कहै तो ब्राह्मणको पचीसीपण दंड देवे और शूद्रके मांमलेमें बारहपण देवे॥ २६८॥

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे। वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत्॥ २६९॥ एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्। जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः॥२७०॥

अर्थ-समान जातीके द्विजाति जो आपसमें खोटे वचन कहे तो उनको बारहपण दंड देना और जो माता भगिनी आदिकोंको खोटे वचन कहै तो वही दूना दंड देवे॥ २६९॥ जो शूद्र द्विजातियोंको पातक आदि घोर वाणीसे बोले तो उस शूद्रकी जिह्वाको छेदन राजा करादेवे क्योंकि वह शूद्र पादसे जन्मा है उसको खोटे वचन बोलनें द्विजातिके अर्थ योग्य नहीं॥ २७०॥

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः। निक्षेप्योऽयोमयः शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुलः॥ २७१॥ धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः। तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः॥ २७२॥

अर्थ-जो शूद्र होके द्विजातिको यह कहे कि रे यज्ञदत्त ब्राह्मण तू खोटा है ऐसे नामको जातिद्रोहसे बोले तो उस शूद्रके मुखमें दश अंगुलकी लोहेकी कील अग्निमें तपाइ हुईको प्राप्त करे यह उसके बोलनेका दंड है॥ २७१॥ और जो शूद्र अभिमानकरके ब्राह्मणको धर्मका उपदेश देवे तो उस शूद्रके मुखमें और कानमें अग्निकरके तपाया हुआ तेल राजा आसेचन करावे अर्थात् कानमुखमें ताता तेल डलावे॥ २७२॥

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च। वितथेन ब्रुवन् दर्पाद्दाप्यः स्याद्द्विशतं दमम्॥२७३॥ काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम्। तथ्येनापि ब्रुवन् दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम्॥२७४॥

अर्थ-और जो कोइ द्विजातिही द्विजातियोंको यह कहै कि तैनें यह बात न

सुनी और तू उस देशमें जन्मा नहीं और न तेरी यह जाति और न तेरा संस्कार हुआ ऐसे जो अहंकारकरके मिथ्या कहैं उसें दोसोपण दंड देना योग्य है ॥ २७३ ॥ और जो ब्राह्मणको काणा लंगडा टूटा ऐसे अंगोंकरके हीनकोभी जो सत्य वचनसे कहै तो उसे कार्षापण दंड देना योग्य है ॥ २७४ ॥

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् । आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददद्गुरोः ॥ २७५ ॥ ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता । ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥२७६॥

अर्थ–माता पिता भाई अपनी भार्या पुत्र गुरु इनोंको अभिशाप न कर्ता यानें कुवचन बोले और बडोंके मार्गको त्यागदेवे तो उसको राजा शौपण दंड देवे ॥ २७५ ॥ ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर जो आक्रोश करें तो दंड शास्त्रको जाननेंवाले राजाकरके इस विधिसे दंड देना योग्य है कि ब्राह्मणको पूर्व साहस दंड देवे और क्षत्रीको मध्यम साहस दंड देवे ॥ २७६ ॥

विट्शूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः । छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥२७७॥ एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः । अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २७८॥

अर्थ–और जो वैश्य शूद्र आपसमें परस्पर आक्रोश करे तो वैश्यको प्रथम साहस दंड और शूद्रको मध्यम साहस दंड देवे यह दंडविधि कही है ॥ २७७ ॥ यह वाक्पारुष्य दंडकी विधी तो कही अब इससे आगे दंडपारुष्य अर्थात् ताडना आदिकका निर्णय कहैंगे ॥ २७८ ॥

येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः । छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २७९ ॥ पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति । पादेन प्रहरन् कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

अर्थ–जो यदि शूद्र द्विजातिको जिस किसी अंगकरके ताडना देवे तो फिर वही वही अंग उस शूद्रका छेदन करवाना योग्य है यह मनुजीकी आज्ञा है ॥ ॥ २७९ ॥ जो शूद्र हाथको या लाठीको उठाके द्विजातिके ऊपर हनन करे तो उस शूद्रका हाथ छेदन करानेंके योग्य है और जो शूद्र कोपकरके द्विजातिको पैरसे मारे तो उस शूद्रका पैर छेदन करानेके योग्य है ॥ २८० ॥

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः । कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः

स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥ अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः। अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

अर्थ-जो शूद्र ब्राह्मणकरके साथ आसनपर बैठनेंकी इच्छा करे तो उस शूद्रकी कमरमें तपाये लोहके चिन्हका दाग देके देशसे निकाल देवे या उस शूद्रकी फीचको छेदन करादेवे ॥ २८१ ॥ जो शूद्र अभिमानकरके थूकसे ब्राह्मणका अपमान करे उसके दोनों ओष्ठ राजा छेदन करवादेवे और जो मूत्रसें अपमान करे तो लिंगइंद्रीका छेदन करावे और अपशब्दकरके अपमान करे तो गुदा छेदन करादेवे ॥ २८२ ॥

केशेषु गृह्णतोहस्तौ छेदयेदविचारयन्। पादयोर्दाढिकाया च ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ २८३॥ त्वग्भेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः। मांसभेत्ता तु षण्निष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥२८४ ॥

अर्थ-जो शूद्र अभिमानसे द्विजातिको केश पकडके पीडा देवे या मारनेंके अर्थ द्विजातिके पैरको या श्मश्रुको या नाडको या वृषणोंको ग्रहण करे तो उस्के हाथ छेदन करादेवे यह राजाका धर्म है ॥ २८३ ॥ जो मनुष्य अपनी जातिके मनुष्यकी चामको भेदन करदेवे या लोहूको काढदेवे तौउसे शौपण दंड देवे और जो मांसको भेदन करदेवे तो छह निष्क सुवर्णका दंड देवे और अस्थिको भेदन करनेंवालाको देशसे निकालदेवे ॥ २८४ ॥

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथायथा। तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ २८५ ॥ मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति। यथायथा महद्दुःखं दण्डं कुर्यात्तथातथा ॥ २८६ ॥

अर्थ-संपूर्ण वनस्पतिओंके फल पुष्प पत्रके भोग जैसे जैसे है तैसे तैसे उत्तम साहस आदि दंड हिंसामें करना ऐसी धारणा जानना अर्थात् फलोंके नुकसानके अनुसार दंड देवे यह व्यवस्था है ॥ २८५ ॥ मनुष्य तथा पशुवोंकै पीडा उत्पन्न करनेकेवास्ते जो प्रहार करता है उसको जैसी जैसी मनुष्यादिकोंको अधिक पीडा दीहै तैसाही कसूरके अनुसार दंड देवै ॥ २८६ ॥

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा। समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥ द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा। स तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञो दद्याच्च तत्समम् ॥२८८॥

अर्थ–हाथ पैरोंमें घाव हो जावे रुधिर निकसा जावे ऐसी पीडा कर देनेंमें जिसको पीडा हुई है उसकी पीडा जबतक निवृत्त होवे तवतक औषधपथ्य आदिकोमें जो खर्चा लगे उसको वह पीडाकरनेंवाला देवे और जो नहीं देवे तो राजा उसपर दंडकरके सब खर्चा दिलवावै ॥ २८७ ॥ जो कोई किसीके वरतन आदि द्रव्योंका नाशको जानके वा विना जानें हुए करदेवै वह उसको अन्य द्रव्य देकै प्रसन्न करै और उस नष्ट कियेहुए द्रव्यके मूल्यकी बरावर राजा उसको दंड देवै ॥ २८८ ॥

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु च । मूल्यात्पञ्चगुणो दण्डः पुष्पमूलफलेषु च ॥ २८९ ॥ यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव च । दशातिवर्तनान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

अर्थ–चाम चामके बनायेहुए मसक आदि वरतन वा काष्ठके तथा मिट्टीके वरतन इनके फोड डालनेंमें तथा पुष्प मूल फल इनके नाशकर देनेंमें इनके मूल्यसे पांचगुना दंड राजाको देवै और इन चीजोंवाले मालिकको प्रसन्न कर देवै ॥ २८९ ॥ रथआदि सवारी तिसका सारथी और उस सवारीका मालिक इनकै जो यदि आगे कहेहुए दशनिमित्त हो जावेंतो कुछ दंड देनेंको, ये योग्य नहीं है और उन दश निमित्तोंके विना दंड देना कहा है ॥ २९० ॥

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते । अक्षभंगे च यानस्य चक्रभङ्गे तथैव च ॥ २९१ ॥ छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्म्योस्तथैव च । आक्रन्दे चाप्यपैहीति न दण्डं मनुरब्रवीत् ॥ २९२ ॥

अर्थ–वैलोंकी नाथ टूट जावे १ जूवा टूट जावे २ ऊंची नींची पृथ्वीपर रथ आदि तिरछा हो जावे ३ रथके पैंहोकी धूरी टूट जावे ४ वा चक्रपैंहें टूट जावे ५चर्म आदिसें बंधेहुए यंत्र खुल जांवे ६ वैलोंके पकडनेंके जोत ७ रज्जु छूट जावे और हांकनेंके समय बैल चिमक जांवे इन दश कारणोंके होनेंमें जो यदि प्राणी हिंसा वा द्रव्यका नाश हो जावे तो सारथी आदिकोंको दंड देना योग्य नहीं है ऐसे मनुआदिकोंनें कहा है ॥ २९१ ॥ २९२ ॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात्प्राजकस्य तु । तत्र स्वामी भवेद्दण्ड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥ प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति । युग्यस्थाः प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्ड्याः शतं शतम् २९४

अर्थ–जहां सारथीके मूर्खपनेंसे रथआदि सवारीमें कुछ नुकसान होके प्राणि हिंसा हो जाती है तहां उस रथ आदिके स्वामीको दोसौ २०० पण दंड देव ॥ २९३ ॥ जो यदि रथआदिको हांकनेंवाला सारथी निपुण होवे तब किसी प्राणीकी हिंसा हो जावे तो उस सारथीकोही दोसो पण २०० दंड देवै और जो वह निपुण नहीं होवे तो उस सवारीमें बैठनेंवाले सब पुरुषोंको सौ सौ पण दंड देवे क्योंकि मूर्ख सारथीकी सवारीमें बैठनेंसे सबही दोष भागी होते है ॥ २९४॥

स चेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा। प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥ मनुष्यमारणे क्षिप्रं चौरवत्किल्बिषं भवेत्। प्राणभृत्सु महत्स्वर्धं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६॥

अर्थ–वह सारथी जो यदि मार्गमें पशुवोंसे अथवा अन्य रथअदिसे रुकजावे तोभी जो यदि उस सवारीके तोडनेंमें प्राणियोंकी हिंसा हो जावे तो विनाविचार कियें उस सारथीको दंड देवै ॥ १९५ ॥ जहां मनुष्यकी मृत्यु हो जानेंमें सारथीके मोडनेंका कसूर है तहां चोरका दंड उत्तम साहससंज्ञक जुल्वाना करै और अन्य प्राणधारी वडे जीव गौ हाथी ऊंट घोडा इनके मारनेंमें उत्तम साहसका आधा दंड देवै ॥ २९६ ॥

क्षुद्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः। पञ्चाशत्तु भवे द्दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥ गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः। माषकस्तु भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ २९८ ॥

अर्थ–छोटी जातिके पशुओंके मारनेंमें तिस सारथीको दोसौपण दंड देवै और सुंदर मृग तोता, मैना आदि पक्षी इनके मारनेंमें पंचाशपण दंड देवै ॥२९७॥ गधा बकरी भेड इनके मारनेंमें चांदीके माषकसंज्ञक प्रमाण पांच दंड देवै और शूकर कुत्ता इनके मारनेंमें एकमाषक चांदीका दंड देवै ॥ २९८ ॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः। प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥२९९॥ पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथंचन। अतोऽन्यथा तु प्रहरन् प्राप्तः स्याच्चौरकिल्बिषम् ३०

अर्थ–भार्या पुत्र दास कही जानेंआनेंवाला दूत सहोदर भाई इनसे कुछ अपराध हो जावे तो इनको शिक्षाकेवास्ते रज्जु बेत वांसकी कामची इनसे पीडा देवै ॥ २९९ ॥ इन भार्या आदिकोंको रज्जु आदिसेभी पीठपे मारके ताडना दे-

वै और शिरपै कभी नहीं मारै और इस्से अन्यथा जो मस्तक आदिपर इनको ताडना देता है वह चौरके अपराधके योग्य है अर्थात् चोरका दंड उसको राजा देवै ॥ ३०० ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः। स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥ परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनाना निग्रहे नृपः। स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥३०२॥

अर्थ–यह दंड पारुष्यका संपूर्ण निर्णय कहा अब इस्से आगे चोरके दंड निर्णयमें जो विधि है उसको कहते है ॥ ३०१ ॥ चोरोंको दंड देनेंमें राजा उत्तम यत्न करे क्योंकि चोरोंको दंड देनेंसे राजाका यश और राज्य वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ ३०२ ॥

अभयस्य हि यो दाता स पूज्यः सततं नृपः। सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥३०३॥ सर्वतो धर्मषड्भगो राज्ञो भवति रक्षतः। अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४॥

अर्थ–जो राजा प्रजाको अभय देता है वह राजा निरंतर पूजनेयोग्य है और तिसकी यज्ञभी अभय दक्षिणासे युक्त सदा वृद्धिकों प्राप्त होती है ॥ ३०३ ॥ प्रजाकी रक्षाकरनेवाला राजाको संपूर्ण प्रजाके किये हुए धर्मसे छठा भाग मिलता है ऐसीही नहीं प्रजाकी रक्षाकरनेवाला राजाको प्रजाके पापमेंसे छठा भाग प्राप्त होता है ॥ ३०४ ॥

यदधीते यद्यजते यद्ददाति यदर्चति। तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात् ॥३०५॥ रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन्। यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

अर्थ–जो कोई मनुष्य जप यज्ञ दान देवताका पूजन आदि करता है उस करनेवालेके कियेहुयेमेंसे छठे भागका भागी रक्षाकरनेसे राजा होता है इसमें कोई तरहका संदेह नहीं है ॥ ३०५ ॥ धर्मसे प्रजाकी रक्षा करता हुआ और मारनेके योग्य चोर आदिकोंको मारता हुआ राजा दिनदिनके प्रति लक्ष रुपैयेकरके युक्त दक्षिणावाली यज्ञके फलकी समान फलको प्राप्त होता है ॥ ३०६ ॥

योऽरक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः। प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥ अरक्षितारं राजानं बलिष-

ड्भागहारिणम् । तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥३०८॥

अर्थ-जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता हुआ अपनी उगाही आदिबलिको या करको या महीनोंके प्रति दंडको लेते है वे राजे मरके शीघ्रही नरकमें जाते है ॥ ३०७ ॥ जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता है और बलीको अर्थात् अन्नके छठे भागको लेता है उस राजाको संपूर्ण संसारके संपूर्ण पापोंका भागी कहते है ॥ ३०८ ॥

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम् । अरक्षितारमत्तरं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९॥ अधार्मिकं त्रिभिर्न्यायैर्निगृह्णीयात्प्रयत्नतः । निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन च ॥ ३१० ॥

अर्थ-जो राजा शास्त्रकी मर्यादाकों त्याग देवे और नास्तिक होवे और अनुचित दंड आदिकरके धनको लेनेवाला ब्राह्मणको क्लेश देनेवाला प्रजाकी रक्षा न करनेवाला कर लेनेंवाला ऐसे राजाको नरकगामी जानना चाहिये ॥ ३०९ ॥ अधर्मी चोर आदि दुष्टोंको तीन उपायोंसे जतनकरके राजा ग्रहण करे रोकनेकरके या बांधनेकरके या अनेक प्रकारके हाथ पैरछेदन आदि मारनोंकरके निश्चै दुष्टोंको दंड देवे ॥ ३१० ॥

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च । द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥ क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम् । बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥३१२॥

अर्थ-दुष्ट पापियोंको दंड देनेसे और साधुओंकी रक्षा करदेनेंसे राजा निरंतर पवित्र होते है जैसे द्विजाति यज्ञोंके करनेंसे पवित्र होते है तैसे ॥ ३११ ॥ अपने दुःखको कहते हुये कार्यार्थि प्रत्यर्थी मनुष्योंके अर्थ राजाको क्षमा करनी योग्य है और अपनें हितको करते हुये बालक वृद्ध रोगी इन्होंके अर्थभी क्षमा करनी योग्य है ॥ ३१२ ॥

यः क्षिप्तो मर्षयत्यार्तैस्तेन स्वर्गे महीयते । यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥ राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता । आचक्षाणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥३१४॥

अर्थ-जो राजा दुःखी हुये मनुष्योंकरके तकलीफ दियाहुआभी क्षमा करता

है वह राजा स्वर्गमें पूजाको प्राप्त होता है और जो राज्य ऐश्वर्यके अभिमानसे क्षमा न करते है वे नरकमें जाते है ॥ ३१३ ॥ जो ब्राह्मणके सुवर्णको हरलेवे तो उस चोरको अपनें केश खोलके राजाके पास जाके यह कहना चाहिये कि मैनें ब्राह्मणका सोना हरा है इस्से आप मुजको शिक्षा देनेंके योग्य है ॥ ३१४ ॥

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् । शक्तिं चोभयतस्तीक्ष्णामायसं दण्डमेव वा ॥ ३१५ ॥ शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते । अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम् ॥

अर्थ–कांधेपर मुशलधरके या खैरका सोटा, दोनों तर्फसे पैनी वरछी या लोहाका दंड इनको लेके राजाके समीप जाके यह कहै कि मै ब्राह्मणके सुवर्णको हरनेंवाला हूं मुजको इस दंडसे शिक्षा दो ॥३१५॥ शासनसे अर्थात् एकवार मूसलके मारनेंसे प्राण निकसजावे तो या राजा जीवतेहीको छोडदे तो ऐसा मनुष्य चोरभी चोरीकेपापसे छूटजाता है और जो राजा उसको दंड न देवे तो चोरके पापको प्राप्त होवेगा ॥ ३१६ ॥

अन्नादे भ्रूणहा मार्ष्टि पत्यौ भार्यापचारिणी । गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि किल्बिषम् ॥३१७॥ राजनि धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥

अर्थ–जो भ्रूणहत्यारेके अन्नको भोजन करता है वह उसके पापका भागी होता है और व्यभिचारिणी भार्या अपनें पतिकी क्षमाको जार पतिमें देखके अपनें पाप पतिमें प्राप्तकर देती है और शिष्य गुरुको और पूजन करनेवाला आचार्यको चोर राजाको क्षमाके करानेंसे अपनें अपनें पाप ये संपूर्ण इस प्रकार देदेते है इससे राजोंने चोरको दंड देना अच्छा है ॥ ३१७ ॥ पापोंको करनेवाले मनुष्य राजाके दंडसे पापोंसे छूटेहुये निर्मल होके स्वर्गमें जाते है जैसे सुकृत करनेंवाले श्रेष्ठ पुरुष जाते है ॥ ३१८ ॥

यस्तु रज्जुं घटं कूपाद्धरेद्भिद्याच्च यः प्रपाम् । स दण्डं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥३१९॥ धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः । शेषेऽप्येकादशगुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥३२०॥

अर्थ–जो मनुष्यने रज्जुको याघडेको कुवेसे हरता है यापौशराको भेद न करता है वह सोनेका माष संज्ञक दंड देने योग्य है और वह रज्जु घडा, लेके कुवेपर धर

देवे ॥ ३१९ ॥ दोशो पलका द्रोण होता है और वीस द्रोणका कुंभ होता है इस प्रकार दश कुंभोंसे ज्यादा अन्नको जो चोरता है उसको अन्नवालेके नुकसानके अनुसार ताडना देनी चाहिये या चोरीके अनुसार मारना अंग छेदनादि करे और पीछे फिर एकसे लेके दशकुंभपर्यंत हरे तो चोरेहुए अन्नसे ग्यारह ११ गुण दंड देवे और अन्न धनवालेका धन तिसके मालिकको देदेवे ॥ ३२० ॥

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः। सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम् ॥ ३२१ ॥ पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते । शेषे त्वेकादशगुणं मूल्याद्दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥

अर्थ-जैसे अन्नके हरनेवालेको वध करना कहा है तैसेही तोलके समय घडीके उडानेमें या सौना चांदि आदिके हरनेंमें या उत्तम वस्त्रके हरनेंमें सौसे अधिक पशु आदिके हरनेंमें मारना आदि दंड देना ॥ ३२१ ॥ और जो पचाससे ऊपर चोरे तो उसके हाथ छेदन करादेवे ऐसा मनुआदिकोनें कहा है और शेष जो एक पलसे लेके पचाश पल सौना आदिके हरमें हरे हुये धनसे ग्यारह ११ गुणा दंड देवे ॥ ३२२ ॥

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः । मुख्यानां चैव रत्नाना हरणे वधमर्हति ॥३२३॥ महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च । कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

अर्थ-उत्तम कुलमें जन्मे हुये पुरुष और विशेषकरके उत्तम कुलमें जन्मीहुई नारी और वैडूर्य हीरा आदि श्रेष्ठ रत्न इन सबको हरनेंवाले मनुष्योंको मारना योग्य है ॥ ३२३ ॥ बडे पशुओंके हरनेंमें अर्थात् हाथी अश्व गौ महिषी आदिके और खड्ग आदि शस्त्रोंके और घृत आदि औषधोंके हरनेंमें दुर्भिक्ष अकालको देखके और अच्छे बुरे प्रयोजनको देखके राजा ताडना अंगछेदन आदि दंड देवे ३२४

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने । पशूनां हरणे चैव सद्यः कर्योऽर्धपादिकः ॥ ३२५ ॥ सूत्रकार्पासकिण्वानां गोमयस्य गुडस्य च । दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥३२६॥ वेणुवैदलभाण्डानां लवणानां तथैव च । मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७ ॥ मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च

घृतस्य च । मासस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥ ३२८ ॥ अन्येषां चैवमादीनामद्यानामोदनस्यच । पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्याद्द्विगुणो दमः ॥३२९॥ पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च । अन्येष्वपरिपूतेषु दण्डः स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥३३०॥

अर्थ-ब्राह्मणकी गौ हरलेवे और वंध्या गौको वाहनेके अर्थ नाकछेदन करदेवे या पशुओंके हरनेंमें तत्पर होवे ऐसे मनुष्यका शीघ्र पैर छेदन करादेवे ॥ ३२५ ॥ ऊर्णा आदि सूत्र कपाससे होनेवाला सूत्र और मदिराका बीज गोमय गुड दही दूध तक्र पानी तृण वांसके टुकडोंसे बनाये भांडे नौन मिट्टीके बरतन मिट्टी भस्मी मच्छी पक्षी तेल घी मांस मधु और मृगकी चाम खड्ग शींग और इनसे आदि लैके भोजनके योग्य अन्न पका अन्न इन सबके चोरनेमें मोलसें दुगुणा दंड देना चाहिये ॥३२९॥ पुष्प हरे अन्न गुच्छ वेल वृक्ष अन्य और बहुतसे वृक्ष इन्होंके हरनेंवालेको पांचकृष्णलसंज्ञक दंड देवे ॥ ३३० ॥

परिपूतेषु धान्येषु शाकमूलफलेषु च । निरन्वये शतं दण्डः सान्वयेऽर्धशतं दमः ॥३३१॥ स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम् । निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

अर्थ-खेतमें सिरटी आदिकोमे पके हुये अन्न और शाक मूल फल इनको विना संबंधी हरनेंवाले मनुष्यको शौपण दंड देवे और संबंधीको पंचाशपण दंड देवे ॥ ३३१ ॥ जो बलसे अन्नवालेके आगे अन्न हरना आदि कर्म करे है उसे साहस कहते है क्योंकि चोरी विना संबंधीकी होती है और जो हरके निकलजावे उससेभी चोरी कहते है इससै उसे चोरका दंड न देना ॥ ३३२ ॥

यस्त्वेतान्युपक्लृप्तानि द्रव्याणि स्तेनयेन्नरः । तमाद्यं दण्डयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात् ॥ ३३३ ॥ येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते । तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥

अर्थ-जो मनुष्य इन उपक्लृप्त द्रव्योंको चोरता है और तो अग्निके स्थानसे अग्निहोत्रादिमें मिली हुई तिनों अग्नियोंको चोरता है उसे राजा प्रथम साहस दंड देवे ॥ ३३३ ॥ जिस जिस अंगकरके और जिस जिस प्रकारकरके चोर मनुष्यमें जानाजावे उसका उसी उसी अंगको राजा प्रसंग दूर करनेंके अर्थ छेदन करादेवे ॥ ३३४ ॥

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः। नादण्ड्यो नाम
राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥३३५॥ कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो य-
त्रान्यः प्राकृतो जनः। तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥

अर्थ–पिता आचार्य प्यारा माता भार्या पुत्र पुरोहित इनोंके मध्यमें जो अपनें स्वधर्ममें नहीं स्थित रहते है उनको राजा दंड निश्चै देवे ॥ ३३५ ॥ जिस अपराधमें अन्य मनुष्य कार्षापण दंड देनें योग्य हों उस अपराधमें राजाको सहस्रपण दंड देना योग्य है अपनें अर्थ किये दंडको राजा जलमें प्रवाह करे या ब्राह्मणोंको देवे ॥ ३३६ ॥

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्। षोडशैव तु वैश्यस्य
द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥ ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि
शतं भवेत्। द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥

अर्थ–चोरीके गुण दोषको जाननेंवाले शूद्रको चोरीमें आठगुना पाप है और दोष जाननेंवाले वैश्यको सोलागुना क्षत्रीको बत्तीसगुना इस प्रकार पाप जानना ॥ ३३७ ॥ चोरीके गुण दोष जाननेंवाले ब्राह्मणको चौंसठगुणा दोष या पूरा शौगुणा या एकसो अठाईस गुणा ब्राह्मणके गुण अपेक्षासे जानना ॥ ३३८ ॥

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च। तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थ-
मस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥३३९॥ योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लिप्सेत ब्रा-
ह्मणो धनम्। याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥३४०॥

अर्थ–विना रोके वृक्षोंके मूल फल पुष्प और होमकी अग्निके अर्थ काष्ठ गौओंके चरनेंके अर्थ तृण इनोंके लानेंमें मनुजी चोरीका दोष नहीं कहते भये ॥ ३३९ ॥ अदत आदायि अर्थात् चोरके हाथसे जो ब्राह्मण धन लेनेकी इच्छा करता है याजन अध्यापन प्रतिग्रहसेभी वह ब्राह्मण जैसा चोर है तैसाही है अर्थात् उसे चोरकेसमान दंड देना योग्य है ॥ ३४० ॥

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके। आददानः परक्षेत्रा-
न्न दण्डं दातुमर्हति ॥३४१॥ असंधितानां संधाता संधितानां
च मोक्षकः। दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम् ॥३४२॥

अर्थ–द्विजाति जो यदि मार्गमें चलाजाता हो और पासमें भोजन न हो तो

दूसरेके खेतमेंसे दोऊंषके गंडे या दो मूली लेता हुआ दंड देनेंको नहीं योग्य है ॥ ३४१ ॥ जो दूसरे मनुष्यके नहीं बंधे हुये अश्व आदिक पशुओंको अभिमान-से आप बांध लेते है या दूसरेके बंधे हुये पशुओंको खोल देता है और दास घोडा रथ इनको जो हरलेता है उसे चोरकी तुल्य दंड देना योग्य है और वह बडे छोटे अपराधके अनुसार मारणा अंग छेदन करना धन आदि हरलेना इत्यादिक दंड देनेके योग्य है ॥ ३४२ ॥

अनेन विधिना राजा कुर्वाणः स्तेननिग्रहम् । यशोऽस्मिन्प्राप्नुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥३४३॥ ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् । नोपेक्षेतक्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ३४४

अर्थ—इस विधिसे राजा चोरोंको दंड करता हुआ इस लोकमें यशको प्राप्त होवेगा और परलोकमें जाके उत्तम सुखको भोगेगा ॥ ३४३ ॥ संपूर्ण राजाओं-का इंद्र होनेकी इच्छा करनेंवाला और कभी जिस यशका नाश न होवे ऐसा अव्यय यशकी इच्छा करनेंवाला राजा जो मनुष्य बलसे दूसरेके घरको दग्ध कर दे या दूसरेके धनको बलसे लेवे ऐसे साहसकारी मनुष्यको क्षणभी न देख सके ॥ ३४४ ॥

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः । साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥३४५॥ साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः । स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य सदा खोटी वाणी बोलता है और चोर होता है जो दंडसे प्राणियोंको मारता है इन सबसे साहसको करनेंवाला मनुष्य अधिक पापी जानना ॥३४५॥ जो राजा साहसकरनेंवाले मनुष्यके अर्थ क्षमा करता है वह शीघ्रही नाशको प्राप्त होता है और राज्यके वशनेंवाले मनुष्योंसे वैरको प्राप्त होता है ॥३४६॥

न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् । समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥ शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते । द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ३४८

अर्थ—जो साहसकेकरनेंवाले मनुष्य संपूर्ण प्राणियोंको भय देते है उन मनुष्यों-के मीठे मित्रताके वचनोंसे या बहुत धनके लांच देनेसे उनको कभी न छोडे निश्चय दंड देवे ॥ ३४७ ॥ जहां धर्म नष्ट होता हो वहां द्विजातिको शस्त्र ग्रहण क-

करना योग्य है और जिससमय आपत्कालके योगसे अपना धर्म नहीं किया जाता है वे उस समयभी शस्त्रोंको धारण करे ॥ ४४८ ॥

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे । स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥३४९॥ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥३५०॥

अर्थ–तथा अपनीं रक्षाकेवास्ते तथा राज्यके अभावमें स्त्री पुरुष सब आपसमें युद्धकरनें लग जावे उस समय वा स्त्री ब्राह्मण गौ इनकी रक्षाकेवास्ते द्विजाति पुरुष जो यदि शस्त्र धारणकरके किसीको मारता है उसको कुछ दोष नहीं है और राजा उसको दंडभी न देवे ॥ ३४९ ॥ गुरु बालक वृद्ध वेदपाठी बहुश्रुत ब्राह्मण इनको मारनेंकेवास्ते आवते हुए पुरुषको विना विचार कियेहुए मार देवे ॥ ३५० ॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥ परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः । उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

अर्थ–आततायी अर्थात् सब जनोंके सन्मुख अथवा एकांतमें किसीके वधको जो किया चाहता है उसके मारनेंमें कछुभी दोष नहीं है क्योंकि मारनेंवालेका क्रोधाभिमानी देवता तिस हनन होनेंवालेके क्रोधको प्राप्त हो जाता है ॥ ३५१ ॥ पराई स्त्रियोंके संग मैथुनकरनेंमें प्रवृत्त हुए मनुष्योंको राजा उद्वेजन करानेंवाला अर्थात् होठ नाक कान आदि काटनेंका दंड देवे फिर अपने देशसे निकला देवे ॥

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः । येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥३५३॥ परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन् रहः । पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वसाहसम् ॥ ३५४ ॥

अर्थ–परस्त्रीके संग मैथुनकरनेंसे वर्ण संकर पुत्र उत्पन्न होता है और तिस वर्णसंकरसे धर्मका मूल छेदन हो जाता है वह मूलसे छेदन हुआ धर्म जगत्के नाश केवास्ते कहा है ॥ ३५३ ॥ कोई पुरुष पराई स्त्रीके साथ एकांतमें अयोग्य वचन बोलता हुआ तथा पहलेके उत्पन्न हुए दोष अथवा अपवादोकों स्त्रीसे प्राप्त हुआ जो हो वह पुरुष पूर्वसाहस दंडको प्राप्त होनेंको योग्य है ॥ ६५४ ॥

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् । न दोषं प्राप्नुयात्कि-

श्चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥३५५॥ परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽर-
ण्ये वनेऽपि वा। नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात् ॥३५६॥

अर्थ-जो पुरुष पहले तिस स्त्रीके प्रार्थना अभिशाप आदि दोषोंको नहीं प्राप्त है वह जो उसके साथ किसी कारणसे सब मनुष्योंके सामनें बतलावे तो कुछभी दंडको प्राप्त नहीं होगा और उसका कुछभी दोष नहीं है ॥ ३५५ ॥ जो पुरुष जल भरनेंके मार्गमें निर्जन देशमें अथवा वृक्ष लता आदिसे युक्त वनमें तथा नदियोंके संगमें किसीकी स्त्रीके साथ बतलाता है और पहले उससे कुछ दोष-कोभी प्राप्त नहीं है तोभी वह संग्रहण अर्थात् हजार पण दंड प्राप्त होनेको योग्य है ॥ ३५६ ॥

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम् । सह खट्वासनं चैव
सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥३५७॥ स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्ष-
येत्तया । परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥ ३५८ ॥

अर्थ-माला गंध चंदन आदिसे परस्त्रीका उपचार करना तिसके साथ क्रीडा करनी वा उसके वस्त्र आभूषणोंका स्पर्श कर शय्या आसनपे उस स्त्रीके साथ बैठना यह सब संग्रहण कहाता है अर्थात् इसमें पूर्वोक्त दंड देवै ॥ ३५७ ॥ जो पुरुष स्त्रीकों एकांत जगहमें कुच आदिकी जगह पकडे अथवा जो उस स्त्रीसे स्पर्श किया हुआ पुरुष आप सह जावे तहां आपसमें अंगीकार मिलाप होनेंमें संपूर्ण संग्रहण कहा है ॥ ३५८ ॥

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति । चतुर्णामपि वर्णाना
दारा रक्ष्यतमाः सदा ॥३५९॥ भिक्षुका बन्दिनश्चैव दीक्षिताः
कारवस्तथा । संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

अर्थ-शूद्र जो विना इच्छावाली ब्राह्मण आदिसे संग्रहण करता होवे तो वह प्राणों-समेत मारनेंके दंडको योग्य है और चारोंवर्णोंको धन पुत्र आदिकोंसे अपनी स्त्रियोंकी सदा अत्यंत रक्षा करनी चाहिये ॥ ३५९ ॥ भिक्षा मांगनेंवाले भिक्षुक स्तुति करनेंवाले बंदीजन यज्ञार्थ दीक्षित पुरुष सूपकार आदि जन ये सब पुरुष पराई स्त्रियोंके साथ अपनें मतलबकेवास्ते प्रीतिरहित होके बतलावे ॥३६०॥

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत् । निषिद्धो भाषमा-
णस्तु सुवर्णं दण्डमर्हति ॥३६१॥ नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मो-

पजोविषु । सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥

अर्थ–स्वामीसे वर्जा हुआ पुरुष स्त्रियोंके साथ संभाषण न करे और उसके पतिसे वर्जा हुआभी जो उस स्त्रीके साथ बतलावे तो वह सोलहमासे सुवर्णके दंड देनेंको योग्य है ॥ ३६१ ॥ पराई स्त्रीके साथ नहीं बतलावे यह निषेध विधि नट आदि जातियोंकी स्त्रियोंका नहीं है और जो स्त्रीसेही आजीविका करते है उनकी स्त्रियोंका निषेध नहीं क्योंकि वे नट गायक आदि अन्य पुरुषोंको बुलाके अपनी स्त्रियोंके साथ एकांतमें रमण करवाते है ॥ ३६२ ॥

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन् । प्रैष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥ योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति । सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥

अर्थ–तिन नट आदिकोंकी स्त्रियोंके साथ एकांत वन आदिमें बतलाता हुआ पुरुषको राजा थोडासा दंड देवे और नियमसे रहित हुई दासियोंके साथ तथा ब्रह्मचारिणी स्त्रियोंके साथभी एकांतमें बतलातेहुए पुरुषको थोडासा दंड देवे ॥ ३६३ ॥ जो विना इच्छाकरनेंवाली कन्याके संग जबर्दस्तीसे मैथुन करता है वह ब्राह्मणसे अन्य होवे तो मरवादेना चाहिये और जो सजीव पुरुष इच्छावाली कन्याके संग मैथुन करता हुआ पुरुष वधकरनेंके योग्य नहीं है ॥ ३६४

कन्यां भजंतीमुत्कृष्टं न किञ्चिदपि दापयेत् । जघन्यं सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे ॥ ३६५ ॥ उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति । शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ॥ ३६६ ॥

अर्थ–उत्तम जातिके पुरुषको प्राप्त होती हुई कन्याको कछुभी दंड न देवे और नीच जातिके पुरुषको सेवती हुई कन्याको यतन करके बंद कर देवे ॥ ३६५ उत्तम कन्याके संग रमण करता हुआ नीच पुरुष मारण आदि वध करनेके योग्य है और समान जातिकी कन्याके संग मैथुन करता हुआ पुरुष जो यदि उस कन्याका पिता मानें तो उसको शुल्करूपी द्रव्य दे देवै फिर कछु दंडदेनेंको योग्य नहीं है और वह कन्या उसीको विवाह देनी चाहिये ॥ ३६६ ॥

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः । तस्याशु कर्त्ये अंगुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम् ॥ ३६७ ॥ सकामां दूषयंस्तुल्यो नांगुलिच्छेदमाप्नुयात् । द्विशतं तु दमं दाप्यः प्रसंगविनिवृत्तये ॥ ३६८ ॥

अर्थ-जो पुरुष हठकरके अभिमानसे कन्याकी योनिमें अंगुलि प्रक्षेप करके दूषितकर देवे उसकी दोनों अंगुली कटवा देवै और छहसौ ६०० पण दंड देवे ॥ ३६७ ॥ और इच्छावाली कन्याको अंगुलिसे दूषित करता हुआ पुरुष अंगुली कटवानेंके दंड देनेंको योग्य नहीं है किंतु उसकी अत्यंत संग होनेंकी निवृत्तिकेवास्ते दोसौ २०० पण दंड देवे ॥ ३६८ ॥

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्विशतो दमः । शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥३७९ ॥ या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति । अंगुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ३७०

अर्थ-जो कन्याही दूसरी कन्याको अंगुलीसे दूषित करदेवे तो उसको दोसौपण दंड देवे और उसके पिताके पिताको शुल्कका दुगुना मूल्य कसूरवाली कन्यासे दिवावे और दशवेत लगवाना चाहिये ॥ ३६९ ॥ जो स्त्री कन्याको अंगुली प्रक्षेपसे दूषित करती है तिस स्त्रीको मुंडमुंडाके उसी समय गधापर चढाके मार्गमें निकासे अथवा उसकी अंगुलियोंकोही कटवा देवै ॥ ३७० ॥

भर्तारं लंघयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता । तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३७१ ॥ पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे । अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ ३७२ ॥

अर्थ-जो स्त्री अपनें पिता बंधु भाई आदिकोंके गुणके गर्वसे अपनें पतिके कहनेंमें नहीं रहती है उसको राजा बहुतसे मनुष्योंके सामनें कुत्तोंको लगाके खवावे ॥ ३७१ ॥ पहले कहेहुए पापकारी जारपुरुषको तप्त लोहेकी शय्यामें सुवाके दग्ध करै और जलनेंके समय तहां उसके ऊपर इतना काष्ठ गिरवा देवै कि जिस्से वह पाप करनेंवाला पुरुष भस्म होजावे ॥ ३७२ ॥

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः । व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥ शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन् । अगुप्तमङ्गसर्वस्वैर्गुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

अर्थ-वर्ष दिनसे खराब होता हुआ वा परस्त्रीकेसंग रमण करनेंसे दूषित हुआ पुरुषको पहले कहे हुयोंसे दुगुना दंड देवै और व्रात्य जातिकी स्त्रीकेसंग गमन करनेंवाला वा चांडालीकेसंग गमन करनेंवाला पुरुष जो वर्ष दिन व्यतीत हुयेंतक खराब होवे तो उनकोभी पूर्वोक्त दंडसे दुगुना दंड देवे ॥ ३७३ ॥ शूद्र

जो यदि भर्त्तादिकोंसे रक्षितकी हुई वा विना रक्षितकी हुई स्त्रीके संग गमन करे तो विना रक्षितकी हुईके संग गमन करनेंमें लिंग कटवा देवे और संपूर्ण धन हर लेवे और रक्षितकी हुईके संग गमन करनेंमें राजा उसके सर्वस्व धनको हर लेवे ॥

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः । सहस्रं क्षत्रियो दण्ड्यो मौण्ड्यं मूत्रेण चार्हति ॥ ३७५ ॥ ब्राह्मणीं यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ । वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥३७६॥

अर्थ–वैश्य जो ब्राह्मणीके संग वर्षदिनसे अधिक समयतक मैथुन करे तो उसका सर्वस्व धन हर लेवे और क्षत्रियको हजार पणोंका दंड देवे और गधाके मूत्रसे इस क्षत्रियका मुंडन करवा देवै ॥ ३७५ ॥ विना रक्षितकी हुई ब्राह्मणीके संग जो वैश्य क्षत्रिय मैथुन करते है उनमें वैश्यको पानसौ ५०० पणोंका दंड देवै और क्षत्रियको हजार पण दंड देवै ॥ ३७६ ॥

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह । विप्लुतौ शूद्रवद्दण्ड्यौ दग्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ३७७ ॥ सहस्रं ब्राह्मणो दण्ड्यो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन् । शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥

अर्थ–पति आदिकोंसे रक्षितकी हुई ब्राह्मणीके संग गमन करनेंवाले वैश्य क्षत्रिय इन दोनोंकोही शूद्रकी तरह सर्वस्व धनके हरनेंका दंड देवै अथवा इनके कंठको बांधके दग्धकर देवे ॥ ३७७ ॥ रक्षितकी हुई ब्राह्मणीके संग बलसे मैथुन करनेंवाला ब्राह्मण हजार पण दंड देनेंके योग्य है और इच्छा करती हुईके संग एकवार मैथुन करनेंवालाको पानसौपण दंड देवै ॥ ३७८ ॥

मौण्ड्यं प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते । इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ ३७९ ॥ न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् । राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥

अर्थ–ब्राह्मणके शिरका मुंडन करवा देना यही शास्त्रमें उसका प्राणांत दंड कहाहै और क्षत्रिय आदि अन्य वर्णोंका दोष होनेंमें उनके प्राणोंका वध करवाना वा दोषके अनुसार अंग कटवाना आदि दंड कहा है ॥ ३७९ ॥ संपूर्ण पापोंमें स्थित हुएभी ब्राह्मणको कभी नहीं मारे किंतु संपूर्ण धनसे युक्त और शरीरकी ताडनासे रहित हुए इस ब्राह्मणको अपनें देशसे निकलवा देवै ॥ ३८० ॥

न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि । तस्मादस्य वधं राजा म-

नसापि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥ वैश्यश्चेत्क्षत्रिया गुप्ता वैश्या वा क्षत्रियो व्रजेत् । यो ब्राह्मण्यामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥३८२॥

अर्थ—ब्राह्मणके वधसे अधिक पाप पृथ्वीमे कोई नहीं है इसवास्ते इस ब्राह्मणके वधको राजा मनसेभी चिंतवन नहीं करे ॥ ३८१ ॥ वैश्य जो रक्षितकी हुई क्षत्रियाके संग गमन करे और क्षत्रिय वैश्यकी स्त्रीके संग गमन करे तौ जो विना रक्षितकी हुई ब्राह्मणीके संग गमन करनेंमें इनको दंड देना कहा है वही दंड देवै ॥ ३८२ ॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्यो गुप्ते तु ते व्रजन् । शूद्रायां क्षत्रियविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः ॥ ३८३ ॥ क्षत्रियायामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः । मूत्रेण मौण्ड्यमिच्छेत्तु क्षत्रियो दण्डमेव वा ॥ ३८४ ॥

अर्थ—रक्षितकी हुई वैश्यकी स्त्री तथा क्षत्रियकी स्त्रीके संग मैथुन करनेंवाला ब्राह्मण हजार पण दंड देनेंको योग्य है और क्षत्रिया तथा वैश्याके संग गमन करनेंवाले शूद्रोंकोंभी हजार पण दंड देवै ॥ ३८३ ॥ विना रक्षितकीहुई क्षत्रियामें गमनकरनेंवाला वैश्य पाँचसौपण दंड देनेंको योग्य है और क्षत्रिय जो अरक्षित कीहुई तिसके साथ गमन करे तो उसका गधाके मूत्रसे मुंडन करवा देवै अथवा पाँचसौपण दंड देवे ॥ ३८४ ॥

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन् । शतानि पञ्च दण्ड्यः स्यात्सहस्रं त्वन्त्यजस्त्रियम् ॥३८५॥ यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् । न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ ३८६ ॥

अर्थ—विना रक्षा की हुई क्षत्रियाके संग वा वैश्याके संग तथा शूद्रकी स्त्रीके संग गमन करता हुआ ब्राह्मणको पाँचसौपण दंड देवै और चांडालीके संग गमन करता हुआको हजारपण दंड देवै ॥ ३८५ ॥ जिसके पुरमें चोर नहीं है और परस्त्रीसे गमन करनेंवाला कोई चोर नहीं है और कठोर वचन बोलनेंवाला तथा घर जलानें आदि साहसकर्मको करनेंवाला वा दंड देनेंवाला कोई पुरुष नहीं है वह राजा इंद्रके लोकमें जाता है ॥ ३८६ ॥

एतेषां निग्रहो राज्ञः पञ्चानां विषये स्वके । साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३८७ ॥ ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं

चर्त्विक्त्यजेद्यदि । शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दण्डः शतं शतम् ॥ ३८८ ॥

अर्थ—चोर आदि इन पांचोंको अपनें राज्यमें निग्रह करता हुआ अर्थात् रोकता हुआ राजा अपनें सजातीय राजाओंके मध्यमें उत्तम राज्यकरनेंवाला कहाता है और संसारमें यशकरनेंवाला होता है ॥ ३८७ ॥ जो याज्य अर्थात् यज्ञकरनेंवाला यजमान महापातक आदि रहित अपनें कर्मके अनुष्ठानमें युक्त ऐसे ऋत्विक् ब्राह्मणको त्यागता है अथवा वह ऋत्विक ब्राह्मण उस यथोक्त यजमानको त्यागता है तो उन दोनोंको राजा सौ सौपण १०० दंड देवै ॥ ३८८ ॥

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति । त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ ३८९ ॥ आश्रमेषु द्विजातीनां कार्ये विवदतां मिथः । न विब्रूयान्नृपो धर्मं चिकीर्षन् हितमात्मनः ॥ ३९० ॥

अर्थ—माता पिता स्त्री पुत्र ये सब पोषणपालन आदिसे त्यागनेंको योग्य नहीं है और जो इनको विना दोष त्यागता है उसको राजा छह सौपण दंड देवै ॥ ३८९ ॥ गृहस्थ आदि आश्रमोंके अपनें जातिके विषयमें विवाद करते हुए द्विजातियोंके धर्मको अपनें हितकी इच्छा करनेंवाला राजा नहीं कहै ॥ ३९० ॥

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः । सांत्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ३९१ ॥ प्रातिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे । अर्हाविभोजयन्विप्रो दण्डमर्हति माषकम् ॥ ३९२ ॥

अर्थ—जो जैसी पूजा करनेंके योग्य है उसको तैसेही पूजके फिर राजा अन्य ब्राह्मणोंकरके पहले उनके क्रोधको शांत कर फिर इनका जो धर्म है उसको बोध करवावै ॥ ३९१ ॥ प्रातिवेश्य वह कहाता है जो हमेशैं घरमें रहाता हो और अनुवेश्य वह कहाता है जो उस मालिकके साथ घरमें आता है इन दोनों ब्राह्मणोंको जो अन्य वीस २० ब्राह्मणोंको भोजन करवावे तबभी भोजन नहीं करवाता है वह योग्य ब्राह्मणोंको नहीं जिमानेवाला विप्र चांदीके माषक, दंड देनेंको योग्य है ॥ ३९२ ॥

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधुं भूतिकृत्येष्वभोजयन् । तदन्नं द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम् ॥ ३९३ ॥ अन्धो जडः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः । श्रोत्रियेषूपकुर्वंश्च न दाप्याः केनचित्करम् ॥ ३९४ ॥

अर्थ—विद्यावान् श्रोत्रिय ब्राह्मण जो यदि अपनें समान श्रोत्रिय ब्राह्मणको वि-

वाह आदि यज्ञ आदि उत्सवोंमें भोजन नहीं करवाता है वह विप्र उस श्रोत्रिय-केवास्ते भोजन करनें लायकसे दुगुना अन्न देवै और सुवर्णमाषक दंड राजाको देवै ॥ ३९३ ॥ अंधा बहिरा पांगला सत्तर वर्षसे अधिक वृद्ध ये पुरुष और श्रोत्रिय विद्वान्‌की सेवा करनेंसे आजीविका करनेंवाले पुरुष इनसे क्षीण धन हुआभी राजा कभी करको नहीं लेवे ॥ ३९४ ॥

श्रोत्रियं व्याधितार्तौ च बालवृद्धावकिञ्चनम् । महाकुलीनमार्यं च राजा संपूजयेत्सदा ॥ ३९५ ॥ शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे नैनिज्यान्नेजकः शनैः । न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत् ॥ ३९६ ॥

अर्थ-विद्या आचारवाला श्रोत्रिय ब्राह्मण रोगी पुत्रवियोगआदिसे दुःखित बालक वृद्ध दरिद्री बडे कुलमें उत्पन्न हुआ उत्तम चरित्रवाला ऐसे पुरुषोंको राजा दान मान आदिकोंसे सदा पूजै ॥ ३९५ ॥ शालवन वृक्षके कोमल लक्कडमे शनै शनै धोवी वस्त्रोंको धोवे और अन्य किसीके वस्त्रोंपर रखके वस्त्रोंको न धोवे और एक किसीके वस्त्रोंको दूसरेको पहिननेंके वास्ते न देवै और जो यदि ऐसेही करे तो वह धोबी दंड देनेंको योग्य है ॥ ३९६ ॥

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम् ॥ अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम् ॥ ३९७ ॥ शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः । कुर्युरर्घं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत ॥ ३९८ ॥

अर्थ-सूत विननेंवाला जुलाहा दशपल अर्थात् आधसेरके अनुमान सूत लेजाके उसके विननेमें माडमिलाके ग्यारह पल करले आवे अथवा ज्यादै सूत रखके उससेभी कमकर देवे तो राजा उसको बारह पण दंड देवै और वह जुलाहा सूतके मालिकको प्रसन्न करे ॥ ३९७ ॥ संपूर्ण राजाके महसूलोंको जाननेंवाले तथा संपूर्ण वेचनेंकी चीजोंको जाननेवाले चतुर जन जिस चीजको बेचके मोल उठाता है उसके फाइदेके वींसवां भागको राजा ग्रहण करे ॥ ३९८ ॥

राज्ञः प्रख्यातभाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च । तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः ॥३९९॥ शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी । मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम् ॥ ४०० ॥

अर्थ-राजाके संबंधकरके जितनें वेचनेंके द्रव्य है हस्ती घोडे आदि जो राजाके उपयोगी है और निषेधकी हुई जो चीज है जैसे दुर्भिक्षमें अन्य देशमें अन्न मत ले-

जावो ऐसे सब द्रव्योंको अन्य देशमें लोभसे लेजाते हुए वैश्यका राजा सर्वस्व धन हर लेवे ॥ ३९९ ॥ शुल्क अर्थात् जो वैश्य महसूल नहीं देनेंके लियें चोरीसे अन्यमार्ग करकरके जाता है अथवा जो रात्रिकेआदि अकालमें वेचता खरीदता है और महसूल देनेकेवास्ते बेचनेंके द्रव्यकी थोडीसंख्या वतलाता है इन चोरी करनेंवालोंको राजा उस मांमूली महसूलसे आठ गुना महसूल लेवे ॥ ४०० ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ । विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१ ॥ पञ्चरात्रे पञ्चरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते । कुर्वीत चैषा प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ४०२ ॥

अर्थ–यह कितनी दूरसे आयाहै और कितनी दूर जाता है कितनें दिनका रक्खा हुआ इसमें क्या नफा नुकसान है ऐसे सब विक्रिय वस्तुओंको विचारके उनका वेचना खरीदना करे किस्से बेचनें खरीदनेंवालोंको पीडा न होवे ॥ ४०१ ॥ पांचवे पांचवे दिन अथवा पंदरहवें पंदरहवें दिन राजा मूल्यको जाननेंवाले वैश्योंके आगे विक्रियकी चीजोंके मूल्यको स्थापित करवाता रहे अर्थात् एक मूल्यको कायम करवाता रहै ॥ ४०२ ॥

तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् । षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ४०३ ॥ पणं यानं तरे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे । पादं पशुश्च योषिच्च पादार्धं रिक्तकः पुमान् ॥ ४०४ ॥

अर्थ–तुलामान अर्थात् सुवर्ण आदि तोलनेके कांटोंको और सब प्रकारके वाटोंको राजा अच्छे प्रकारसे छठे छठे महींनेंके प्रति देखता रहे चतुर पुरुषोंसे उनकी परीक्षा करवा लेवे ॥ ४०३ ॥ खालीगाडी आदिको पुलके ऊपरकै उतारके लेजानेमें राजा एकपण शुल्क लेवै और बोझालियें हुए पार उतरनेंवाला पुरुष आधापण महसूल देवै गौ आदि पशु स्त्री इनसे चौथाई पण लेवे खाली पुरुषके पार जानेंमें पणका आठवां हिस्सा शुल्क लेवे ॥ ४०४ ॥

भाण्डपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः । रिक्तभाण्डानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः ॥ ४०५ ॥ दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् । नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥

अर्थ–वरतनोंसे भरी हुई गाडीको पार उतारनेमें उस मालकी कीमतके अनुसार किरावालेवे और खालीवरतन तथा कंबल आदिकोंको लियें पार उतरनें-

वाले पुरुषोंसे थोडा महसूल लेवे और जो दरिद्री होवे उक्त महसूलको न देसकें उनसे कछु थोडासा महसूल लेवे ॥ ४०५ ॥ यह पार उतरनेंका क्रम नदीके तीरपै कहा है और जो दूरतक नावमें बैठके गमन किया जावे तहां वर्षाआदि कालके अनुसार किरावा लेवे यह क्रमभी नदीके तीरपे है, जहाज आदिमें बैठके समुद्रके पार उतरनेंमें जैसा उचित हो वैसा किरावा लेवे ॥ ४०६ ॥

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः । ब्राह्मणा लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे ॥ ४०७ ॥ यन्नावि किञ्चिद्दासानां विशीर्येतापराधतः । तद्दासैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोंऽशतः ॥ ४०८ ॥

अर्थ-दोमहीनोंके गर्भसे आदि ले गर्भिणी स्त्री संन्यासी मुनि ब्रह्मचारी ब्राह्मण ये सब नदीके पार उतरनेंमें किरावा न देवै ॥ ४०७ ॥ नौकामें बैठनेंवाले मनुष्योंका जो कुछ मलाहके अपराधसे द्रव्य नष्ट हो जावे उस द्रव्यको संपूर्ण मलाह मिलके अपने अपने हिस्सेसे इकट्ठा करके देवे ॥ ४०८ ॥

एष नैयायिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः । दासापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः ॥ ४०९ ॥ वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च । पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम् ॥ ४१० ॥

अर्थ-यह नौकामें चलनेंवाले मनुष्योंके व्यवहारका निर्णय कहा है जो मलाहके अपराधसे जलमें डूबजावे द्रव्य उसका दंड लेना और दैवकी मरजीसे वायु आदिके हलानेसे नौकाके टूटनेसे नष्ट हुआ धनके अर्थ मलाहोंको दंड नहीं देना चाहिये ॥ ४०९ ॥ वणज खेती पशुओंकी रक्षा इन कर्मोंको राजा वैश्योसे करावे और द्विजातियोंका दासकर्म शूद्रसे करावे और इनकर्मोंको दोनों न करे तो राजा दोनोंको दंड देवे ॥ ४१० ॥

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकर्शितौ बिभृयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन् ॥ ४११ ॥ दास्यं तु कारयँल्लोभाद्ब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान् । अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥

अर्थ-आजीविकाके विना दुःखित हुए क्षत्रियको तथा वैश्यको ब्राह्मण कुटिलतासे रहित होके पोषण करे और अपनें घरके कर्म करवाता रहै ॥ ४११ ॥ संस्कार किये हुए द्विजोंको जो ब्राह्मण लोभकरके दास बना लेता है और धन आदिके ऐश्वर्य गर्वसे उनसे पैर दववानें आदि टहैल करवाता है उसको राजा छहसौपण दंड देवै ॥ ४१२ ॥

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा । दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥ ४१३ ॥ न स्वामिना विसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते । निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ४१४॥

अर्थ–मोलसे खरीदा हुआ अथवा विना खरीदा हुआ शूद्रको दास टहैलवा बनावै क्योंकि ब्रह्माजीनें शूद्र ब्राह्मणका दासही रचा है ॥ ४१३ ॥ स्वामी ब्राह्मणसे त्यागा हुआभी शूद्र दासपनेंसे दूर नहीं होता है क्योंकि शूद्रकै दासपना तो स्वभावसेही है इसवास्ते तिस दासपनेंसे उसको कौन हटा सक्ता है ॥१४४॥

ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमौ । पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥ ४१५ ॥ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः । यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥४१६॥

अर्थ- युद्धकरनेंमें जीता हुआ और भोजन आदिकेवास्ते आया हुआ दासीका पुत्र मूल्यसे खरीदा हुआ अन्य किसीसे दिया हुआ पिताआदिके क्रमसे सदासे दास होता हुआ दंड आदि धनकी शुद्धिकेवास्ते दास हुआ ये सात ७ प्रकारके दास है ॥ ४१५ ॥ स्त्री पुत्र दास ये तीनों मन्वादिकोनें निर्धन कहे है क्योंकि ये तीनों जो धनको इकट्ठा करते हैं तो वह धन जिसके वे दास आदि है उसीका है ॥ ४१६ ॥

विस्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्द्रव्योपादानमाचरेत्। नहि तस्यास्ति किञ्चित्स्वं भर्तृहार्यधनो हि सः॥ ४१७॥ वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् । तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥

अर्थ–ब्राह्मण जो शूद्रदाससे धन ग्रहण करता है यह वार्त्ता संभव नहीं है क्योंकि उस दासपे कुछभी धन नहीं है वह तो उस अपनें भर्त्तासेही धनको ग्रहण करता है ॥ ४१७ ॥ वैश्य पासे खेती आदिकर्म और शूद्रसे सेवा आदिकर्म राजा करवाता रहै क्योंकि अपनें कर्मसे भ्रष्ट हुए वे दोनों इस जगत्को व्याकुल कर देते है ॥ ४१८ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च । आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥ ४१९ ॥ एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन् । व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥

अर्थ– राजा दिनदिनप्रति दृष्ट अदृष्ट कर्मोंको और हस्ति अश्व आदि वाहनोंको और लाभ खर्च सुवर्ण रत्न आदिकोंकि खधान इन सबको देखता रहै ॥ ४१९ ॥ इस प्रकारसे इन सब व्यवहारोंको समाप्त करनेंवाला राजा संपूर्ण पापोंको दूरकरके परम उत्तम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४२० ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायांसंहितायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः।

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्म्ये वर्त्मनि तिष्ठतोः। संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥ अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्। विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥

अर्थ–धर्ममार्गमें रहनेवाले स्त्रीपुरुषोंके संयोगमें अर्थात् स्त्रीपुरुषोंके साथ रहनेंके और अलग अलग रहनेंके सनातन धर्मोंको हम कहते है ॥ १ ॥ अपनें पति आदिकोंकरके स्त्रियें सदा आधीन रहनी चाहिये और जो स्त्रियें रूप रस आदिकमें आसक्त हों उनकोभी उनके पति वगैरै अपने वशमें रक्खे ॥ २ ॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥ कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः। मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

अर्थ–बालकअवस्थामें स्त्रियोंकी रक्षा पिता करता है और जवान अवस्थामे भर्त्ता रक्षा करता है बुढापेमे स्त्रियोंकी रक्षा पुत्रआदिक करते है परंतु स्त्रियोंको अपनें आधीन रहना कभीभी योग्य नहीं है ॥ ३ ॥ स्त्रीको ऋतुकाल होनेंसे पहले जो उसका पिता दान नहीं देता अर्थात् विवाह नहीं करता है तो वह निंदित होता है और विवाह होनेंपीछे उसका पति जो ऋतुकालमें उसको ग्रहण नहीं करता है तो वह निंदित है पतिमरे पीछे जो पुत्र रक्षा नहीं करै तो वह निंदित है ॥ ४ ॥

सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः। द्वयोर्हि कुलयोः

शोकमावहेयुररक्षिताः ॥५॥ इमंहि सर्ववर्णाना पश्यन्तो धर्ममुत्तमम् । यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि ॥६॥

अर्थ–थोडेसेभी दुस्संगोंसे स्त्रियोंकी रक्षा विशेषकरिके करै क्योंकि विना रक्षित की हुई स्त्रियें पिताके और पतिके दोनों कुलोंको संताप देती है ॥ ५ ॥ यह जो सब वर्णोंका स्त्री रक्षण उत्तम धर्म कहा जाता है इसको जाननेवाले दुर्बल पुरुषभी अपनी स्त्रीकी रक्षा करनेका यतन करे ॥ ६ ॥

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च । स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥ ७॥ पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते । जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ ८॥

अर्थ–यतनकरके अपनी स्त्रीकी रक्षा करता हुआ पुरुष अपनी उत्पत्ति श्रेष्ठ व्यवहार कुल आत्मा अपना धर्म इन सबकी रक्षा करता है ॥ ७ ॥ पति वीर्यरूपकरके अपनी स्त्रीके गर्भमें प्रवेश होके फिर पुत्ररूपकरके तिसमें जन्मता है यही स्त्रीका जायापना है अर्थात् स्त्रीकोजाया कहते है तिस शब्दका यही अर्थ है ॥ ८ ॥

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् । तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥ ९ ॥ न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ॥१०॥

अर्थ–जिस प्रकारके पुरुषको स्त्री सेवन करती है वैसेही पुत्रको जनती है इसलिये संतानकी शुद्धिकेवास्ते यतनकरके स्त्रीकी रक्षा करे ॥ ९ ॥ कोईभी पुरुष स्त्रीको हठकरके नहीं रोकसक्ता है किंतु आगे कहेहुए इन उपायोंकरके स्त्रियोंकी रक्षा करनी योग्य है ॥ १० ॥

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् । शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥ ११ ॥ अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः । आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥ १२ ॥

अर्थ–धनके इकट्ठे करनेंमें और खर्चनेंमें इस स्त्रीको युक्त करे और शौच शुद्धिमें तथा रसोई बनानेंमें वा घरकी सब चीज वस्तुओंके देखनेंमें इसको प्रयुक्त करे ॥ ११ ॥ आज्ञा करनेंवाले पुरुषोंकरके घरमें रोकी हुईभी स्त्रियों रक्षित नहीं

हैं किंतु जो अपनें आपेको आपही समझाती है वे सुंदर प्रकारसे रक्षित हुई है ॥ १२ ॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् । स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥ नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः । सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥

अर्थ—मदिरा आदिका पीना खोटे पुरुषका संग पतिका वियोग जहां तहां भ्रमण बेवक्तमें सोना पराये घरमें वास करना ये छह लक्षण स्त्रीके व्यभिचार आदि दोषसे उत्पन्न होते है ॥ १३ ॥ ये स्त्रियें उत्तम रूपको नहीं देखती हैं और जवानअवस्थाकाभी नियम नहीं है किंतु सुरूप हो अथवा कुरूप हो पुरुषमात्रसे इनका काम है ॥ १४ ॥

पौंश्चल्याचलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः । रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥ एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् । परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणंप्रति ॥ १६ ॥

अर्थ—परपुरुषसे रमण करनेंकी इच्छावाले स्वभावसे वा चंचलतासे स्नेहरहित स्वभाव होनेंसे यतनसे रक्षित की हुईभी स्त्री अपनें पतिमें विकारको करती है ॥ १५ ॥ ब्रह्माजीकी सृष्टिसे सदासे स्त्रियोंका ऐसा पूर्वोक्त स्वभावको जानके इनकी रक्षाकेवास्ते पुरुष परमयतन करे ॥ १६ ॥

शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोधमनार्जवम् । द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥ नास्ति स्त्रीणां क्रिया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः । निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥

अर्थ—शय्या आसन अलंकार काम क्रोध कठोरता द्रोहभाव निंदित आचार ये सब मनुजीनें सृष्टिकी आदिमें स्त्रियोंकेहीवास्ते रचे है इसवास्ते स्त्रियोंकी यतनसे रक्षा करे ॥ १७ ॥ स्त्रियोंकी जातकर्म आदि क्रिया मंत्रोंकरके नहीं है यह धर्मशास्त्रकी मर्यादा है और इनको श्रुति स्मृतियोंका अधिकार नहीं है इसवास्ते धर्मकोभी नहीं जानती है और जिनके जपसे पाप दूर हों ऐसे मंत्रोंसे रहित हैं झूठ बोलनेंके स्वभाववाली है इसवास्ते इनकी यतनसे रक्षा करे ॥ १८ ॥

तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि । स्वालक्षण्यपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥ यन्मे माता प्रलुलुभे विचर-

न्यपतिव्रता । तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तामित्यास्यैतन्निदर्शनम् ॥२०॥

अर्थ—व्यभिचारमें तत्पर रहना यह स्त्रियोंका स्वभाव कहा इस्में बहुत श्रुतियोंके वाक्य व्यभिचारकी परीक्षाके वास्ते पढे है और तिन श्रुतियोंमें जो व्यभिचारका प्रायश्चित्त करनेंवाली श्रुति है तिसको सुनों ॥ १९ ॥ कोई पुत्र माताका मानस व्यभिचारको जानके कहता है कि मन आदिसे परपुरुषको चाहनेंवाली अपतिव्रता मेरी माताका जो परपुरुषके संकल्पसे रज दुष्ट हुआ है तिसको मेरा पिता शोधो यह प्रायश्चित्त दिखाया गया है ॥ २० ॥

ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चित्पाणिग्राहस्य चेतसा । तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥ यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि । तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगा ॥२२॥

अर्थ—स्त्री जो कुछ भर्ताका अप्रिय चिंतवन करती है और मनकरके परपुरुषका चिंतवन करती है उसके मानस व्यभिचारका यह प्रकृत मंत्र शोधनेंकेवास्ते मन्वादिकोंने कहा है यह प्रायश्चित्तमंत्र पुत्रकेवास्ते कहा है ॥ २१ ॥ जैसे गुणवाले पतिकेसंग स्त्री विवाहविधिसे युक्त की जाती है तैसेही गुणवाली होती है जैसे समुद्रकेसाथ नदी अर्थात् मीठी नदीमें जाके क्षारजलवाली होजाती है ॥२२॥

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा । शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥ एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः । उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ २४ ॥

अर्थ—अक्षमाला नामवाली स्त्री निकृष्ट योनिमें हुई वसिष्ठकरके संयुक्त पूज्यताको प्राप्त भयी और चटका स्त्री मंदपाल ऋषिकेसंग विवाह होनेंसे उत्तमभावको प्राप्त होती भई ॥२३ ॥ ये और सत्यभामा आदि अन्य स्त्रियें अधम कुलमेंभी उत्पन्न हुई अपनें भर्ताओंके उत्तम गुणोंकरके ऊंचे पदको प्राप्त होतीभई ॥ २४ ॥

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा । प्रेत्येह च सुखोदर्कान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥ प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः । स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

अर्थ—यह लोकाचार स्त्रीपुरुषसंबंधी सदा शुभ कहा है अब इस लोकमें और परलोकमें जिसका उत्तरकालमें सुखदायी फल हो ऐसे संतानके धर्मोंको सुनों २५ ये स्त्रियें बडा उपकारवाली और गर्भधारणकेवास्ते बहुत कल्याणके पात्ररूप है

वस्त्र अलंकार आदिकोंसे पूजनके योग्य है अपने घरोंमें शोभा करनेंवाली हैं और स्त्री श्री अर्थात् लक्ष्मी ये दोनों घरोंमें समान है अर्थात् स्त्री लक्ष्मीरूप है २६

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् । प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥ अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा । दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

अर्थ-पुत्रका जनना और जनेंहुएकी पालना करनी और दिनदिनप्रति मित्र अतिथि अभ्यागत इनके भोजन आदि लोकाचारका कारण प्रत्यक्ष स्त्रीही है ॥ २७ ॥ संतान उत्पन्न करनी अग्निहोत्र आदि धर्मकार्य शुश्रूषा अर्थात् टहैल करनी उत्तम रमण पितरोंका और अपना स्वर्ग ये सब स्त्रीके आधीन है २८

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता । सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥२९॥ व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् । सृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥

अर्थ-जो स्त्री मन वाणी देह इनकरके संपत्तिको प्राप्त हुईभी परपुरुषकेसंग व्यभिचारको नहीं करती वह भर्ताके लोकको प्राप्त होती है और श्रेष्ठ लोगोंसे साध्वी ऐसी कही जाती है ॥ २९ ॥ स्त्री अन्य पुरुषकेसंग संपर्क करनेंसे मनुष्योंमे निंदाको प्राप्त होती है और सियारीकी योनिको प्राप्त होती है तथा पापरोगोंसे पीडित होती है (ये दो श्लोक पांचवें अध्यायमें कहभी दियेथे परंतु यहां संतानप्रयोजनके अवसरके बलसे फिर कहे है ॥ ३० ॥

पुत्रंप्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महार्षिभिः । विश्वजन्यमिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥३१॥ भर्तुः पुत्रं विजानंति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि। आहुरुत्पादकं केचिदपरे क्षेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

अर्थ-पहले होनेंवाले मुनिजनोंकरके और मन्वादिकोंकरके पुत्रके उद्देश लेके कहा हुआ जो यह इस जगत्का हितदायक पुण्य कहाजावेगा इसके विचारको तुम सुनो ॥३१॥ भर्त्ताका पुत्र होता है यहां भर्त्ताके विषयमें दो प्रकारकी श्रुति है कईकतो विना विवाहेसे पुत्र उत्पन्न होनेंवालेकोभी भर्त्ता कहते है और कईक विवाहे हुए पतिकोही अन्यके सकाशसे पुत्र होनेंमेंभी पुत्रवाला भर्त्ता कहते है ३२

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् । क्षेत्रबीजसमायो-

गात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥३३॥ विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वे-
व कुत्रचित्। उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिःप्रशस्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ-स्त्री खेतरूप होती है और पुरुष बीजरूप है सो खेतके और बीजके योग होनेंसे संपूर्ण देहधारियोंकी उत्पत्ति कही है ॥ ३३ ॥ कहीं परपुरुषका बीज प्रधान है और कहीं स्त्रीकी योनि प्रधान है जहां ये दोनों समान हों अर्थात् अपनें पतिके सकाशसे स्त्रीकै पुत्र उत्पन्न होवे वह उत्पत्ति श्रेष्ठ कही है ॥ ३४ ॥

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते। सर्वभूतप्रसूतिर्हि बी-
जलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥ यादृशं तूप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपा-
दिते। तादृग्रोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्यञ्जितं गुणैः ॥ ३६ ॥

अर्थ-बीज और स्त्रीकी योनिरूप खेतके मध्यमें बीजही प्रधान है क्योंकि संपूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति बीजके लक्षणसेही दीखती है ॥ ३५ ॥ जिस जातिका बीज योग्य समयमें वर्षाकरके संस्कृत कियेहुए खेतमें वोया जाता है उसी जातिका और उसी रंगरूपके समान आकारवाला उस खेतमें उत्पन्न होता है ॥ ३६ ॥

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते। न च योनिगुणा-
न्कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥३७॥ भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि
कृषीवलैः। नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥३८॥

अर्थ-यह भूमि संपूर्ण भूतोंकी सनातन योनि कहाती है और कोईभी बीज भूमिके गुणोंका अपनी पुष्टिमें नहीं करता किंतु अपनेंही गुणोंसे वढता है अर्थात् जो गुण उस बीजमे है वही वढते चले जाते है ॥ ३७ ॥ एक जमीनके खेतमें कृषीकरनेंवालेसे समयमें वोये हुए बीज अपनें अपनें स्वभावसे अनेक प्रकारके रूपोंवाले होते है अर्थात् जमीनके अनुसार रूप नहीं होता बीजहीके अनुसार रूप है ॥ ३८ ॥

व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः। यथाबीजं प्ररो-
हन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ ३९ ॥ अन्यदुप्तं जातमन्यदित्येतन्नो-
पपद्यते। उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति ॥ ४० ॥

अर्थ-सांठी चावल शालीसंज्ञक चावल मूग तिल उडद जव लस्सन ऊंख ये सब बीजके स्वभावसे उत्पन्न होते है ॥ ३९ ॥ अन्य कुछ वोवे और अन्य कुछ

उत्पन्न होवे यह संभव नहीं है जो कुछ बीज वोया जाता है वही उत्पन्न होता है इसी तरंह मनुष्योंमेंभी बीज प्रधान है ॥ ४० ॥

तत्प्राज्ञेन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना । आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति ॥ ४१ ॥ अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः । यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे ॥ ४२ ॥

अर्थ–सो वह बीज पिताआदिकी तरंह शिष्ट और ज्ञान विज्ञान शास्त्रोंको जाननेंवाला आयुकी इच्छावाला ऐसे पुरुषको पराई स्त्रीमें कभीभी नहीं बोना ॥ ४१ ॥ अतीत कालके जाननेंवाले मुनि यहां इस अर्थमें वायुगीता अर्थात् छंद विशेष वाक्योंको कहते है कि इसवास्ते पुरुषको परस्त्रीमें बीज नहीं वोना चाहिये ॥ ४२ ॥

नश्यतीषुर्यथा विद्धः खे विद्धमनुविद्ध्यतः । तथा नश्यति वै क्षिप्रं बीजं परपरिग्रहे ॥ ४३ ॥ पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः । स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥ ४४ ॥

अर्थ–जैसे बाणसे वींधा हुआ मृगके छिद्रमें अन्य पुरुष बाण मारता है वह निष्फल है क्योंकि पहलेवार बाण मारनेंवालासे हत हुआ मृग कहाता है इसी तरंह अन्यकी स्त्रीमें प्राप्त किया हुआ बीज शीघ्रही नष्ट हो जाता है अर्थात् जिसकी स्त्री है उसीका पुत्र कहलाता है ॥ ४३ ॥ अतीत कालको जाननेंवाले जन पहले ग्रहणकरनेंसे इस पृथ्वीको पृथुकी भार्या कहते है और जिसको वृक्ष झाड आदिकाटके शुद्ध भूमि बनाई है उसीका वह खेत कहाता है और जिसने पहले बाण मारके मृग हत किया है उसीसे हत हुआ मृगको कहते है इसी तरंह अन्य पुरुषके सकाशसेभी उत्पन्न हुई संतान पहले विवाह करानेंवालेकीही कहाती है ॥ ४४ ॥

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह । विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥ न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते । एवं धर्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्मितम् ४६

अर्थ–स्त्री और पुरुषके मिलनेंसे संतान उत्पन्न होती है इसवास्ते वेदके जाननेंवाले ब्राह्मणलोग ऐसे कहते हैं कि जो पति है वही भार्या कही है और इस भार्यामें जो उत्पन्न होता है वह पतिका पुत्र कहाता है ॥ ४५ ॥ वेचनेसे और

त्यागकर देनेंसे स्त्री पतिको नहीं छोडती है अर्थात् उसका वह पति छुटना नहीं है ऐसे पहले कहा हुआ ब्रह्माजीके धर्मको हम मानते है ॥ ४६ ॥

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते। सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥४७॥ यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च। नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्याङ्गनास्वपि ॥४८॥

अर्थ–पिता आदिकोंके धनका भागको पुत्र आपसमें एकही वार विभाग करते है अर्थात् वांटते है और कन्यादान एकही वार किया जाता है और गौ आदि धनभी किसीकेवास्ते एकही वार दिया जाता है ये तीनों वस्तु श्रेष्ठ पुरुषोंसे एकहीवार होती है ॥ ४७ ॥ जैसे गौ घोडी ऊंटनी दासी भैंस बकरी भेड इनमें अपनें वैल घोडा आदिकोंसे वच्छा आदि संतान उत्पन्न करानेंवाला पुरुष उस संतानका भागी नहीं होता ऐसीही पराई स्त्रीमेंभी संतान उत्पन्न करनेंवाला पुरुष उस संतानका भागी नहीं ॥ ४८ ॥

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः। ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥४९॥ यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम्। गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥ ५० ॥

अर्थ–जो पुरुष खेतवाले नहीं है वे अपनें बीजको पराये खेतमें वो देते है वे पुरुष उस उत्पन्न हुए धान्य तृण आदिको कभीभी नहीं ले सक्ते है ॥ ४९ ॥ जो किसीका वृषभ, आंकिल अन्य किसीकी गौओंमें सैंकडो वच्छे उत्पन्न करता है तो वे वच्छे गौओंका स्वामीके है और वृषभके मालिकको वह वीर्यसेचन निष्फल होता है ॥ ५० ॥

तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः। कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥ ५१ ॥ फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा। प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

अर्थ–जैसें गौ आदिकोंके स्वामीके बे वच्छे है तैसेही जो पराई स्त्रीमें अपनें वीर्यको छोडते है बे उस स्त्रीके मालिककाही संतानका लक्षण करते है और बीजवाला संतानके फलको नहीं प्राप्त होता ॥ ५१ ॥ जहां बीजवालेका और खेतवालेका कुछ नियम नहीं होता है तहां प्रत्यक्षमें खेतवालोंकाही धन है इसवास्ते बीजसे योनि अधिक है ॥ ५२ ॥

क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्बीजार्थं यत्प्रदीयते । तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥ ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति । क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जहां खेतवालेका और बीजबोनेंवालेका ऐसा नियम हो जाता है कि इस खेतमें जो धन होगा सो हमारा तुह्मारा दोनोंका है तहां दोनोंका हिस्सा देखा गया है ॥ ५३ ॥ जो जलके वेगसे वा वायुके वेगसे दूसरेके खेतमें बीज उत्पन्न हो जाता है उसका फलभागी खेतवालाही होता है बोनेंवाला नहीं ॥ ५४ ॥

एष धर्मोगवाश्वस्य दास्युष्ट्राजाविकस्य च । विहंगमहिषीणां च विज्ञेयः प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥ एतद्वः सारफाल्गुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् । अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

अर्थ—यह व्यवस्था गाय घोडी दासी ऊंटनी बकरी भेड पक्षी भैंस इनकी योनिमें जाननी चाहिये अर्थात् जहां नियम होगया हो वहां दोनोंकी न हुआ होतो क्षेत्रवालेकी ॥ ५५ ॥ यह बीजकी और योनिकी प्रधानता और अप्रधानता अर्थात् सफलता निष्फलता दोनों कही हैं अब इस्से आगे आपत्कालमें स्त्रियोंके धर्मोंको कहेंगे ॥ ५६ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा । यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता॥५७॥ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् । पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ५८

अर्थ—बडा भाईकी जो वहू है वह छोटा भाईको गुरुकी पत्नीके समान है और छोटाभाईकी वहू बडे भाईको पुत्र वधूके समान कही है ॥ ५७ ॥ बडाभाई छोटे भाईकी स्त्रीके संग और छोटाभाई बडे भाईकी स्त्रीकेसंग संतानके अभावके विनाहीं जो गमन करता है वह पतित हो जाता है ॥ ५८ ॥

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यऽनियुक्तया । प्रजेप्सिताधिगन्तव्यासंतानस्य परिक्षये ॥५९॥ विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि । एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥ ६० ॥

अर्थ—संतान नष्ट हो जानेंमें स्त्रीको देवरके सकाशसे अथवा पतिके सपिंडी

पुरुषके सकाशसे मनोवांछित एक संतान उत्पन्न करनी योग्य है ॥ ५९ ॥ विधवा स्त्रीके संग नियोग करनेंवाला पुरुष शरीरकै घृत लगाके मौन धारणकर रात्रीके समय भोग करे इस प्रकार एक पुत्र उत्पन्न करे ॥ ६० ॥

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः । अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥ विधवायां नियोगार्थे निर्वृते तु यथाविधि । गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

अर्थ–नियोगधर्मको जाननेंवाले अन्य आचार्य एक पुत्रवाला संतानरहितके समान है ऐसे प्रवादसे नियोगको व्यर्थ जानके स्त्रियोंमें धर्मसे दूसरा पुत्र उत्पन्न करनेंको मानते है ॥ ६१ ॥ विधवा आदि स्त्रीमें नियोगका प्रयोजन अर्थात् शास्त्रके अनुसार गर्भधारण हो चुके तब स्त्रीके पतिका वडाभाई और वह छोटाभाईकी स्त्री ये दोनों आपसमें गुरुकी तरंह और पुत्र वधूकी तरंह वर्तै॥६२॥

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः । तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ॥६३॥ नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युःसनातनम्

अर्थ–जो छोटा भाईकी स्त्रीके संग वा बडा भाईकी स्त्रीके संग नियोग किये हुए पुरुष पूर्वोक्त मौन धारण आदि विधिको त्यागके इच्छा पूर्वक भोग करते है वे पुत्र वधू गुरुपत्नी इनकी शय्यापे प्राप्त होनेंवालोंकी तरंह पतित हो जाते है ॥ ६३ ॥ और द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इनको बिधवा स्त्रियोंका अन्य पुरुषके संग नियोग नहीं करना चाहिये क्योंकि स्त्रीका अन्य पुरुषके संग नियोग करनेंमे पतिव्रता सनातन धर्मको नष्ट करते है ॥ ६४ ॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् । न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥ अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः । मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

अर्थ–विवाह प्रयोजनके मंत्रोंमें नियोग कहींभी नहीं कहा है और विवाहकी विधिमेंभी अन्य पुरुषके संग स्त्रीका फिर विवाह करना नहीं कहा है ॥ ६५ ॥ विद्वान् ब्राह्मणोंकरके यह पशु धर्म अर्थात् नियोग करना निंदित है वे न राजाके राज्यमें यह धर्म मनुष्योंकाभी चलाया गयाथा ॥ ६६ ॥

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा । वर्णानां संकरं चक्रे

कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥ ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् । नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

अर्थ-वह वेन राजा संपूर्ण पृथ्वीका राज्य करता भया इसवास्ते राजर्षि कहागया कुछ धार्मिक न था सो कामातुर हो नष्ट बुद्धि होके भाईकी भार्याके संग भोगकरके वर्ण संकर धर्म चलाता भया ॥ ६७ ॥ तवसे लेके जो पुरुष अज्ञानसे विधवा स्त्रीका नियोग संतानकेवास्ते करता है तिसको श्रेष्ठ पुरुष निंदित करते है ॥ ६८ ॥

यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः । तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥ यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् । मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ॥ ७० ॥

अर्थ-जिस कन्याका वाग्दान अर्थात् सगाई करनें पीछे पति मरजावे तिस कन्याको भर्त्ताका छोटा भाई इस आगे कहेहुए विधानकरके विवाहै ॥ ६९ ॥ वह देवर यथार्थ विधिसे इसको विवाहके फिर सफेद वस्त्रोंको धारण किये हुए और पवित्र व्रतको धारण कियेहुए ऐसी इसके संग ऋतुकालके प्रति प्रति एक एक वार संतान होनेंपर्यंत भोग करे ॥ ७० ॥

न दत्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः । दत्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥७१॥ विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् । व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥७२॥

अर्थ-एकवार वाग्दान करके पीछे दूसरे किसीकेवास्ते बुद्धिमान् द्विज नहीं देवे एकको देके फिर दूसरेको देनेंवाला पुरुष असत्य भाषणके पापसे युक्त होता है ॥ ७१ ॥ विधिकरके ग्रहणकी हुईभी निंदित कन्याका त्याग करै और वैधव्य लक्षणोंकरके युक्त रोगिणी दूषित हुई अधिक अंगवाली छलसेदी हुई ऐसी कन्याको सप्तपदी कर्म हुए पहलेतक त्याग देवे ॥ ७२ ॥

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोपपादयेत् । तस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥७३॥ विधाय वृत्तिं भार्याया प्रवसेत्कार्यवान्नरः । वृत्तिकर्षिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥

अर्थ-जो पुरुष दोषवाली कन्याको विनाकहे दान देता है तिस दुरात्माका

कन्याको देनेंवालेका वह दान निष्फलकर देवे अर्थात् त्याग देवे ॥ ७३ ॥ कार्यवाला पुरुष स्त्रीकेवास्ते भोजन वस्त्र आदिकोंका बंदोबस्तकरके परदेशमें जावे क्योंकि भोजन आदिकोंसे पीडित हुई शीलवालीभी स्त्री दूषित हो जाती है ७४

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता। प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥७५॥प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः। विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥

अर्थ–पति परदेशमें गया हो तब स्त्री शरीरकी सफाई दूसरेके घरों जाना इनको न करे और जो पतिविना बंदोबस्त कियें गया हो तो निंदारहित सूतकातना आदि कामसे अपना गुजरान करे ॥ ७५ ॥ गुरुकी आज्ञा संपादन आदि धर्मकार्यकेवास्ते पर देशमें गया हुआ पतिकी इन्तजारी स्त्री ५ वर्षतक देखे विद्या पढनेंकेवास्ते अथवा यशकेवास्ते गया हुआकी ६ वर्षतक और अन्य स्त्रीकी कामना आदिकेवास्ते गया हुआ पतिकी ३ वर्षतक इन्तजारी देखे पीछे जहां पति हो वहां जावे ॥ ७६ ॥

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः। ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा न संवसेत् ॥७७॥ अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा। सा त्रीन् मासान् परित्याज्या विभूषणपरिच्छदा ॥ ७८ ॥

अर्थ–विषम आदिमें द्वेष करती हुई स्त्रीको पति वर्षदिन पर्यंत त्याग देवे जो पीछेभी द्वेष करे तो अलंकार गहिना आदि छीन लेवे और उसके साथ न रहै केवल उसका अन्न वस्त्र मात्रका निर्वाह कर देवे ॥ ७७ ॥ जो स्त्री जूवे आदिके प्रमादवाला तथा मदिरापान आदिसे प्रमत्तका तथा रोगसे पीडित अपनें पतिकी सेवाको नहीं करती है वह वस्त्र विभूषण आदि छीनके तीन महीनोंतक त्याग देनी योग्य है ॥ ७८ ॥

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम् न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम्॥७९॥मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्। व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्वदा॥८०॥

अर्थ–उन्मत्त अर्थात् वावला जातिसे पतित नपुंसक बीज रहित कुष्ट रोगवाला, ऐसे पतिसे द्वेष करती हुई स्त्रीका साग नहीं करे औ उसके गहिनें आदी भी न छीनें ॥ ७९ ॥ मदिरा पीनेंवाली दुष्ट व्यवहारसें रहनेंवाली भर्त्तासे विप-

रीत चलनेंवाली कुष्ट आदि व्याधिसे पीडित भृत्य आदिकोंको ताडना देनेंवाली द्रव्यको निरंतर खर्च करनेंवाली ऐसी स्त्री अधिवेत्तव्या है अर्थात् उसके जीवते हुए दूसरी स्त्री विवाहनी योग्य है ॥ ८० ॥

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा । एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी । या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः । सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥ ८२ ॥

अर्थ-स्त्रीको पहिले रजस्वला धर्म हो उस्से आदि लेके आठ वर्षतक संतान न होवे तो वंध्या जानना चाहिये तिसके जीवते हुए दूसरा विवाह करावे और पहिले रजस्वला धर्मसे दश वर्षतक संतान मरे तो मृत प्रजा जाने तबभी दूसरा विवाह करवावे और ग्यारह वर्षतक कन्याओंके जन्मनेसे स्त्री जननी जानें तब अन्य विवाह करावे अप्रिय वादिनी अर्थात् खोटे वचनवालीको शीघ्र त्यागकरके दूसरा विवाह करे ॥ ८२ ॥ जो पतिका हितकरनेंवाली और शील स्वभाववाली स्त्रीके रोग हो जावे तो उस अपनी स्त्रीकी आज्ञा लेके दुसरा विवाह करावे और उस अपनी पहिली स्त्रीका अपमान कभी न करे ॥ ८२ ॥

अधि विन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात् । सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥ ८३ ॥ प्रनिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि। प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्ड्या कृष्णलानि षट्॥

अर्थ-जिस स्त्रीका पति दूसरा विवाह कर ले तब प्रथम विवाही वह स्त्री जो रूसके घरसे बाहर कहीं जावे तो उसें जल्दी रज्जू आदिकोंसे बाधके रोकदे याकोप दूर हो जावे तब उस स्त्रीको उसके पिताके घरमें राख देवे ॥ ८३ ॥ जो क्षत्रियादिकोंकी स्त्री अपनें पतिकरके बर्जी हुईभी विवाहादिकोंमें मदिराको पीती है वा, नांचनेंको बहुत मनुष्योंमें जाती है वह स्त्री पहिले कहे सोनेंके छः कृष्णल, दंडोंके योग्य है ॥ ८४॥

यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन् योषितो द्विजाः । तासां वर्णक्रमेव स्याज्ज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥८५॥ भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम् । स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथंचन ॥८६॥

अर्थ-जो द्विजाति अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये अपनी जातिकी या पर जातिकी स्त्रीको विवाहैं तो उन स्त्रियोंको मान तथा आनंदके अर्थ बडापन,

आभूषन आदिकोंके देना और घरकी मालिकनी, ये सब जाति क्रमसे होवे ८५ अपनें पतिके शरीरकी शुश्रूषा और अन्न दान आदि धर्मकार्य, भिक्षादान, अभ्यागतके पूजन आदि नित्य कर्मोंको सब द्विजातियोंकी सजातीय भार्याही करे और दूसरी जातीकी कभी न करे ॥ ८६ ॥

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया। यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः॥ ८७॥ उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च। अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥८८॥

अर्थ–जो मनुष्य अपनी जातिकी स्त्री समीप होते अपनें देहकी परिचर्याको दूसरी जातीकी स्त्रीसे कराते है वे जैसे ब्राह्मणीके विषैं शूद्रसे जन्माहुआ चांडाल है तैसें है ॥ ८७ ॥ अच्छे कुलका तथा अच्छे आचारवाला और सुंदर रूपवाला और अपनीं जातिका ऐसे वरको थोडी उमरकी कन्याकोभी अर्थात् आठ वर्षकीकोभी यथाविधिसे विवाह देवे ॥ ८८ ॥

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि। नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ ८९॥ त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती। ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ ९०॥

अर्थ–उत्पन्न रजस्वला धर्मवाली विना विवाही कन्या मरणपर्यंत जो पिताके घरमें रहै वोभी श्रेष्ठ है परंतु विद्यादि गुणहीन वरके अर्थ न देवे ॥ ८९ ॥ अपनेंसे श्रेष्ठ कुलमें विवाह करानेंवाली कन्या रजस्वला होकेभी तीन वर्षतक उत्तम कुलके वरके लियें जतन करे और तिससे पीछे जो अधिक गुणवाला वर न मिले तो समान जाति और समान गुणवालेसे विवाह करावे ॥ ९० ॥

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम्। नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ॥ ९१॥ अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा। मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ९२

अर्थ–पित्रादिकोकरके नहीं विवाही हुई कन्या यदि अपनें यथोक्त कालमें पतिको आपही वर लेवे तो उस कन्याको कुछ दोष नहीं और उसका पतिभी कुछ पापको प्राप्त नहीं होता है ॥ ९१ ॥ अपनें पतिको आप वरनेंवाली कन्या पतिको वरें पहिलीही पिता माता भ्रातादिकोंके दिये गहानेंको उन्होंहीको देदेवे और उनको नहीं देवे तो चोरनेंवाली होवेगी ॥ ९२ ॥

पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन् । स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूना प्रतिरोधनात् ॥९३॥ त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कान्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् । त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ ९४ ॥

अर्थ—रजस्वला कन्याको विवाहता हुआ वर, कन्याके पिताको शुल्क न देवे क्योंकि रजस्वला धर्म होनेंके पीछे वह पिता कन्याका मालिक नहीं ॥ ९३ ॥ तीस वर्षका पुरुष बारह वर्षकी मनोहारा कन्याको विवाहै और चौवीस वर्षका पुरुष आठ वर्षकी कन्याको विवाहै इससे अन्यथा करनेंमें धर्म विगडता है ॥९४॥

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः । तां साध्वीं बिभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥९५॥ प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः । तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥९६॥

अर्थ—भगोर्यमासविता पुरंध्रि इत्यादिक मंत्रोंके उच्चारण होनेंसे देवतोंकरके दीहुई भार्याको पुरुष प्राप्त होता है अपनी इच्छासे नहीं प्राप्त होता है इसवास्ते देवतोंकी प्रीति करता हुआ तिस सती स्त्रीका सदा पोषण करे ॥ ९५ ॥ गर्भ ग्रहण करनेंके अर्थ स्त्री रची हैं और संतानके अर्थ मनुष्य रचे है इसवास्ते स्त्रीपुरुषका समान धर्म वेदमें कहा है ॥ ९६ ॥

कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः । देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते ॥९७॥ आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन् । शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ ९८ ॥

अर्थ—जिस कन्याका संबंध होरहाहो और विवाह न हुआ हो उस कन्याका यदि शुल्क देनेवाला पति मरजावे तो वह कन्या देवरको देनी चाहिये जो कन्या पसंद करें तौ ॥९७॥ पुत्रीको देता हुआ शूद्रभी शुल्कको नहीं ग्रहण करे क्योंकि शुल्कको देता हुआ पुरुष कन्याका गुप्तविक्रय करता है ॥ ९८ ॥

एतत्तु न परे चक्रुर्नापरे जातु साधवः । यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते ॥९९॥नानुशुश्रुम जात्वेतत्पूर्वेष्वपि हि जन्मसु । शुल्कसंज्ञेन मूल्येन छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥ १०० ॥

अर्थ—यह पहिले होनेंवाले श्रेष्ठ पुरुष कभी न करतेथे न इस समयमें करते हैं कि एक वरको कन्या देके फिर दूसरेको देदेवे ॥ ९९ ॥ पूर्व कल्पोंमेंभी यह

वृत्तांत हमनें कभी न सुना कि शुल्क संज्ञक मोलसे कोई श्रेष्ठ पुरुष पुत्रीको गुप्त बेचताथा ॥ १०० ॥

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः । एष धर्मः समासेन ज्ञेयःस्त्रीपुंसयोः परः ॥१०१॥ तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ । यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

अर्थ–भार्या पतिको मरणपर्यंत धर्म अर्थ काम इनके विषै आपस्में अव्यभिचारी होना अर्थात् परस्पर प्रीति रखना यही स्त्रीपुरुषोंका श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये ॥ १०१ ॥ जिस भार्या पतिका धर्मविवाह हुआ हो उन्होंको ऐसा यतन करना चाहिये कि जिस प्रकार आपसमें व्यभिचार न होवे अर्थात् धर्म अर्थ काममें जुदाई नहीं होवे ॥ १०२ ॥

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः । आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दाय भागं निबोधत ॥१०३॥ ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् । भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

अर्थ–यह भार्या पतिका आपसमें प्रीतियुक्त धर्म तुह्मारे आगे कहा और संतानके न होनेमें संतानकी प्राप्तिभी कही अब पिताआदिके धनका विभागको सुनों ॥ १०३ ॥ माता पिताके मरनेंके पीछे जितनें भाई हों वे सब मिलके पिताके धनका बराबर हिस्सा करे क्योंकि मातापिताके जीवते हुये मातापिताके धनमें पुत्र हिस्सेवाले नहीं और जो अपनी राजीसे विभाग मातापिता करे तो पुत्रोंका हिस्सा है ॥ १०४ ॥

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः । शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥१०५॥ ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः । पितॄणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

अर्थ–पिताके संपूर्ण धनको बडा बेटा लेवे और छोटे भाई जो बाकी रहे वे सब बडे भाईसे भोजन कपडा मात्र लेवे जैसे पिताके सामने रहतेथे तैसेही रहै ॥ १०५ ॥ बडे पुत्रके जन्म होनेंसेही मनुष्य पुत्रवाला होता है और ज्येष्ठ पुत्रके जन्म होनेंसेही पितरोंके ऋणसे छूटजाता है इससे बडाही पुत्र संपूर्ण धन लेनेको योग्य है ॥ १०६ ॥

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते । स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥१०७॥ पितेव पालयेत्पुत्रान् ज्येष्ठो भ्रातृन् यवीयसः । पुत्रवच्चापि वर्तेरन् ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥१०८॥

अर्थ-जिस पुत्रके जन्मनेंसे मनुष्य पितरोंके ऋणका दूर कर देता है और जिसके जन्मेंसे मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है उसीको धर्मसे जन्मा पुत्र कहते हैं और सब पुत्रकामज हैं अर्थात् कामसे उनके जन्मोंको कहते हैं ॥ १०७ ॥ बडा भाई छोटे भाईयोंका पुत्रकी तरह पालन करे अर्थात् जैसे पिता पुत्रको पालै तैसे पालन करे और छोटे भाईभी बडे भाईको पिताकी समान मानैं यही धर्म है॥८॥

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः । ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिरगर्हितः ॥१०९॥ यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः । अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बंधुवत् ॥११०

अर्थ-धर्म अधर्ममें प्राप्त होके ज्येष्ठ पुत्रही कुलको वढाता है तथा ज्येष्ठही नाश करता है इस्से धर्ममें वर्तनेंवाला गुणवान् पुत्र संसारमें पूजनीय है और वही श्रेष्ट पुरुषोंकरके निंदाको नहीं प्राप्त होता ॥ १०९ ॥ जो बडाभाई छोटे भाईयोंसें पिताकी समान वर्ते अर्थात् पिताकी समान पालन करे तो वह ज्येष्ठ भाई मातापिताके समान पूज्य है और जो माता पिताके समान पोषण न करे तो वह सब भाइयोंकि समान है ॥ ११० ॥

एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया।पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया ॥ १११ ॥ ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम् ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः ॥ ११२ ॥

अर्थ-इसप्रकार विना हिस्से किए संपूर्ण भाई इकट्ठे रहो या धर्मकी इच्छाकरके न्यारे न्यारे रहो क्योंकिन्यारे न्यारे होनेंसे पंचयज्ञ धर्म वढता है इसवास्ते न्यारा होनाभी धर्मका हेतु है ॥ ११ ॥ वडे भाईको पिताके धनमेंसे वीसवा हिस्सा जोकि संपूर्ण धनमें श्रेष्ट हो वह देना चाहिये और विचलेको चालीसवां भाग देना और छोटेके अश्शीवा हिस्सा याने भाग देना और बाकी रहे धनके बराबर भागकर लेवे ॥ ११२ ॥

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम् । येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां

तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥ सर्वेषां धनजातानामाददी-
ताग्र्यमग्रजः । यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥

अर्थ–वडा तथा छोटा पुत्र पूर्वश्लोकके अनुसार भाग लेवे और विचले पुत्र जो ज्येष्ठ कनिष्ठके मध्यके है उनका मध्यम भाग होना चाहिये ॥ ११३ ॥ संपूर्ण धनकी वस्तुओंमें जो श्रेष्ठ धन हो उसको वडा पुत्र ग्रहण करे और जिस धनमें एकवस्तु अधिक हो उसकोभी वडा पुत्र लेवे और दश गौ आदि पशुओंमें जो जो श्रेष्ठ पशु हो उसकोभी वडा पुत्र ग्रहण करे यह धर्ममे रहनेंवाले गुणवान् पुत्रका क्रम है निर्गुणका नहीं है ॥ ११४ ॥

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु । यत्किञ्चिदेव देयं तु
ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५ ॥ एवं समुद्धृतोद्धारे समानंशा-
न्प्रकल्पयेत् उद्धारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥

अर्थ–पूर्वश्लोकमें यह कहाकि दश हिस्सोंमें श्रेष्ठ हिस्सा वडा पुत्र पावे सो यह क्रम अध्ययन यानें विद्या पढना आदि कर्मोंकरके संयुक्त छोटे भ्राताओंके वडे भाईका नहीं परंतु यत्किंचित् वडे भाईको वेभी अधिक देवें क्योंकि वडेका मान वढनेंके अर्थ कछुक अधिक देना योग्य है ॥ ११५ ॥ इस पूर्व कहे प्रकारसे निकाले उद्धारमेंसे भाइयोंके बराबर हिस्से बनावे और उन हिस्सोंमें वचेंको आगे कहेगे जो क्रम उस प्रकार हिस्से करे ॥ ११६ ॥

एकाधिकं हरेज्ज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्धं ततोऽनुजः । अंशमंशं यवीयांस इति
धर्मो व्यवस्थितः ॥ ११७ ॥ स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्यु-
र्भ्रातरः पृथक् । स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः ॥ ११८ ॥

अर्थ–एक हिस्सा अधिक अर्थात् दो हिस्से वडा पुत्र लेवे उस्से छोटा पुत्र डेढ हिस्सा ग्रहण करे और बाकी छोटे पुत्र एकएक हिस्सेको लेवे इस प्रकार धर्मकी व्यवस्था है ॥ ११७ ॥ संपूर्ण भाई अपनें अपनें हिसोंमेंसे चौथा चौथा भाग अपनीं अपनीं बहनोंको देवे न्यारे न्यारे और जो न देवेंगे तो पतित होवेंगे ॥ ११८ ॥

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत् । अजाविकं तु विषमं
ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥ यवीयान् ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पा-
दयेद्यदि । समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १२० ॥

अर्थ-जो घोडा बकरी भेड आदि हिस्सेमें अधिक होवे तो उसको छोटे भाई वेचके हिस्सा कभी न करें क्योंकि वह भाग वडा पुत्रकाही है ॥ ११९ ॥ यदि छोटा भाई वडे भाईकी भार्यामें पुत्रको उत्पन्न करे तो उसके चाचाके साथ उस पुत्रका हिस्सा समान होना चाहिये यह धर्म व्यवस्था है ॥ १२० ॥

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोपपद्यते । पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥१२१॥ पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठाया च पूर्वजः । कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् १२२

अर्थ-वडा भाईकी स्त्रीमेंहोनेंवाला वह क्षेत्रज पुत्रभी पिताकी तरंह अधिक भागवाला होवेगा इस शंकाको दूरकरके पूर्वोक्तकोही दृढ करते है कि क्षेत्रज पुत्र अप्रधान है और प्रधान क्षेत्रवालेका संबंध धर्मके अनुसार यहां नहीं है क्योंकि क्षेत्रीभी पिता पुत्रको उत्पन्न करनेंमें प्रधान होता है इसवास्ते पूर्वोक्त प्रकारसे पितृव्यके साथ उस क्षेत्रजका समान भाग करे ॥ १२१ ॥ जो पहिले विवाही स्त्रीका छोटा पुत्र हो और पीछे विवाहीका वडा पुत्र होवे तो तहां कैसें विभाग करे यह संदेह हो जावे तो ॥ १२२ ॥

एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः । ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥१२३॥ ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशा । ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥

अर्थ-प्रथम विवाही स्त्रीमें उत्पन्न होनेंवाला जो छोटाभी पुत्र है वह एक बैलको ग्रहण करे और उसके पीछे कनिष्ठसे उत्पन्न हुए बडे पुत्र एक एक बैलकों लेवे इस प्रकार माताके विवाह क्रमसे ज्येष्ठ यानें बडापन है ॥ १२३ ॥ प्रथम विवाही स्त्रीके जन्मा हो और उमरमेंभी सब भाइयोंसे बडा हो वह एक बैल पंदरह गौ ग्रहण करे और जो पीछे विवाही स्त्रियोंसे जन्मे है वे अपनी माताके छोटाइके हिसाबसे यथाजोग्य हिस्सा करलेवे ॥ १२४ ॥

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः । न मातृतो ज्यैष्ठ्यमस्ति जन्मतो ज्यैष्ठ्यमुच्यते ॥१२५॥ जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं स्वब्राह्मण्यास्वपि स्मृतम् । यमयोश्चैव गर्भेषुजन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

अर्थ-अविशेषकरके समजाति अर्थात् अपनी जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न हुये पुत्रोंका माताके क्रमसे ज्येष्ठपना नहीं किंतु अपनें जन्महीसे ज्येष्ठपना है ॥१२५॥

स्वब्राह्मणाख्य मंत्रकरके इंद्रका बुलाना होता है उसमें प्रथम पुत्रके नामसे कहते हैं कि अमुक नामवालेका पिता पूजन कर्त्ता है यह ऋषियोंने कहा है इसवास्ते पहले होनेंवाला ज्येष्ठ पुत्र मुख्य है तथा गर्भमें दोहोवें तो जन्मसे ज्येष्ठता कही है ॥ १२६ ॥

अपुत्रोऽनेन विधिना सुता कुर्वीत पुत्रिकाम् । यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥ अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिकाः । विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥

अर्थ–विना पुत्रवाला इस विधिकरके पुत्रीको पुत्रवाली करे कि विवाहके समयमें जामातृसे यह कहे कि जो इसके पुत्र होगा वह मेरा श्राद्धादिक और्ध्वदैहिक क्रिया करानेंवाला होगा यह करारकरके विवाह करे ॥ १२७ ॥ पहिले आप दक्षप्रजापति अपने वंशकी वृद्धिके अर्थ इस पूर्व कहे हुए विधानकरके संपूर्ण पुत्रियोंको पुत्रोंवाली आप करताभया ॥ १२८ ॥

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश । सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥ यथैवात्मा तथा पुत्र पुत्रेण दुहिता समा । तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३० ॥

अर्थ–प्रसन्न आत्मा वह दक्षप्रजापति गहने वस्त्र आदिकोसे सत्कार करके दश पुत्रियोंको धर्मके अर्थ देताभया और तेरह कश्यपको तथा सताईस औषधियोंके राजाको अर्थात् चंद्रमाके अर्थ देताभया ॥ १२९ ॥ जैसा अपना शरीर है वैसाही पुत्र होना है क्योंकि वेदमें कहा है आत्माही पुत्र जन्मता है और पुत्रीभी पुत्रहीके समान है इस लियें पिताके समान रूपवाली पुत्रीके जीवते हुए विना पुत्रवाले मरेहुए पिताके धनको पुत्रीके विना अन्य कैसे लेसक्ता है ॥ १३० ॥

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः । दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम् ॥ १३१ ॥ दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत् । स एव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ॥ १३२ ॥

अर्थ–जो माताका धन है वह माताके मरेपीछे पुत्रीहीका भाग है पुत्रोंका नहीं है पुत्ररहित नाना संपूर्ण धनको दौहित्रही ग्रहण करे ॥ १३१ ॥ विना पुत्रवाले नानाके संपूर्ण धनको दौहित्र दोहिताही वे और वह दौहित्रही दोपिंड पिताके अर्थ और नानाके अर्थ देवे ॥ १३२ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः । तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः॥ १३३ ॥ पुत्रिकाया कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते । समस्तत्रविभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः १३४॥

अर्थ–पौत्र और दौहित्रका लोगोंमे कछु भेद नहीं है धर्मसे क्योंकि तिन पौत्र दौहित्रोंके माता पिता एकहीके देहसे होते है ॥ १३३ ॥ पुत्रिकाके करनेपीछे अर्थात् यह विचार करलेवे कि इस मेरी पुत्रीके जो पुत्र होवेगा सो मेरा है उसकै जो पुत्रिका करनेवालेके जो पुत्र होवे तो तहां उनका समविभाग करना चाहिये क्योंकि स्त्री पक्षकरके उनको ज्येष्ठता नहीं है ॥ १३४ ॥

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथंचन । धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेत्तैवाविचारयन् ॥ १३५ ॥ अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्सुतम् । पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥१३६॥

अर्थ–विना पुत्रवाली पुत्रिका यदि मरजावे तो किसी प्रकारसे उस पुत्रिकाके धनको तिसका पति विना विचारसे लेवे अर्थात् तहां कुछ विचार करनेका काम नहीं ॥ १३५ ॥ कृतपुत्रिका विधानवाली या अकृत पुत्रिका विधानवाली जो समान जातिके पतिसे पुत्रको प्राप्त होवे तो उस पौत्रकरके नानापौत्रवाला है और वही पिंड देवे तथा धनको लेवे ॥ १३६ ॥

पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥ पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः । तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेवस्वयम्भुवा ॥१३८॥

अर्थ–पुत्रका जन्म होनेंसे मनुष्य स्वर्ग आदि लोकोंको प्राप्त होता है और पौत्रका जन्म होनेंसे तिन स्वर्ग आदिक लोकोंमें बहुत कालतक स्थित रहता है और पुत्रके पौत्रका अर्थात् प्रपौत्रका जन्म होनेंसे सूर्यलोकको प्राप्त होता है ॥ १३७ ॥ पुन्नाम नरक है उससे पिताको पुत्र तारता है इसवास्ते आपही ब्रह्मानें पुत्र ऐसा कहा है ॥ १३८ ॥

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोदपद्यते । दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥१३९॥ मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः । द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥१४०॥

अर्थ-पौत्र और दौहित्रकी लोगोंमें न्यून्य अधिकता नहीं है इस्से दौहित्रभी इस मनुष्यको परलोकमें पौत्रकी तरह तारता है ॥ १३९ ॥ पुत्रीका पुत्र पहिले माताको पिंड देवे पीछे नानाको देवे इस प्रकार तीन पिंड देवे ॥ १४० ॥

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्रिमः । स हरेत्तैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥१४१॥ गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्रिमः क्वचित् । गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥१४२॥

अर्थ-बारह पुत्रमें धनको ग्रहण करनेंवाले पुत्रको कहते है जिसका दत्तक पुत्र अध्यायनादि संपूर्ण गुणोंसे युक्त हो वह दुसरे गोत्रसे आया हुआभी औरस पुत्रके होते हुए पिताके धन याहसे हिस्सेको लेवे अर्थात् औरस पुत्रही पिताके धनका मालिक होता है इस्से औरसकी समान दत्तक पुत्रका हिस्सा नहीं किंतु छठा भाग देना न्याय है ॥ १४१ ॥ दत्तकपुत्र जन्मनेवाले पिताके गोत्र धनको कभी नहीं प्राप्त होता है और पिंड, गोत्र धनके अनुसार है इसवास्ते जिसके गोत्र धनको लेता है उसीके अर्थ पिंड देवे अर्थात् जो अपनें जन्मे हुवे पुत्रको देता है उस पिताका पिंड श्राद्धादिक दिये हुए पुत्रसे निवर्त हो जाता है॥१४२

अनियुक्ता सुतश्चैव पुत्रिण्याप्तश्च देवरात् । उभौ तौ नार्हतो भागं जारजातककामजौ ॥१४३॥ नियुक्तायामपि पुमान्नार्यां जातोऽविधानतः । नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः१४४

अर्थ-जो अपनें पिताके संयोग बिना जारसे उत्पन्न हुआ है और जो पतिपुत्रवाली, स्त्रीको देवरसे कामकरके उत्पन्न किया है वे दोनों जारज और कामाभिलाषज है अर्थात् जारसे और कामकी अभिलाषासे जन्मे है इसवास्ते धनके भागको योग्य नहीं है ॥ १४३ ॥ नियुक्त नारीमेंभी जो विना विधानसे जन्मा है अर्थात् घृत लगायें विना जो विषयसे उत्पन्न हुआ है वह अपनें क्षेत्रिक पिताके धनको लेनेंको नहीं योग्य है क्योंकि वह पतितसे जन्मा है ॥ १४४ ॥

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातःपुत्रो यथौरसः । क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥१४५॥ धनं योबिभृयाद्भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च । सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥ १४६ ॥

अर्थ-नियुक्तामें जो पुत्र उत्पन्न हुआ है वह क्षेत्रवाले पिताके धनको औरस

पुत्रकी तरह लेवे क्योंकि धर्मसे वह पुत्र और वह बीज क्षेत्रवालेकाही है ॥१४५॥ जो मरे हुए भाईके धन और स्त्रीको लेवे वह अपनें भाईकी स्त्रीमें नियोग विधिसे पुत्रको उत्पन्नकरके तिस भाईका धन उसकी स्त्रीकोही देदेवे ॥ १४६ ॥

या नियुक्तान्यतः पुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात् । तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते ॥ १४७॥ एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु । बह्वीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत ॥ १४८ ॥

अर्थ–जो गुरु आदिकोकरके विना आज्ञा दईहुई देवरसे या दुसरेसे पुत्रको उत्पन्न कराती है वह पुत्र यदि कामसे जन्मा हो तो उसको पिताके धनका मालिक मनु आदिक नहीं कहतें है और वृथा जन्माहुआ कहते है ॥ १४७॥ समान जातिकी भार्याओंमें एक पतिकरके जन्मे हुवे पुत्रोंके विभागकी यह विधि है ऐसे जानना अब अनेक जातिकी बहुतसी स्त्रियोंमें एक पतिकरके जन्मेंहुए पुत्रोंका विभागकों सुनों ॥ १४८ ॥

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः । तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः ॥१४९॥ कीनाशो गोवृषो यानमलंकारश्च वेश्म च । विप्रस्योद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः ॥१५०॥

अर्थ–ब्राह्मणके जो क्रमकरके ब्राह्मणी आदि चार स्त्री होवे तो उन तीनोंयें जन्मे हुए पुत्रोंकी यह विभागकी विधि है जो आगे मनुआदिकोनें कही है २४९ की नाश याने कृषिवल गो वृष यान अर्थात् अश्व हस्ती आदि और अलंकार यानें अंगुली आदिके गहनें और घर इत्यादि प्रधान जितनें अंश हैं उनमें एक सबसे अच्छा अंश ब्राह्मणीके पुत्रको उद्धारके अर्थ देवे और वाकी रहेको कही हुई विधिसे वांट देवे ॥ १५० ॥

त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः । वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥१५१॥ सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च । धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनाऽनेन धर्मवित् ॥१५२॥

अर्थ–धनमेंसे तीन भाग ब्राह्मण लेवे दो अंश क्षत्रिय जातिकी स्त्रीका पुत्र लेवे और डेढ अंशको वैश्य जातिकी स्त्रीका पुत्र लेवे और एक अंशको शूद्र जातिकी स्त्रीका पुत्र लेवे और जो ब्राह्मणी क्षत्रियाणी इन दो स्त्रियोंकेही पुत्र हो वें तो तहां पांच हिस्सेकरके तीन हिस्से ब्राह्मण लेवे दो हिस्से क्षत्रियाणीका-

पुत्र लेवे इसी प्रकार ब्राह्मणी वैश्या आदिके पुत्रोंका भाग जान लेना ॥१५१॥ या संपूर्ण तिस धनके दश हिस्सेकरले और पीछे विभाग धर्मको जाननेवाले धर्मसे विभाग इस आगे कही हुई विधिसे करे ॥ १५२ ॥

चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः । वैश्यापुत्रो हरेद्व्यंशमंशं शूद्रासुतो हरेत् ॥१५३॥ यद्यपि स्यात्तु सत्पुत्रोप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत् । नाधिकं दशमाद्दद्याच्छूद्रापुत्राय धर्मतः ॥ १५४ ॥

अर्थ–चार अंशोंको ब्राह्मण लेवे और तीन हिसोंको क्षत्रियाका पुत्र लेवे और वैश्याका पुत्र दो अंशोंको लेवे और एक अंशको शूद्राका पुत्र लेवे ॥१५३॥ यदि ब्राह्मणके चारों वर्णोंकी स्त्रियोंके पुत्र जीते हों याने जीवते हों तो तहां शूद्राके पुत्रका पीछे हिस्सा करे और तिन द्विजाति वर्णकी स्त्रियोंके पुत्र न जीवते हों तो तहां उन पुत्रोंके पिताको शूद्राके पुत्रको दशमां हिस्सा देना चाहिये और धर्मको जानके अधिक हिस्सा न देवे यह शूद्राके पुत्रको निषेध है और क्षत्रिय वैश्याके पुत्र तो पिताके धनको लेनेवाले है ॥ १५४ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक् । यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत् ॥१५५॥ समवर्णासु ये जाताः सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम् । उद्धारं ज्यायसे दत्वा भजेरन्नितरे समम् ॥ १५६ ॥

अर्थ–ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन जातिके पिताको धनको शूद्रका पुत्र लेनेवाला नहीं है किंतु जो धन पिताही शूद्राके पुत्रको देदेवे वही उसका धन है ॥ १५५ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन वर्णोंके मनुष्योंकी समान जातिवाली भार्याओंके जो पुत्र जन्में हों वे सब बडे भाईको हिस्सा देके पीछे बाकी रहेको बडे भाईकेसाथ संपूर्ण धनके समान भाग करेलेवे ॥ १५६ ॥

शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते । तस्या जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत् ॥१५७॥ पुत्रान् द्वादश यानाह नृणां स्वायम्भुवो मनुः । तेषा षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः १५८॥

अर्थ–शूद्रको समान जातिकी स्त्रीसे विवाह कराना लिखा है और दूसरे वर्णकी स्त्रीको नहीं ग्रहण करसक्ता क्योंकि शास्त्रोंमें विधान नहीं किया इससे उस समान जातिवाली शूद्रामें जो सौ पुत्रभी जन्में हों तबभी उन पुत्रोंका समान

भाग है ॥ १५७ ॥ मनुष्योंके जिन बारह पुत्रोंको स्वायंभुव मनु कहता भया उन पुत्रोंमें छह ६ पुत्र गोत्र धनको लेनेंवाले है और पीछे कहे हुए छह पुत्र गोत्र धनको प्राप्त होनेंवाले नहीं बांधवतो है इस्से उदक क्रिया अर्थात् जल देना आदि क्रियाओंको करो और पिंड नहीं देना ॥ १५८ ॥

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्त कृत्रिम एव च । गूढो त्पन्नोऽपविद्धश्च दायादा बान्धवाश्च षट् ॥ १५९ ॥ कानीनश्च सहोढश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा । स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः ॥ १६० ॥

अर्थ–औरस क्षेत्रज दत्त कृत्रिम गूढोत्पन्न अपविद्ध ये छह ६ पिताके धनके हिस्सेवाले है और इन्होंकी बांधवसंज्ञाभी है ॥ १५९ ॥ कानीन अर्थात् कन्याके जन्मा हुआ और सहोढ अर्थात् आपहीसे आया हुआ क्रीत अर्थात् मोल लिया हुआ और पौनर्भव और स्वयंदत्त यानें लडकेका पिता आप देदेवे और शौद्र ये छह पुत्र पिताके गोत्र धनकों प्राप्त होनेंवाले नहीं और बांधवतो है ॥ १६० ॥

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरन् जलम् । तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ॥१६१॥ यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ । यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद्गृह्णीत नेतरः ॥ १६२ ॥

अर्थ–जैसे मनुष्य तृण आदिकोंकरके बनाई हुई खोटीनाओंकरके जलको तिरता हुआ जैसे फलको प्राप्त होता है अर्थात् दुःख पाताहै तैसेही क्षेत्रज आदि कुपुत्रोंकरके परलोकमें होनेंवाले दुःखको नहीं तिर सक्ता इस्से यह जानागया कि क्षेत्रज आदि पुत्र औरसके सम नहीं ॥ १६१ ॥ विना पुत्रवाले मनुष्यको दूसरेकी स्त्रीमें उत्पन्न किया हुआ पुत्र दोनों पिताओंके धनका मालिक है और शास्त्र धर्मसे दोनों पिंड देनेंवालाभी है और जो क्षेत्रज पुत्रके पीछे औरस पुत्र होजावें तो वे औरस क्षेत्रज दोनों पुत्र पिताके धनके भागीभी है परंतु जो धन जिसके पिताका हो वही लेवे दूसरा न लेवे ॥ १६२ ॥

एकएवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः । शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्तु प्रजीवनम् ॥ १६३ ॥ षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् । औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

अर्थ–एकही औरस पुत्र पिताके धनका मालिक है और बाकी क्षेत्रजादिक पुत्रोंको पापके संबंधकों दूर होनेंके अर्थ भोजन वस्त्र आदिक देवे ॥ १६३ ॥

औरस पुत्र पिताके धनका विभाग करता हुआ क्षेत्रज पुत्रको छठा या पांचमा हिस्सा देवे यह पांचमा छठा हिस्सा गुनवालेको क्रमसे जानना अर्थात् निर्गुण-को पांचमा गुणीको छठा यह विकल्प जानना ॥ १६४ ॥

औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ । दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥१६५॥ स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् । तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥१६६॥

अर्थ—औरस और क्षेत्रज पुत्र पिताके धनके भागी है और बाकी जो दत्तक आदिक दश पुत्र है वे गोत्रके भागी है और क्रमकरके धनकोभी लेनेवाले है ॥ १६५ ॥ अपनी धर्मसे विवाही हुई स्त्रीमें जो मनुष्य आपही उत्पन्न करता है जिस पुत्रको, उस पुत्रको औरस जानना अपनी जातिकी स्त्रीमें अपनें सकास करके जन्मा हुआ यह पुत्र उत्तम कहाता है ॥ १६६ ॥

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा । स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः॥१६७॥ माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि । सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः ॥

अर्थ—जो मनुष्य मरगया होवे या नपुंसक होवे या प्रसवका विरोध करनेवाली व्याधिकरके पीडित हो ऐसे ऐसे मनुष्योंकी स्त्रीमें घृताक्तत्वादिनियोगधर्म करके जो कोई पुत्र जन्मता है वह क्षेत्रज पुत्र मनु आदिकोनें कहा है ॥ १६७ ॥ माता पिता आपसमें सलाहकरके प्रीतियुक्त जिस पुत्रको जलसे संकल्पकरके आपत्कालमें जो देते है वह दत्रिम पुत्र जानना ॥ १६८ ॥

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम् । पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥ उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः । स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

अर्थ—जो पुत्रको लेनेवाला है वह अपनी समान जातिवाला और गुणदोषोंको जाननेंवाला और पुत्रके गुणोंकरके युक्त ऐसे पुत्रको गोद लेवे और उसी पुत्रका नाम कृत्रिम जानना ॥ १६९ ॥ अपनें घरमें रहती हुई जिस मनुष्यकी स्त्रीकै पुत्र उत्पन्न होजावे और यह न जानाजाय कि किस पुरुषके संयोगसे जन्मा है तो फिर वह घरमें गुप्त उत्पन्न हुआ पुत्र जिसकी स्त्रीके जन्मा है उसी मनुष्यका है ॥ १७० ॥

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा । यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥ १७१ ॥ पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः । तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ १७२ ॥

अर्थ–मातापिताओंकरके त्यागा हुआ या मातापिताओंके मरें पीछे अन्योंकरके त्यागाहुआ पुत्रको जो मनुष्य पुत्रकरके रखता है वह पुत्र अपविद्ध नामवाला कहा है ॥ १७१ ॥ पिताके घरमें विना विवाही कन्या जिस पुत्रको गुप्त जन्मे लेती है वह पुत्र उस कन्याको व्याहनेंवाले पतिका है और नामकरके उस पुत्रको कानीन कहे ॥ १७२ ॥

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती । वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥१७३॥ क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् । स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ७४

अर्थ–जो गर्भवाली या जिसके गर्भकी नहीं मालूम हुई है ऐसी कन्या व्याही जाती है और पीछे विवाहके वह गर्भ उस स्त्रीके जन्मा है तो वह पुत्र विवाहनेंवाले पतिका है और सहोढ ऐसा कहाजाता है ॥ १७३ ॥ जो कोई मनुष्य अपना पुत्र बनानेके अर्थ किसीके पुत्रको पुत्रके मातापिताओंसे मोल लेवे तो वह मोल लिया पुत्र मोल लेनेवालेका है और समान जातिका हो या असमान जातिका हो मोल लिये क्रीतक पुत्रमें जातिका नियम नहीं है ॥ १७४ ॥

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया । उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥ १७५ ॥ सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा । पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ १७६ ॥

अर्थ–जो पतिकरके त्यागी हुइ स्त्री या विधवा स्त्री अपनें पतिके मरेपीछे अपनी इच्छाकरके दूसरे पुरुषकी भार्या होके जिस पुत्रको जन्मती है वह उत्पन्न करनेंवाले पुरुषका पौनर्भव पुत्र कहा है ॥ १७५ ॥ जो स्त्री अक्षतयोनि होवे अर्थात् जिस स्त्रीको पतिका संयोग न हुआ हो वह स्त्री यदि दुसरेके आश्रय होनेंकी इच्छा करे तो तव तिस पौनर्भव भर्त्ताको फिर विवाह कराना योग्य है अथवा ओ स्त्रीही बालक पतिको छोडके दूसरेका संयोगकरके फिर जवान होनेंपर अपनें पतिकेपास आवे तो तव उसके पतिको फिर विवाह करना योग्य है १७६

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात्॥ आत्मानं स्पर्श-
येद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥१७७॥ यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां का-
माद्युत्पादयेत्सुतम्। स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारवशः स्मृतः॥१७८

अर्थ—जिसके माता पिता मरगये हो वा जीवते हुए माताओंको वैर करके त्याग दिया होवे ऐसा पुत्र आत्माको याने अपनें शरीरको जिनके अर्थ देता है वह स्वयंदत्त नामवाला उसीका पुत्र मनुआदिकोंने कहा है ॥ १७७ ॥ विवाही हुई शूद्रामें जो ब्राह्मण कामकरके पीडित हुआ जिस पुत्रको उत्पन्न करता है वह जीवताही मुरदेकी समान है इस्से पारशव कहा है ॥ १७८ ॥

दास्या वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत्।सोऽनुज्ञातो हरे-
दंशमिति धर्मो व्यवस्थितः ॥१७९॥ क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकाद-
श यथोदितान्।पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः॥१८०॥

अर्थ—जो शूद्रकी दासीके पुत्र होवें या दाससंबंधी दासीके अपनें सकाससे होवे तो वह पुत्र पिताकरके आज्ञा दिया हुआ धर्मसे विवाही हुई स्त्रियोंके पुत्रों-के समान भाग लेवे यह शास्त्रोंमें धर्मव्यवस्थाका नियम है ॥ १७९ ॥ इन क्षे-त्रज आदि ग्यारह पुत्रोंको, पुत्रकेकरनेके योग्य जो श्राद्धादि क्रिया उसका लोप-न होवे इसवास्ते बुद्धिमान मुनियोंनें पुत्रप्रतिनिधिपना कहा है अर्थात् इन ग्या-रह पुत्रोंको यत्किंचित पुत्रभाव है ॥ १८० ॥

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः। यस्य ते बीजतो
जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥१८१॥ भ्रातॄणामेकजातानामेकश्चे-
त्पुत्रवान् भवेत। सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत् ॥ १८२

अर्थ—ये जो क्षेत्रज आदिक पुत्र दूसरे पुरुषके बीजसे उत्पन्न हुए औरस पुत्र-के प्रसंगसे कहे है वे जिसके बीजसे जन्मे है उसीके पुत्र हैं क्षेत्रवालेके नहीं हैं ॥ १८१ ॥ एक मातापिताके जन्में हुये अनेक भाइयोंमें जो एकभी पुत्रवाला होवे तो वे संपूर्ण भाई तिस पुत्रकरके पुत्रवाले हैं ऐसे मनुजीने कहा है॥ १८२ ॥

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेत्पुत्रिणी भवेत्। सर्वास्तास्तेन पुत्रेण
प्राह पुत्रवतीर्मनुः ॥१८३ ॥ श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापीयान् रि-
क्थमर्हति। बहवश्चेत्तु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः॥ १८४ ॥

अर्थ—एक पुरुषके बहुत स्त्री होवें तो उन स्त्रियोंमें एक स्त्रीभी जो पुत्रवाली होवे तो वे संपूर्ण स्त्री तिस पुत्रकरके पुत्रवाली है ऐसे मनुजीने कहा है ॥ १८३ ॥ औरस आदि पुत्रोंमें पूर्व पूर्व पुत्रके न होनेसें अधम अधम पुत्र धनको लेवें और जो बहुतसे पुत्र समान होवें तो संपूर्ण पुत्र धनके बराबर भागी हैं ॥ १८४ ॥

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः । पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च ॥ १८५ ॥ त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते । चतुर्थः संप्रदातैषां पञ्चमो नोपपद्यते ॥ १८६ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यके औरस पुत्र नहो और क्षेत्रज आदिक होवें तो उस मनुष्यके धनको लेनेंवाले न सोदर भाई है न पिता है, किंतु औरस पुत्रके अभावमें क्षेत्रज आदिक पुत्रही पिताके धनको लेनेवाले है और जिसकै पुत्र न होवे तो उसके धनको पिता लेवे या भ्राता लेवे ॥ १८५ ॥ पिता आदि तीन पुरुषोंके यानें पिता दादा बडा दादा इनको तर्पणमें जल देवे और तिन तीनोंहींकों पिंड देवे और चौथा पिंड जलका देनेवाला और पांचमेंका यह काम नहीं है ॥ १८६ ॥

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् । अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ १८७ ॥ सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा रिक्थभागिनः । त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते८८

अर्थ—सपिंडके मध्यमें जो औरस पुत्र है वह पिताके धनका मालिक है और औरसके अभावमें पुत्री या पुत्रिकाका पुत्र धनका भागी है और दौहित्रकेभी न होनेंमें क्षेत्रज आदि ग्यारह पुत्र क्रमसे धनके अधिकारी हैं और इनकेभी अभावमें अपनी स्त्री संपूर्ण धनकी मालिकनी है और इनसे पीछे समानोदक आचार्य लेवे या शिष्यही लेवे ॥ १८७ ॥ संपूर्णोंहींके अभावमें ब्राह्मण धनके भागवाले हैं परंतु वे ब्राह्मण कैसे होवेकि तीनों वेदोंके पढे हुए और शरीरको बाहर भीतरसे शुद्ध रखनेवाले और इंद्रियोंको जीतनेंवाले होवे इस प्रकारसे मरे हुए धनवाले पुरुषका श्राद्धादिक धर्म नष्ट नहीं होता है ॥ १८८ ॥

अहार्यं ब्राह्मणद्रव्यं राज्ञा नित्यमिति स्थितिः । इतरेषां तु वर्णानां सर्वाभावे हरेन्नृपः ॥ १८९ ॥ संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत् । तत्र यद्रिक्थजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत् ॥ १९० ॥

अर्थ—ब्राह्मणका धन राजाको न लेना चाहिये यह शास्त्रकी मर्यादा है और

इतर वर्णोंका अर्थात् क्षत्रियादिकोंका धनको पहिले कहे हुए मनुष्योंके अभावमें राजा लेवे ॥ १८९ ॥ विना पुत्रवाले संस्थित पुरुषकी भार्या यानें जिसका पति मरगया हो वह स्त्री समान गोत्रवाले पुरुषसे बडोंकरके नियुक्त करी हुई नियोग धर्मकरके पुत्रको उत्पन्न करे और अपनें पतिका धन पुत्रको समर्पण करे ॥१९०॥

द्वौ तु यौ विवदेयाता द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने। तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृह्णीत नेतरः ॥ १९१ ॥ जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः। भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥१९२

अर्थ—जिस स्त्रीका विवाहा पति मरजावे और एक पुत्र उस पतिका होवे और वह बालक पुत्रको जानके पतिके धनको लेके दूसरे पौनर्भव पतिसे संतान यानें दूसरे पुत्रको जन्मलेवे और वह पतिभी मरजावे तव उसकेभी धनको ग्रहण करलेवे फिर जव वे जवान होवे और धनके अर्थ विवाद करें तव जो धन जिसके पिताका हो वही उस उस धनको लेवे दूसरा न लेवे ॥ १९१ ॥ माताके धनको माताके मरेंपीछे संपूर्ण भाई और विनाव्याही बहन समान भाग करलेवे और अपने अपने भागको लेलेवे और विवाही हुई बहनको धनके अनुमानसे मानके अर्थ देवे ॥ १९२ ॥

यास्तासा स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः। मातामह्या धनात्किञ्चित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥१९३॥ अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥ १९४ ॥

अर्थ—जो तिन पुत्रियोंकी बिना विवाही पुत्री है उन्होंकोभी जैसा योग्य हो तैसा यत्किंचित् धन मातामही अर्थात् नानीके धनसें प्रीतिपूर्वक देवे ॥ १९३ ॥ विवाहके समयमें जो पिताको अग्निके समीप दिया है वह अध्यग्नि स्त्रीधन है और जो गौनेंमें धन दिया है वह अध्यावाहनिक है और जो भर्त्तानें अपने प्रीतिहेतु कर्ममें दिया है और स्त्रीके भाईने या पिताने माताने जो समयातासें दियाहै ऐसें छ प्रकारका यह स्त्रीका धन कहा है ॥ १९४ ॥

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्। पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥१९५॥ ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्वसु। अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते ॥ १९६ ॥

विवाहसे पीछे पतिके कुलसे या पिताकुलसे जो धन स्त्रीको प्राप्त हुआ है

और जो प्रसन्न होके पतिनें दिया है वह धन भर्त्ताके जीवते यदि स्त्री मर जावे तो तिसके पुत्रोंका है ॥ १७५ ॥ ब्राह्म दैव आर्ष गांधर्व प्राजापत्य इन पांच विवाहोंमें जो छ प्रकारका धन स्त्रियोंको प्राप्त हुआ है वह विना पुत्रवाली मरनेवाली स्त्रीका धन पतिका है ऐसे मनुआदिकोनें कहा है ॥ १९६ ॥

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु । अप्रजायामतीताया मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥ स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन । ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८

अर्थ–और जो धन स्त्रीको आसुर राक्षस पैशाच इन विवाहोंमें प्राप्त हुआ है वह धन विना पुत्रके उत्पन्न हुयें मरनेवाली स्त्रीको मातापिताओंका है ऐसे कहा है ॥ १९७ ॥ यदि ब्राह्मणके चारों वर्णोंकी स्त्री होवें और उन स्त्रियोंमें जो क्षत्रियआदि वर्णोंकी विना पुत्र और विना पतिवाली स्त्री मरजावे तो उस स्त्रीके पिताके दिये धनको उस स्त्रीकी सापत्न कन्या अर्थात् ब्राह्मणी सौतिकी कन्या ग्रहण करे और सापत्नेयी कन्याके अभावमें कन्याका पुत्र लेवे ॥ १९८ ॥

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात् । स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तुरनाज्ञया ॥ १९९ ॥ पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत् । न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते २००

अर्थ–भाई आदि बहुत सामान्य कुटुंब धनसे भार्या आदि स्त्रियोंकरके अलंकारके अर्थ धन चोरना न चाहिये और अपनें भर्त्ताकी आज्ञाके विना पतिके धनसेभी चोरके संचय न करे क्योंकि वह स्त्रीका धन नहीं है ॥ १९९ ॥ भर्ताके जीवते पतिकी आज्ञासें जो अलंकार स्त्रियोंनें धारण कर रक्खा है उस अलंकारको पतिके मरे पीछे धनको वांटनेंके समय पुत्र आदि नहीं वांट सक्के और जो वह वांटते है तो फिर पतित होते है यानें पापी होते है ॥ २०० ॥

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा । उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥ सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा । ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददद्भवेत् ॥ २०२

अर्थ–नपुंसक पतित जात्यंध बधिर उन्मत्त जड मूक और जो कुण रोगी हो या पांगला हो इत्यादि ये सब पिताके धनके भागी नही हैं किंतु भोजन वस्त्रके भागी है ॥ २०१ ॥ संपूर्ण इन क्लीबआदिकोकों इतने वे जीवे इतनें शास्त्रको

जाननेंवाले मनुष्यको उन संपूर्णोंके पिताका धन लेनेवाले न बुद्धिमान् मनुष्यको भोजन वस्त्र देना योग्य है और जो न देता है वह पतित होता है याने पापी होता है ॥ २०२ ॥

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीना कथंचन। तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥ यत्किञ्चित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति। भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥२०४॥

अर्थ-श्लोकमें कथंचन ऐसा कहनेसे यह जाना जाता है कि नपुंसक आदिकोंका विवाह करना अयोग्य है, यदि किसी प्रकार नपुंसकादिकोंकी विवाहकी इच्छा होवे तो नपुंसकके क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न होनेंसे तिस नपुंसकके भाईयोंके पुत्र नपुंसकके धनके भागी है ॥ २०३ ॥ पिताके मरे पीछे संपूर्ण धनके विभाग नहीं करनेंपर यदि बडा भाई अपनें औरससे कुछ अधिक धनको प्राप्त होवे तो उस धनमें विद्या पढे हुये छोटे भाइयोंका भाग है अन्योंका नहीं है ॥ २०४॥

अविद्याना तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत्। समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्य इति धारणा ॥२०५॥ विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत्। मैत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

अर्थ-संपूर्ण भाइयोंका खेतीवणज आदि व्यापरसे जो धन होता है उस धनमें सब भाइयोंका समान भाग है तहां उद्धार नहीं होता क्योंकि पिताका नहीं है ॥ २०५ ॥ विद्या धन जो विद्यासे मिला हो और मैत्री धन जो मित्रतासे मिला हो औद्वाहिक, जो बिवाहमें वरको मिला हो मधुपर्कमें जो मिला हो इत्यादि धन जो जिसको मिला है वह धन उसीका है ॥ २०६ ॥

भ्रातॄणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा। स निर्भाज्यः स्वकादंशात्किञ्चिद्दत्वोपजीवनम् ॥ २०७॥ अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जितम् ॥ स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥

अर्थ-जो राजाकी नौकरी आदि कर्मोंकरके धनको संचय करता है वह भाइयोंके साधारण धनकी इच्छा न करता है तोंभी वेह भाइयोंनें बापके धनमेंसे किंचित धन देके वह प्रथक् कर देना योग्य है क्योंकि न्यारा करनेसे उसके पुत्रादिक कभी कालांतरमें विवाद न कर सकेंगे धनके लिये ॥ २०७ ॥ पिताके धनको नहीं नष्ट कराता हुआ जो अपनें श्रमसे धनको करता है यानें खेती आदि क्रे-

शोंसे संचय करता है वह अपनें कमाये धनको न देनेकी इच्छा करता हुआ भाइयोंको देनेके अर्थ अयोग्य है अर्थात् नहीं देवे यदि इच्छा होवे तो देवे ॥२०८॥

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात् । न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥२०९॥ विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन्पुनर्यदि । समस्तत्र विभागः स्याज्जैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ २१० ॥

अर्थ–पिता अपनें धनको यदि किसीको देके लेनेंको न समर्थ हो और पुत्र अपनी शक्तिसे उस धनको ले लेवे तो फिर उस अपनें संचय किये धनको न देनेकी इच्छा करता हुआ पुत्रोंको न देवे ॥ २०९ ॥ पहिले एकवार सोद्धार निरुद्धार वा धनको वांटके फिर संपूर्ण भाई जो धनको मिलाके साथ वसते रहैं यदि फिर वे विभाग करें तो समान भाग करना चाहिये वडेको उद्धार नहीं देना

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः । म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥२११॥ सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् । भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥२१२॥

अर्थ–जिन भाइयोंमें कोई भाई विभाग समयमें संन्यास लेके अपनें भागसे दूर हो जावे या मरजावे तो उसका हिस्सा लोप नहीं होता ॥ २११ ॥ किंतु सहोदर भाई और सहोदरा वहेन ये सब इकट्ठे होके उसके भागको समानकरके वांट लेवे ॥ २१२ ॥

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद्भ्रातॄन् यवीयसः। सो ऽज्येष्ठः स्यादभागश्च नियंतव्यश्च राजभिः ॥२१३॥ सर्वे एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम् । न चादत्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् २१४

अर्थ–जो वडाभाई लोभसे छोटे भाइयोंको ठगता है वह अपनें वड पनसे रहित हो जाता है और सोद्धारकोभी लेने योग्य नहीं है और उसको राजाको दंड देना योग्य है ॥ २१३ ॥ जो संपूर्ण भाई द्यूत याने जूआ और वेश्याका संग इत्यादिक विकर्मोंमें आसक्त रहनेंवाले होंतो वे पिताका धन लेनेको नही योग्य है और छोटे भाइयोंको नही वडा भाई यह न करै कि वहींमें जमाकर लेकि मैने तो दे दिया ॥ २१४ ॥

भ्रातॄणामविभक्ताना यद्युत्थानं भवेत्सह । न पुत्रभागं विषमं पिता

दद्यात्कथंचन ॥ २१५ ॥ ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम् । संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह ॥ २१६ ॥

अर्थ-जो संपूर्ण भाई पिताके साथ वसतेहुए धनको विना वांटे यदि धन संचयकरनेको सब साथही उत्थान करे यानें पर देशको जावें तो तहां विभाग कालमें किसी पुत्रको अधिक धन पिता न देवे ॥ २१५ ॥ जो जीवता हुआ पिता ही पुत्रोंकी इच्छा देखके विभागकर देवे और धनका विभाग करे पीछे जो पिताके और पुत्र उत्पन्न हो जावें तो वह पुत्र पिताके मरे पीछे पिताके धनको लेवे और जिन पुत्रोंके भागकर दियेथे उनोंने वह धन फिर पिताके धनमें मिलादिया है तो फिर उस पुत्रके उन भाइयोंसे पिताके मरे पीछे समान भाग करना चाहिये२१६

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात् । मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम् ॥ २१७॥ ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि । पश्चाद्दृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ-जिस पुत्रके संतान नहीं हो उस पुत्रके धनके हिस्सेको माता लेवे और माताकेभी मरें पीछे पिताकी माता लेवे या नेंदादी लेवे ॥ २१७ ॥ जब पितानें ऋण और धन ये सब शास्त्रकी विधिसे विभागकरके पुत्रोंको दे दिये हों तिससें पीछे जो कुछ करजा या धनविना जानें वांटनेंके समय रहगया हो उसको संपूर्णको सब भाई समान ले लेवे ॥ २१८ ॥

वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः । योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ २१९ ॥ अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः । क्रमशः क्षेत्रजादीनां द्यूतधर्मं निबोधत ॥ २२० ॥

अर्थ-वस्त्र वाहन आभूषण ये वस्तु हिस्से कियें पहिले जो जिसनें भोगी है वह उसीकी है उसका विभाग नहीं करना यह थोरे मोलकी वस्तुका क्रम है बहुत मोलवालीका विभाग कर लेवे और स्त्रियोंनें पकायाहुआ अन्न जल ये वांटनेंको अयोग्य है दासी आदि योग क्षेम यानें मंत्री पुरोहित आदि और गौ आदिकोंका मार्ग इन संपूर्णोके विभाग नहीं करनें ऐसे मनुआदिकोंने कहा है२१९ यह क्षेत्रजआदि पुत्रोंके धनका हिस्साका विभागकरनेंका प्रकार तुह्मारेआगे कहा है और अवद्यूत व्यवस्थाको सुनों ॥ २२० ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत् । राजान्तकरणावेतौ द्वौ

दोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥ प्रकाशमेतत्तास्कर्यं यद्देवनसमाह्वयौ । तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥

अर्थ–द्यूत अर्थात् जूआ समाह्वय याने जानवर पक्षी आदिके लडानेंसे हार जीत करना, इन दोनोंको राजा अपनें राज्यसे निकास देवे क्योंकि ये दोनों दोष राजाओंके नाशकरनेंवाले है ॥ २२१ ॥ जूआ और समाव्हया अर्थात् पक्षिआदिकोंकी लडाइसे हार जीत करना ये प्रत्यक्षमें चौरपना है इनसे द्यूत समाह्वयके दूर करनेंमें राजा यत्नकरनेंवाला होवे ॥ २२२ ॥

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥२२३॥ द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा । तान्सर्वान् घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः॥२२४॥

अर्थ–विना पक्षियोंकी लडाइके जो हार जीत किया जाता है वह लोगोंमें द्यूत अर्थात् जुआ ऐसा कहा जाता है और जो जानवर मेंढा मुरगा आदिकोंकी लडाइसे हार जीत होती है उसको समाह्वय कहते है ॥ २२३ ॥ द्यूत और समाह्वय इन दोनोंको जो करे और जो करावे तो उनको राजा हस्त छेदादिकोकरनेसे मरवावे और जो शूद्र होके जनेऊआदि ब्राह्मणके चिन्होंको धारण करे तो उन सबको राजा मरवावे ॥ २२४ ॥

कितवान्कुशीलवान् क्रूरान्पाषण्डस्थांश्च मानवान् । विकर्मस्थान् शौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥२२५॥ एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः । विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः २२६

अर्थ–कितव अर्थात् जूआ खेलनेंवाले कुशील अर्थात् श्रुतिस्मृतिके धर्मसें रहित होनेंवाले और क्रूर पाषंडमें स्थित रहनेंवाले मनुष्य और विना आपत्कालमें दूसरेके कर्मसे आजीवन करनेंवाले और मदिरा पीनेंवाले इतनें मनुष्योंको जल्दी राजा अपनें राज्यसे निकला देवे ॥ २२५ ॥ इतनें कितवादिक राजाके राज्यमें प्रकट चोर वर्तमान रहते है सोवे रहतेहुवे नित्य वंचन विकर्म क्रियाकरके कुशल युक्त सज्जनोंको पीडा करते है ॥ २२६ ॥

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् । तस्माद् द्यूतं नसेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७॥ प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत

यो नरः। तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

अर्थ–इसी समयमें जूआ वैर करनेंवाला नहीं है किंतु पूर्व कल्पोंमेंभी यह जूआ अतिशय वैर करनेंवाला दीखता है इस्से बुद्धिमानोंको हांसीके अर्थभी जूआका सेवन करना नहीं ॥ २२७ ॥ जो मनुष्य जूआको गुप्त होके या प्रकट होके खेलता है उसको जैसी राजाकी इच्छा होवे तैसा दंड देवे ॥ २२८ ॥

क्षत्रविट्शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन्। आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः॥२२९॥स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धनां दरिद्राणां च रोगिणाम्। शिफाविदलरज्ज्वाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम्॥२३०॥

अर्थ–क्षत्रिय वैश्य शूद्र जातिमें होनेवाले मनुष्य यदि निर्धनतासे दंड देनेंको समर्थ नहीं तो अपने अपने कर्मकरके दंड देवे यानें नौकरीकरके पूराकर देवें और ब्राह्मण शनैशनै देवे अर्थात् ब्राह्मणसे नौकरी न करावे ॥ २२९ ॥ स्त्री बालक उन्मत्त वृद्ध दरिद्री रोगी इनोंको राजा कांमचीवेत रस्सी आदिकोंसे दंड देवे ॥ २३० ॥

ये नियुक्तास्तु कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम्। धनोष्मणा पच्यमानास्तान्निःस्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥ कूटशासनकर्तॄंश्च प्रकृतीनां च दूषकान्। स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद्विट्सेविनस्तथा॥

अर्थ–जो राजाने अदालतमे मुकदमेंवालोंके मुकदमें करनेंको नियुक्तकर रक्खे है वे यदि धनसे आधीन होके कामवालोंके कामोको विगाड देते है उनोंका सर्वस्व राजा लेके उनोंको निर्धनकर देवे ॥ २३१ ॥ झूठेही राजाकी मोहर करनेंवाला और मंत्रियोंके मन फाडनेंवाला और स्त्री ब्राह्मण बालककों मारनेंवाला वैरीसे प्रीतिकरनेंवाला ऐसे ऐसे मनुष्योंको राजा मरवा देवै ॥ २३२ ॥

तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत्। कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत् ॥२३३॥ अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा। तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥२३४॥

अर्थ–जहां कहीं करजालेनेंआदि व्यवहारमें जो मुकदमा शास्त्रव्यवस्थासे निर्णयकरके किया जावे और सजातक ठीक होगई हो तो फिर उस मुकदमेंको लौटके नकरे ॥ २३३ ॥ अमात्य अर्थात् मंत्री अथवा प्राड्विवाक यानें मुकद-

माकरनेंवाला हाकिम जो मुकदमेंको अन्यथा करदेवे तो फिर उस मुकदमेंको राजा करे और उन मंत्रियोंको और प्राड्विवाकको सहस्रपण दंड देवे ॥२३४॥

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः । एते सर्वे पृथक् ज्ञेया महापातकिनो नराः ॥२३५॥ चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तम-कुर्वताम् । शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत् ॥ २३६ ॥

अर्थ–ब्राह्मणको मारनेंवाला मदिराका पीनेंवाला सुवर्णका हरनेंवाला मनुष्य और गुरुकी स्त्रीको गमनकरनेंवाला ये सब महा पातकी जाननें ॥ २३५ ॥ ये चार पूर्व कहेहुये महापातकी जो यदि पापोंके दूर होनेंकेअर्थ प्रायश्चित न करे तो उनको शरीर दंड अपराधके अनुसार देवे धनके लेनेंकरके धन संबंधी दंडभी धर्मकेअनुसार देवे ॥ २३६ ॥

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः । स्तेये च श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान् ॥२३७॥ असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्याविवाहिनः । चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः २३८

अर्थ–जो गुरुकी स्त्रीसे गमन करते है उन पुरुषोंके मस्तकमें तपाये हुए लोहेकरके योनिका चिन्हकर देवे और मदिराके पीनेवाले द्विजातिके मस्तकमें सुरा पात्रका चिन्हकर देवे और सोनेके हरनेंवालेके मस्तकमें कुत्तेके पैरका चिन्ह तपायेहुये लोहसे करदेवे ब्राह्मणको मारनेंवाले मनुष्यका शिर काट लेवे २३७ पूर्व कहे हुये जो महापातकी मनुष्य है इन सबको अन्न भोजन करना नहीं चाहिये और इन पापियोंका पूजन न करे और इनको पढावेभी नहीं और इनका विवाहभी न करे और ये संपूर्ण धर्मोंसे बहिस्कृतहुये पृथ्वीमें भ्रमतेहुये फिरने योग्य है ॥ २३८ ॥

ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः ।निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥२३९॥ प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम् । नांक्या राज्ञा ललाटेस्युर्दाप्यास्तूत्तमसाहसम् २४०॥

अर्थ–जातिके भाईबांधवोको जिनके मस्तकमें चिन्हहो रहे है वे मनुष्य त्यागने योग्य है और उन्होंके ऊपर दया न करनी और उनको नमस्कार न करना यह मनुकी आज्ञा है ॥ २३९ ॥ शास्त्रमें कहेहुये प्रायश्चितको करनेंवाले ब्राह्मण क्ष-

त्रिय वैश्यके मस्तकमें राजाको चिन्ह कराना नहीं योग्य है उत्तम साहस अर्थात् उत्तम दंड देना योग्य है ॥ २४० ॥

आगःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः । विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः ॥२४१॥ इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः । सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२॥

अर्थ–यदि ब्राम्हणसे अपराध होजावे तो गुणवान् ब्राह्मणको मध्यम साहस दंड देवे और पहिले कहाहुआ उत्तम दंड तो निर्गुणको देना कहा है और जो कामसे अपराध करदेवे तो धन परिच्छदकरके संयुक्तको अपने राज्यसे निकालदेवे ॥ २४१ ॥ ब्राह्मणसे अन्य क्षत्री वैश्य शूद्र यदि ये विना इच्छा कियें इन पापोंको करता है तो इन पापोंको करनेंवालाका सर्वस्व हरना योग्य है और इच्छाकरके करनेंवालोंको तो मारनाही योग्य है ॥ २४२ ॥

नाददीत नृपः साधुर्महापातकिनो धनम् । आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥२४३॥ अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत् । श्रुतवृत्तोपपन्ने वा ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥

अर्थ–धर्मात्मा राजा पहापातकी संबंधी धनको न ग्रहण करे और लोभसें ग्रहण करता हुआ पुरुष तिस महातक दोषकरके संयुक्त होता है ॥ २४३ ॥ तिस दंड धनको नदी आदि जलमें प्राप्तकरके वरुणदेवताके अर्थ दे देवे या वेदशास्त्रकरके संपन्न ब्राह्मणको दे देवे ॥ २४४ ॥

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः । ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥२४५॥ यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भ्यो धनागमम् । तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥२४६॥

अर्थ–महापातकीके दंड धनका स्वामी वरुण है इस्से राजाओंकाभी दंडका देनेवाला होनेंसे प्रभु है जैसे वेदोंका पार जानेवाला ब्राह्मण संपूर्ण जगत्का स्वामी है इस लिये प्रभु होनेंसे ब्राह्मण और वरुण ये दोनों दंड धनके लेनेको योग्य है ॥ २४५ ॥ जिस देशमें महापातकीके धनको राजा नहीं ग्रहण करते है उन देसोंमें परिपूर्ण कालकरके मनुष्य जन्मते है और घनी आयुवाले होते है२४६

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् । बालाश्च न प्र-

मीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥ ब्राह्मणान्बाधमानं तु कामादवरवर्णजम् । हन्याच्चित्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

अर्थ–वैश्योंके जैसे धान्यादि सस्यवोएहुए पृथक्पृथक् उत्पन्न होते है तैसेही तिन राजोंकी प्रजा जन्मती है और अकालमें बालक नहीं मरते है और कोई विकारभी नहीं होता है ॥ २४७ ॥ अपनी इच्छासे ब्राह्मणोंको पीडा देनेवाले शूद्रको नानाप्रकारके बहुत क्लेशोंके देनेवाले मारनेके उपायोंकरके राजा मरवा देवे ॥ २४८ ॥

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे । अधर्मो नृपतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः ॥ २४९ ॥ उदितोयं विस्तरशो मिथो विवदमानयोः । अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः ॥ २५० ॥

अर्थ–जो मनुष्य मारनें योग्य नहीं है उन मनुष्योंके मारनेमें जो अधर्म राजाओंने शास्त्रकरके जाना है उतनाही मारनेके योग्य मनुष्यके छोडनेमें अधर्म है और शास्त्रकी रीतिसे दंड देनेंवालेको धर्म होता है इस्से पापीको दंड देना अच्छा है ॥ २४९ ॥ अठारेह किसमेंके ऋण यानें करजा लेनें आदि व्यवहारोंमें आपसमें विवाद करतेहुए अर्थि प्रत्यर्थियोंका यह कार्यका निर्णय कहा है ॥२५०॥

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः।देशानलब्धान्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत् ॥ २५१ ॥ सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः । कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् ॥ २५२ ॥

अर्थ–इस कहेहुये प्रकारकरके धर्मसे निर्णयको करतेहुये राजा मनुष्योंके अनुरागकरके बहुत देशोंके राजको प्राप्त होवेगे और लब्धहुए देशोंको अच्छे प्रकारकरके पालन करेंगे ॥ २५१ ॥ जांगल सस्यकरके संपन्न जो देश उसमें अच्छेप्रकार आश्रित होके और तहां सातमी अध्यायमें कहे प्रकारसे किलावनाके चोररूप कंटकोंके दूर करनेंमें सदा उत्तम यतन करे ॥ २५२ ॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् । नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः ॥२५३॥ अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः । तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ॥ २५४॥

अर्थ–श्रेष्ठ पुरुषोंकी रक्षा करनेंसे और साहसके नाश करनेसे या शिक्षा दे-

नेंसे प्रजाके पालनमें तत्पर होनेंवाले राजा स्वर्गको जाते है इससे चोररूप कंट-
कोंके नाशमें जतन करे ॥ २५३ ॥ जो चोरोंको शिक्षारूप दंड नहीं देतेहुये
राजा छठे हिस्सेकरको लेते है उस राजाको राज्यमें वसनेंवाले मनुष्यको शर्त है
और वह स्वर्गमेंभी नहीं प्राप्त होता है ॥ २५४ ॥

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् । तस्य तद्वर्धते नित्यं
सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २५५ ॥ द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्र-
व्यापहारकान् । प्रकाशांश्चाप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥२५६॥

अर्थ—जिस राजाकी भुजाओंके बलसे राज्यमें वसनेंवाले मनुष्य चोर आदि-
कोंके भयसें निर्भय रहते है उस राजाकी प्रजा नित्य वृद्धिको प्राप्त होती है जै-
से जलके सींचनेसे वृक्ष बढते है तैसे ॥ २५५ ॥ दूत हैं नेत्र जिस्के ऐसा राजा
दो प्रकारके पराये धनके हरनेंवाले चोरोंको जानैं एक प्रकट दूसरा अप्रकट ॥२५६॥

प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्योपजीविनः।प्रच्छन्नवञ्चकास्त्वेते ये
स्तेनाटविकादयः ॥ २५७ ॥ उत्कोचकाश्चोपधिका वञ्चका कि-
तवास्तथा । मङ्गलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चेक्षणिकैः सह ॥ २५८॥
असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः। शिल्पोपचारयुक्ताश्च
निपुणाः पण्ययोषितः ॥ २५९ ॥ एवमादीन्विजातीयान्प्रका-
शाँल्लोककण्टकान् ।निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः २६०

अर्थ—तिन चोरोंमें जो अनेक प्रकारकी दुकानोंसे अनुचित प्रकारकें परधन-
को हरते है वे प्रकट चोर है और जो वनमें वसके श्रेष्ठ पुरुषोंको मारके गुप्त
धनको लेते है वे गुप्त चोर है ॥ २५७ ॥ जो मुकदमोवालेसे लांच लेके मुकदमें-
वालोंके कामको विगाड देते है वे उत्कोचक होते है और औषधिक उने कहते
है कि जो भय दिखाके धनवालेसे धन लेते है और ठग और पाखंडी और जो
किसीको धन मंगलादिके लोभ देके ठगते है वे और भद्र उन्हें कहते हैं कि जो
जिनोंके मनमें पाप हो और अच्छे होके जो धन ठगते है ॥२५८॥ और जो दूसरेके
लिखेहुयेके अच्छे बुरेको जानते है और महामात्र अर्थात् हस्तीके पढानेवाले
और वैद्य ये दोनों असम्यक् करनेवाले और शिल्प अर्थात् लिखने आदि उप-
चार युक्तोको और दूसरे मनुष्यको वस करणोंमें निपुण जो वेश्या स्त्री इन स-
बोंको जाहरदारीके ठग जानलेवे और जो ब्राह्मणके वेशको धारण करनेवाले

शूद्र आदि है इनकोभी राजा ठग जाने ॥ २५९ ॥ इन पूर्व कहे वंचकोंको प्रकट संसारके कंटकरूप जाने और अन्य जो श्रेष्ठ पुरुषोंके रूपको धारणकरके निगूढ अर्थात् गुप्त विचरते है जो अधम पुरुष है उन सबको वडी सजा देके राजा अपनें वस करे ॥ २६० ॥

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः । चारैश्चानेकसंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥ तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः । कुर्वीत शासनं राजा सम्यक् सारापराधतः ॥ २६२ ॥

अर्थ—उन पूर्वोक्त वंचकोंको श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणकरके गुप्त होनेंसे और तिनोंके कर्म करनेंसे आचरणसे अनेक स्थानके वसनेंसे जानके सकत दंड देके राजा अपनें वसमें करे ॥ २६१ ॥ तिन गुप्त प्रकट चोरोंके दोषोंको संसारमें प्रकट करके तिनोंके चौर्य आदि कर्मोंको तत्त्वसे देखके अपराधके अनुसार तिनोंके धन शरीरसामर्थकी अपेक्षाके अनुसार राजा दंड देवे ॥ २६२ ॥

नहि दण्डादृते शक्यः कर्तुं पापविनिग्रहः । स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरता क्षितौ ॥ २६३ ॥ सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः । चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च २६४

अर्थ—पापोंमें जिनकी बुद्धि है और जो दुष्ट श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणसे पृथ्वीमें विचरते है उन चोरोंको दंडकेविना पापकर्मसे दूर करनेंको कौन समर्थ है कोईभी नहीं है इससे उनोंको दंड देना श्रेष्ठ है ॥ २६३ ॥ सभाप्रपा अर्थात् जलकी प्याऊ बेचनेंका घर वेश्या स्त्रीका घर मदिराके अन्नोंके बेचनेंके स्थान चौराहा प्रसिद्ध वृक्षोंकी जड जनसमूहोंके स्थान चौपाड आदि और देखनें भालनेंकी जगंह ॥ २६४ ॥

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च । शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥ एवंविधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजङ्गमैः । तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

अर्थ—जीर्ण धर्मशाला आदि अरण्य वन शिल्पी जनोंके घर शून्य मकान आम्र आदिकोंके वन बगीचे ॥ २६५ ॥ इन प्रकारोंकी जगंहमें राजा बेल वृक्ष आदिकोंमें एकांत स्थित होनेंवाले और पैदल विचरनेंवाले ऐसे अपनें जसूसोंक-

रके और सिपाही वगैरोंकरके चौरोंका निवारण करे अर्थात् ऐसे स्थानोंमें विशेषकरके चौर ठहरे रहते है ॥ २६६ ॥

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः । विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥ भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः । शौर्यकर्मापदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

अर्थ–उनकी सहायताको कहनेंवाले और उनके पीछे चलनें वा अनेक प्रकारके कर्मोंको करनेंवाले पहले चोरकी वृत्ति करनेंवाले अत्यंत निपुण ऐसे जासूसोंकरके राजा तिन चौरोंको मालूम करे अर्थात् बंदोबस्त करे ॥ २६७ ॥ वे जासूस उन चौरोंको खानेंपीनेंके किसी वहानेंसे अथवा हमारे देशमें उत्तम ब्राह्मण है उसके दर्शन करेंगे ऐसे दर्शनके वहानेंसे अथवा कुस्ती युद्ध आदिकोंके वहानेंसे लाके राजाके आगे समागम करदेवे ॥ २६८ ॥

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये । तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान् ॥२६९॥ न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिकोनृपः । सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥२७० ॥

अर्थ–जो चौर तहां भक्ष्य भोज्य आदिकोंके वहानेंसे पकडनेंकी शंकाको जानके न आवें और जो राजाके उन जासूसोंके मारनेंके वास्ते सावधान होजावें तो राजा उनको जबर्दस्तीसे पकडके उनको भाई बंधु मित्र पुत्रआदि सब कुटुंब समेंत मरवा देवे ॥ २६९ ॥ धार्मिक राजा द्रव्य हरना लूट मारपीट वगैरहसेविना निश्चयहुए चौरोंको न मरवावे किंतु द्रव्य आदिकोंकी चोरीकी साबूती देखके उनको निस्संदेह मरवा देवे ॥ २७० ॥

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः । भाण्डावकाशदाश्चैव सर्वास्तानपि घातयेत् ॥ २७१॥ राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्तांश्चैव चोदितान् । अभ्याघातेषु मध्यस्थान् शिष्याचौरानिव द्रुतम् २७२

अर्थ–गामोंमें जो कोई पुरुष चौरोंको जानके तिनको भोजन आदिक देते है और उनके योग्य वरतन आदि देते है तथा उनको अपनें घरोंमें छिपाते है उनकोभी राजा मरवा देवे ॥ २७१ ॥ राज्यमें जो रक्षामें नियुक्त रहनेंवाले अर्थात पुलिस आदिके आदमी और सीमापर रहनेंवाले सीपाही वगैरह क्रूर होके चौरोंके उपदेशमें मध्यस्थ होवें उनकोभी राजा शीघ्रही चौरोंकेसमान दंड देवे २७२

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः । दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम् ॥२७३॥ ग्रामघाते हिताभङ्गे पथि मोषाभिदर्शने । शक्तितो नाभिधावन्तो निर्वास्याः सपरिच्छदाः२७४

अर्थ-जो ब्राह्मण पराये यज्ञ आदि कराके वा दान आदि धर्म बतलाके उन प्रतिग्रहोंको लेते है ऐसें धर्म जीवन अर्थात् धर्मकी आजीविकासे जीनेंवाले और अपनें धर्मसे भ्रष्ट ब्राह्मणोंकोभी राजा दंड देके संताप करे ॥ २७३ ॥ डाकूर आदिकोंसे ग्रामके लुटनेमें और पुल आदिकोंके लूटनेमें मार्गमें चोरके दिखनेमें जो तहांके निकटमें रहनेंवाले जन अपनी शक्तिके अनुसार रक्षा नहीं करते है उनको राजा उनके असबाब आदिकोंसहित अपनें देशसे निकालदेवे ॥२७४॥

राज्ञः कोषापहर्तृंश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान् । घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥२७५॥ संधिं छित्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः । तेषां छित्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत् २७६

अर्थ-राजा अपनें खजानेंको हरनेवालोंको वा हुक्म आदि न करनेंसे प्रतिकूल चलनेवालोंको और शत्रुओंको वहकाके राजाके संग वैर बढानेवालोंको कसूरके अनुसार तिनकी जीभ नाक आदि कटाके अनेक प्रकारके दंडोंसे वध करे ॥२७५॥ जो चौर रात्रीमें दिवालफोरके चोरी करते है राजा उनके हाथोंको-कटवाके फिर उनको पैनी शूलीर लटकवा देवे ॥ २७६ ॥

अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे । द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥ अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान् । संनिधातृंश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

अर्थ-जो चौर वस्त्रमें वंधेहुए सुवर्ण आदिकी गांठको काटलेते है राजा पहली वार पकडनेंमें उनकी अंगुली कटवा देवे और दूसरी वार पकडनेंमें उनके हाथ पैर कटवा देवे तीसरे वारभी उनको कहीं पकडे तो फांशी दिवादेवे ॥ २७७ ॥ गांठि काटनें आदि चोरी करनेवालोंको जानके जो मनुष्य अग्नि देते है वा भोजन देते है वा शस्त्र देते है अथवा जो उनको रहनेंकेवास्ते मकान देते है वा उस चोरीके धनको जो धरते है उनकोभी राजा चौरकी तरंह दंड देवे ॥ २७८ ॥

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेन वा । यद्वापि प्रतिसंस्कुर्यादा-

प्यस्तूत्तमसाहसम् ॥ २७९ ॥ कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेद-
कान् । हस्त्यश्वरथहर्तृंश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥

अर्थ–जो तलाव बावडी आदि जलाशयोंको पुल आदि बांधके तोडवा देता है उसको जलमें डुबवाके मरवादेवे और जो यदि उस तुडवायेहुएको फिरसे चिनवा देवे तो उसको उत्तम साहस संज्ञक पहले कहाहुआ दंड देवे ॥ २७९ ॥ राजाके खजानेंके मकानोंको अथवा शस्त्रोंके मकानोंको अथवा देवताओंके मकानोंको विनाशनेंवाले जनोंको अथवा हस्ती अश्व रथ इनको हरनेंवालोंको राजा शीघ्रही मरवा देवे ॥ २८० ॥

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत् । आगमं वाप्यपां भि-
न्द्यात्सदाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥ समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्व-
मेध्यमनापदि । स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् २८२

अर्थ–जो कोई पुरुष प्रजाकेवास्ते पहले किसीके बनायेहुए सब जलका नाश करदेता है वह वध दंडके योग्य है और जो तलावमें आतेहुए जलको रोकता है वह प्रथम साहस दंड देनेके योग्य है ॥ २८१ ॥ रोगकेविना जो पुरुष राजमार्गमें सडक आदिमे जंगल फिरदेता है वह दो पण दंड देवे और मलको शीघ्रही उठाडाले ॥ २८२ ॥

आपद्गतोऽथवा वृद्धो गर्भिणी बाल एव वा । परिभाषणमर्हन्ति
तच्च शोध्यमिति स्थितिः॥२८३॥चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या
प्रचरतां दमः । अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

अर्थ–व्याधिवाला पुरुष वृद्ध गर्भिणी स्त्री बालक ये दंड देनेंको योग्य नहीं है किंतु यह क्या किया ऐसे झडकनेंके योग्यहै और उस जगहको शुद्ध करवा लेवे ऐसी शास्त्रकी मर्यादा है ॥ २८३ ॥ कायशल्य आदि सब प्रकारकी चिकित्सा करनेंवाले वैद्य जो अच्छा इलाज न करते हों तो दंड देना योग्य है गौ अश्व आदि पशुओंके खराब इलाज करनेवालेको प्रथम साहस दंड देवे और मनुष्यों-के खराब इलाज करनेंमें मध्यम साहस दंड देवे ॥ २८४ ॥

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः । प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च
दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥ अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने
तथा । मणीनामपवेधे च दण्डः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

अर्थ-प्रतिमा और लकडीआदिकोंका छोटासा पुल ध्वजानदी कूवा आदिकी छकडी इनको तोडनेंवाला पुरुष इन सबको फिरसे बनवादेवे और पानसौ पण ५०० दंड देवे ।। २८५ ॥ श्रेष्ठद्रव्योंमें दूषितद्रव्य मिलाके तिनको दूषित करनेंमें और विना बींधीहुई मणिआदिकोंके फोडनेंमें और मोतिआदिकोंको खराब बींधनेंमें प्रथम साहस दंड देवे ॥ २८६

समैर्हि विषमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा । समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा ॥ २८७ ॥ बन्धनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत् । दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥२८८॥

अर्थ-बराबरके मूल्य देनेंवालेको जो घटिया बढिया चीज देनेंका व्यवहार करता है अथवा जो समान मूल्यके द्रव्यको देके, अर्थात् किसी चीजको देके किसीसे घटाबढाके मूल्य लेता है वह मनुष्य प्रथम साहस वा मध्यम साहस दंड देनेंको योग्य है ॥ २८७ ॥ राजा बंधनके बेडी आदिके मकानोंको मार्गमें बनवावे जहां पापकरनेंवाले विकृतहुए उन दुःखित पुरुषोंको सब देखें ॥ २८८ ॥

प्राकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम् । द्वाराणां चैव भङ्क्तारं क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥२८९॥ अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः । मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च ॥ २९० ॥

अर्थ-और राजाके कोट दीवालआदिको तोडनेंवाला वा खाहीको भरनेंवाला वा उसको दरवाजोंको तोडनेंवाला ऐसे पुरुषको राजा शीघ्रही अपनें देशसे निकलवा देवे ॥ २८९ ॥ संपूर्ण अभिचारोंमें अर्थात् शास्त्रोक्त मारणमंत्र यंत्र होम आदि घायलके कर्तव्योंमें और किसीको मोहके धनग्रहणकेवास्ते वशीकरणमें तथा अनेक प्रकारके उच्चाटन आदिकर्मोंमें दोसौ २०० पण दंड देवे और जो इन कामोंमें मरना हो जावे तो करनेंवालेको खूनकी सजा देवे ॥ २९० ॥

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च । मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्वधम् ॥ २९१ ॥ सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः । प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः ॥ २९२ ॥

अर्थ-जो नहीं जामनेंलायक बीजको अच्छा बताके बेचता है और जो यह सबसे अच्छा है ऐसे उत्कृष्ट कहके बीजको बेचता है जो सीम आदिमर्यादको तोडता है उसको विकृत वधको प्राप्त होवे अर्थात् नाक कान आदि काटनेके यो-

ग्य है ॥ २९१ ॥ सब ठगोंमें अत्यंत पापवाला जो सुनार कांटेसे तोलेहुए सुवर्ण आदिमें खोट मिलाके तिस सुवर्णको अन्यायसे हरलेवे उसका कसूर देखके संपूर्ण शरीर शस्त्रसे काट डाले टुकडे बना देवे ॥ २९२ ॥

सीताद्रव्यापहरणे शस्त्राणामौषधस्य च । कालमासाद्य कार्यं च राजा डण्डं प्रकल्पयेत् ॥२९३॥ स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा । सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

अर्थ—हल कुश आदिकृष्यमाणभूमि द्रव्योंके हरनेमे शस्त्रोंके हरनेंमें वा औषधोंके हरनें खट्वा आदिके हरनेंमें राजाकालकी और प्रयोजनकी अपेक्षा देखके दंड देवे ॥ २९३ ॥ राजा मंत्री राजाका नगर राज्य देश खजाना दंड अर्थात् हस्ती अश्व पियादे मित्र ये सात प्रकृति कहाती है ऐसे सात अंगोंवाला राज्य कहाता है ॥ २९४ ॥

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् । पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥ सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् । अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किञ्चिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

अर्थ—इन सात राजप्रकृतियोंमें इस पूर्वोक्त यथार्थ क्रम उत्तर उत्तर पिछली प्रकृतिके नाश होनेंमै पहली पहली प्रकृतियोंके अत्यंत दुःख होता है जैसे मित्रके सेनाको व्यसन सेनाके नाशमें खजानाको तिसके अभावमें राज्यको इस क्रमसे जानों ॥ २९५ ॥ इस राज्यके सप्ताङ्गमें अर्थात् सात अंगोंमे यतीके प्रसिद्ध त्रिदंडकी तरंह कोनसाभी अधिक नहीं है जैसे यतिजनके एक दंडका शास्त्रमें कुछ अधिक फल नहीं कहा है तैसेही अन्योन्य आपसके गुणोंकी अपेक्षा होनेंसे इन प्रकृतिमे कोई अधिक नहीं है ॥ २९६ ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते । येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥२९७॥ चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् । स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥२९८॥

अर्थ—तिन तिन कृत्योंमें जिस जिस अंगसे जो जो कार्य सिद्ध होता है वही अंग उसी कार्यमें श्रेष्ठ है और दूसरे अंगसे उस कार्यकी सिद्धि न होनेंसे उसी अंगको प्रधानता है ॥ २९७ ॥ सप्तम अध्यायमें कहेहुए जासूसोंकरके अथवा

सेनाके उत्साह योगसे और कामोंकी कारग्वाईकी देखनेंसे राजा अपनी शक्ति को और शत्रुकी सामर्थ्यको सदा जान लेवे ॥ २९८ ॥

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च । आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥२९९॥ आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः । कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

अर्थ–सब प्रकारके पीडनोंको और कामक्रोध आदि दुःखोंको अपनें तथा शत्रुके गुरु लघु कमज्यादैको विचारके राजा सुलह करलेवे अथवा युद्धके कामको प्रवर्त्त करे ॥ २९९ ॥ श्रान्तहुआ हुआ राजाभी अपनें राज्यकी वृद्धि केवास्ते वारंवार कामोंको प्रारंभही करता है क्योंकि कर्मोंको प्रारंभ करताहुआ पुरुष लक्ष्मीको पाता है ॥ ३०० ॥

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च । राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥३०१॥ कलिः प्रसुप्तो भवति सजाग्रद्द्वापरं युगम् । कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

अर्थ–सत्ययुग त्रेता द्वापर कलियुग ये ४ युग राजाहीकी चेष्टा तथा वर्त्ताव आदि है क्योंकि राजासेही सत्य आदि युगोंकी प्रवृत्ति होती है इसवास्ते राजा-को युग कहते है ॥ ३०१ ॥ जब अज्ञान आलस्य आदिकोंसे राजा सोता है तब कलियुग है जब जानताहुआ राजा तिन कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करता है तब द्वापर है और जब कर्मोंके अनुष्ठानमें स्थित होता है तब त्रेता है जब शास्त्रके अनुसार वारंवार कर्मोंका अनुष्ठान करता है और विचरता है तब सत्य-युग है ॥ ३०२ ॥

इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च । चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ॥३०३॥ वार्षिकाश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभि-प्रवर्षति । तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥

अर्थ–इंद्र सूर्य वायु यम वरुण चंद्रमा अग्नि पृथ्वी इनके तेजरूप कर्मको राजा करे ॥ ३०३ ॥ जैसे चातुर्मासमें इंद्र सस्यकी समृद्धिकेअर्थ वर्षता है तैसेही इंद्र-के चरित्रका अनुष्ठान करताहुआ राजा अपनें देशमें आयेहुए साधुजनोंके वां-छित मनोरथ पूर्ण करे ॥ ३०४ ॥

अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः । तथा हरेत्करं राष्ट्रा-

न्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥३०५॥ प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः । तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

अर्थ–जैसे सूर्य मंगशिर आदि आठ महिनोंतक अपनीं किरणोंकरके जलको सुखाता है तैसेही राजा अपनें राज्यसे करलेता रहे क्योंकि यह राजाका नित्यकर्म कहा है ॥ ३०५ ॥ जैसे प्राण वायु सब जीवोंके भीतर प्रवेश होकर विचरता है तैसेही राजा जासूसोंकरके अपनें और पराये राजाके अंतरमें प्रवेश होके सब कामोंको जानें क्योंकि यह मारुतव्रत कहाता है ॥ ३०६ ॥

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति । तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥३०७॥ वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते । तथा पापान्निगृह्णीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥

अर्थ–जैसे यम पुण्यात्मा वा पापीसे प्राप्त कालमें प्रियता और द्वेषपना करता है तैसेही राजाको अपराध कालमें प्रजाको दंड देना और अन्य कालमें रक्षा करनी यह यमव्रत कहाता है ॥ ३०७ ॥ पापी पुरुष वरुणकी फांशीकरके बंधाहुआही जैसे दिखता है तैसेही राजा पापियोंको निःशंक होकै शिक्षा देवै यह वारुणव्रत कहाता है ॥ ३०८ ॥

परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः । तथा प्रकृतयो यस्मिन्स चन्द्रव्रतिको नृपः ॥३०९॥ प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु । दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

अर्थ–जैसे परिपूर्ण चंद्रमाको देखके सब मनुष्य प्रसन्न होते है तैसेही हर्ष उत्पन्न करनेसे राजाकी सब प्रकृति प्रसन्न रहैं यह राजाका चंद्रव्रत कहाता है ३०९ पापकरनेंवालोंपर नित्यप्रति दंडपातकरनेंसे प्रतापयुक्तहुआ तेजस्वी रहै और दुष्ट मंत्री आदिकोंके मारनेंमें तत्पर हो यह इसका अग्निव्रत कहा है ॥ ३१० ॥

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् । तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥३११॥ एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः । स्तेनान्राजा निगृह्णीयात्स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥

अर्थ–जैसे पृथ्वी सब भूत जीव मात्रोंको बराबर धारण रखती है तैसेही सब प्राणियोंको राजा समान रक्खे यह इसको पार्थिवव्रत कहाता है ॥ ३११ ॥

इन उक्त उपायोंकरके और अन्य उपायोंकरके राजा आलस्य रहित हुआ अपनें राज्यमें अथवा पर राज्यमें चौरोंको पकडे सजा देवे ॥ ३१२ ॥

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत्। ते ह्येनं कुपिता हन्युः सद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥ यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः। क्षयी चाप्यायितः सोमः कोन नश्येत्प्रकोप्य तान् ३१४

अर्थ–खजानें आदिको नाशको प्राप्तहुआभी राजा ब्राह्मणोंको क्रोध नहीं करवावे क्योंकि कुपितहुए वे ब्राह्मण इस राजाको बल वाहनोंसमेत शीघ्रही नष्टकर देते है ॥ ३१३ ॥ जिन ब्राह्मणोंके शापकरके अग्नि सब वस्तुओंको भक्षणकरनेंवाला करदिया और समुद्र अपेय अर्थात् खारा करदिया चंद्रमा कलाओंसे क्षीण करदिया तिन ब्राह्मणोंको क्रोध कराके कौन नहीं नष्ट होवे ॥ ३१४ ॥

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः। देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्नुयात् ॥३१५॥ यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा। ब्रह्म चैव धनं येषां को हिंस्यात्तान् जिजीविषुः॥

अर्थ–जो स्वर्ग आदि अन्य लोकोंको और लोकपालोंको रचरचै ऐसे उनकी संभावना है और कोप होके देवताओंको मनुष्य करदेवे तिनको पीडा देताहुआ कौन समृद्धिको प्राप्त होता है ॥ ३१५ ॥ यज्ञ आदि करनें करानेंसे जिनके आश्रयहुए स्वर्गादिक लोक ठहरते है और सर्वदा देवते जिनके आश्रय है जिनके मोक्षसाधन वेदधन है ऐसे तिन ब्राह्मणोंको जीवनेंकी इच्छा करनेंवाला कौन मारे ॥ ३१६ ॥

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्। प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥ ३१७ ॥ श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति। हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ ३१८ ॥

अर्थ–मूर्ख हो अथवा विद्वान् हो ब्राह्मण महान् देव है जैसे मंत्रादिकोंसे संस्कार कियाहुआ अथवा विनासंस्कार कियाहुआ अग्नि महान् देव है तैसे ॥३१७॥ तेजवाला अग्नि श्मशानमेंभी शवको जलाताहुआ दोषभागी नहीं होता किंतु यज्ञमें आव्हान किया हुआ फिर वढता है ॥ ३१८ ॥

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु। सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत् ॥ ३१९ ॥ क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः। ब्रह्मैव संनियन्तृस्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् ॥ ३२० ॥

अर्थ-ब्राह्मण यद्यपि संपूर्ण अनिष्ट कर्मोंमेंभी वर्त्तते है परंतु तबभी सब प्रकारसे पूजने योग्य है वे प्रकृष्ट देवता है यह स्तुतिका वचन है कहीं विरोधकी शंका नहीं करनी ॥ ३१९ ॥ ब्राह्मणोंके प्रति पीडासे अनुवृत्त हुए क्षत्रियोंका सर्वदा ब्राह्मणही उद्धार बंदोबस्त करे क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मणोंसेही उत्पन्न भये हैं ॥ ३२० ॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्। तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥३२१॥ नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते। ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

अर्थ-जलसे अग्नि ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा उत्पन्न हुआ है इसीवास्ते अग्नि क्षत्रिय लोहा इनका सब जगह बल रहता है परंतु अपनी योनिमें तेज नहीं रहता अर्थात् जल ब्राह्मण पत्थर इनमें ये अग्नि आदि शांत होजाते हैं ॥ ३२१ ॥ ब्राह्मण रहित क्षत्रिय नहीं बढता है और क्षत्रिय रहित ब्राह्मण नहीं बढता है किंतु ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों मिलके आपसमें इस लोकमें वा परलोकमें वृद्धिको प्राप्त होते है अर्थात् आपसकी सहायतासे बढते हैं ॥ ३२२ ॥

दत्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम्। पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं हरे ॥ ३२३ ॥ एवं चरन्सदा युक्तो राजा धर्मेषु पार्थिवः। हितेषु चैव लोकस्य सर्वान् भृत्यान्नियोजयेत्॥३२४॥

अर्थ-ब्राह्मणोंकेवास्ते संपूर्ण दंडके धनको देके और अपने पुत्रकेवास्ते राज्य सौंपके मरनेके समीप राजा अत्यंत फल वैकुंठलोककी प्राप्तिकेवास्ते युद्धमें अथवा अनशन आदि व्रतमें प्राणोंका त्याग करे ॥ ३२३ ॥ इस तरह पूर्वोक्त कहेहुए राजधर्मोंमें युक्त इन आचरणोंको करताहुआ राजा संपूर्ण प्रजाके हितके वास्ते अपनें सब भृत्योंको नियुक्त करे ॥ ३२४ ॥

एषोऽखिलः कर्मविधिरुक्तो राज्ञः सनातनः। इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥ वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा

दारपरिग्रहम् । वार्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे॥३२६॥

अर्थ-यह परंपरासे चला आता हुआ सनातन राजाके कर्मकी संपूर्ण विधि कही है अब क्रमसे वैश्य और शूद्रके कर्म विधिको आगे कही हुईको जानों ॥ ३२५ ॥ उपनयन अर्थात् यज्ञोपवीत आदि संस्कार कियाहुआ वैश्य विवाह आदिककरके आगे कहीहुई कृषिकर्म आदि आजीविकामें और पशुओंके पालनेंमें सदा युक्त रहे ॥ ३२६ ॥

प्रजापतिर्हि वैश्यायसृष्ट्वा परिददे पशून् । ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ॥ ३२७॥ न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति । वैश्ये चेच्छति नाऽन्येन रक्षितव्याः कथंचन॥३२८॥

अर्थ-क्योंकि ब्रह्माजी पशुओंको रचके वैश्यकेवास्ते देते भये इसवास्ते वैश्यको पशु पालनें चाहिये, और ब्रह्माजी अपनी रचीहुई सब प्रजाको रक्षाकेवास्ते ब्राह्मणको तथा राजाको देते भये ॥ ३२७ ॥ मैं पशुओंकी रक्षा न करूं ऐसी इच्छा वैश्यको कभी न करनी चाहिये और जब वैश्य पशुकी रक्षा करता हो तब अन्य किसीको रक्षा करनी योग्य नहीं है ॥ ३२८ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च । गन्धानां च रसाना च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ३२९ ॥ बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च । मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ३३०

अर्थ-मणि मोती मूंगा लोहा वस्त्र और कपूर आदि गंध वस्तु लवण आदि रस इनका भाव देश कालकी अपेक्षासे वैश्य सदा जानैं ॥ ३२९ ॥ सब बीजोंके बोनेंकी विधिको जाननेवाला होवे और ऊषर भूमि आदि खेतके गुण दोषकोंभी जाननेवाला होवे और सेर आदिमान तथा तोलकोभी जाननेंवाला होवे ॥ ३३० ॥

सारासारं च भाण्डानां देशानां च गुणागुणान् । लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम्॥३३१॥ भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम् । द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रयमेव च ॥ ३३२ ॥

अर्थ-भाण्डोंका सार असार जानै अर्थात् यह द्रव्य श्रेष्ठ है यह उच्छिष्ट है और देशोंके गुणदोषोंको जानै अर्थात् इस देशमें यह फायदा है यह नुकसान

है तथा बेंचनेंकी द्रव्योंको लाभ अलाभ जानै अर्थात् इसको इतने काल रखनेंसे यह फायदा है यह नुकसान है और तैसेही इस देशमें इस समयमें इस पानी घास आदिसे पशू बढते हैं इससे नाश होते हैं ॥३२१॥ नौकरोंकी तनक्खाहको जाननेंवाला और अनेक देशके मनुष्योंकी बोलीको पहिचाननेंवाला मालके अच्छी तरह रहनेंका स्थान योगको जाननेवाला और बेचनें खरीदनेंको जाननेंवाला ऐसा वैश्य होवे ॥ ३२२ ॥

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम् । दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः ॥३२३॥ विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम् । शुश्रुषैव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः ॥ ३२४ ॥

अर्थ–धर्मकरके बेचनें खरीदनेंके व्यवहारकरके द्रव्य बढनेमें उत्तम यतन करे और संपूर्ण प्राणियोंको विशेषकरके अन्नही देवे अर्थात् अन्नका व्यवहार विशेष रक्खे ॥ ३२३ ॥ वेदके पढेहुए विद्वान् गृहस्थी अपनें धर्मके अनुष्ठानसे यश प्राप्तिवाले ऐसे ब्राह्मणोंकी सेवा करनी यही शूद्रका परमधर्म है स्वर्ग आदिका हेतु है ॥ ३२४ ॥

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः । ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥ ३२५॥ एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधिः शुभः । आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ३२६ ॥

अर्थ–पवित्र रहनेंवाला अच्छी टहैल करनेंवाला मुलायम बोलनेंवाला अहंकारसें रहित ब्राह्मण आदि तीन जातियोंके आश्रय रहनेंवाला ऐसा शूद्र अपनी योनिमें उत्तम जाति कहलावेगा ॥ ३२५ ॥ यह शुभकर्मविधि सब वर्णोंकी आपत्ति रहित समयमें कही है अब जो आपत्कालकी विधि है उसको क्रमसे सुनों ॥ ३२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः ।

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः । प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेषा नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥ सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद्वृत्त्युपायान्यथा-विधि । प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

अर्थ–अपनें कर्ममें सावधानहुए ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये तीनों जाति वर्ण वेदको पढें और इनमें पढानेंवाला ब्राह्मण होवे क्षत्रिय वैश्य अन्यको पढावे नहीं अर्थात् ब्राह्मणके सकाशसे आप पढ लेवे ऐसा निर्णय कहा है ॥ १ ॥ सब वर्णोंका आजीवनका उपाय शास्त्रके अनुसार ब्राह्मण जानें क्षत्रिय आदि-कोंकेवास्ते ब्राह्मण उपदेश करे और आपभी तैसेही शास्त्रोक्त नियमोंका आचरण करे ॥ २ ॥

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् । संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः । चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

अर्थ–जातिकी उत्कर्षतासे और ब्रह्माजीके उत्तम अंगमुखसे उत्पन्न होनेंसे और वेदके पठनपाठनकेवास्ते धारण करनेंसे संस्कारकी अधिकता होनेंसे सब वर्णोंका प्रभु ईश्वर ब्राह्मण है ॥ ३ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये तीनों वर्ण संस्कार होनेंसे द्विजाति है और चौथा वर्ण एकजाति शूद्र इनसे जुदा पांचवा कोई वर्ण नहीं है ॥ ४ ॥

सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु । आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ५ ॥ स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान् । सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

अर्थ–संपूर्ण वर्णोंमें समान जातिकी और परपुरुषके संपर्कसे रहित शुद्ध कन्यामें शास्त्रके अनुसार विवाह होके जो पुत्र उत्पन्न होते है वे उसी अपनी जातिके होते है ऐसे जानना ॥ ५ ॥ क्रमकरके अन्य जातियोंकी स्त्रियोंमें द्विजोंकरके उत्पन्नहुए पुत्र अर्थात् ब्राह्मणसे क्षत्रियामें क्षत्रियसे वैश्यामें उत्पन्न हुए पुत्रोंको मन्वादिक पिताकी सदृश कहते है क्योंकि वे माताके दोषसे निंदित है इससे साक्षात् पिताकी जाति नहीं है ॥ ६ ॥

अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः । द्व्येकान्तरासु जातानां

धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥ ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते । निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

अर्थ–अपनी जातिसे एक दर्जे हीन जातिवाली स्त्रियोंमें संतान उत्पन्न होनेंकी यह सनातनविधि कही अब दो दर्जे हीन जातियोंवाली स्त्रियोंमे उत्पन्न होनेंकी अर्थात् ब्राह्मणसे वैश्यामें क्षत्रियसे शूद्रामें उत्पन्न होवे ऐसे जनोंकी आगे कहीहुई विधिको जानों ॥ ७ ॥ ब्राह्मणसे विवाहीहुई वैश्यकी कन्यामें उत्पन्न होनेवाला अंबोष्ठनाम जाति कहाता है और ब्राह्मणसे शूद्रकी कन्यामें उत्पन्न होनेवाला निषाद जाति कहाता है तिसको पारशवभी कहते है ॥ ८ ॥

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां क्रूराचारविहारवान् । क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥ ९ ॥ विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः । वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

अर्थ–क्षत्रियके सकाशसे शूद्रकी कन्यामें जो उत्पन्न होता है वह क्रूर आचरण करनेवाला और क्षत्रिय शूद्रके स्वभाववाला ऐसा उग्रनामवाला पुत्र कहाता है ॥ ९ ॥ ब्राह्मणके सकाशसे क्षत्रिय आदि तीन वर्णकी स्त्रियोंमें उत्पन्नहुए और क्षत्रियके वैश्य शूद्र इन दो वर्णकी स्त्रियोंमें उत्पन्नहुए वैश्यके शूद्रामें उत्पन्नहुए ये छह पुत्र अपसद कहाते है अर्थात् सजातीया स्त्रीके पुत्रोंसे निकृष्ट कहाते है ॥ १० ॥

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः । वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ ११ ॥ शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम् । वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

अर्थ–क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न होवे वह सूत कहाता है और वैश्यसे क्षत्रियामें उत्पन्न होवे वह मागध कहाता है तथा वैश्यसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न होवे वह वैदेह कहाता है ॥ ११ ॥ शूद्रसे वैश्यामें वा क्षत्रियामें वा ब्राह्मणीमें उत्पन्न होनेंवाले क्रमकरके आयोग व क्षत्ता मनुष्योंमें अधम चंडाल ये वर्णसंकर उत्पन्न होते है ॥ १२ ॥

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ । क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १३ ॥ पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजा क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम् । ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

अर्थ-एक वर्णके अनुलोमकरके अर्थात् एक दर्जे निकृष्ट योनिकी स्त्रीमें उत्पन्नहुए पुत्र जैसे अंबाष्ठ और उग्र नामवाले कहे हैं तैसेही प्रतिलोमसे जन्म होनेमें क्षत्ता और वैदेह ये दो पुत्र कहदिये हैं ॥ १३ ॥ क्रमकरके जो द्विजन्माओंके सकाशसे अनंतर अर्थात् निकृष्ट योनिकी स्त्रीमें उत्पन्नहुए पुत्र हैं वे माताके दोष होनेंसे अनंतर नामवाले कहाते हैं ॥ १४ ॥

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते । आभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥ १५ ॥ आयोगवश्च क्षत्ता च चण्डालश्चाधमो नृणाम् । प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः १६

अर्थ-ब्राह्मणके सकाशसे उग्र जाति कन्यामें उत्पन्न हुआ पुत्र आवृतनामवाला कहाता है और अम्बष्ठ जातिकी कन्यामें उत्पन्न हुआ आभीर कहाता है और ब्राह्मणके सकाशसे पूर्वोक्त आयोग जातिकी कन्यामें उत्पन्न हुआ पुत्र धिग्वण जाति कहा है ॥ १५ ॥ आयोग व क्षत्ता चंडाल ये मनुष्योंमें अधम तीनों प्रतिलोमकरके शूद्रके सकाशसे ब्राह्मणी आदि स्त्रियोंमें होते हैं ये तीनों निकृष्ट हैं ॥

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु । प्रतीपमेते जायन्ते परेऽप्यपसदास्त्रयः ॥ १७ ॥ जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः । शूद्राज्जातो निषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥

अर्थ-वैश्यसे क्षत्रिया और ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुए मागध वैदेह और क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न सूत येभी प्रतिलोमसे उत्पन्न होनेंसे तीनों निकृष्ट कहाते हैं ॥ १७ ॥ निषादजातिसें शूद्रामें उत्पन्न हुआ पुत्र पुक्कसजाति कहाता है और शूद्र पुरुषसे निषाद जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न हुआ कुक्कुटक ऐसा कहाता है ॥१८॥

क्षत्तुर्जातस्तथोग्रायां श्वपाक इति कीर्त्यते । वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥१९॥ द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान् । तान्सावित्रिपरिभ्रष्टान् व्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

अर्थ-क्षत्ताके सकाशसे उग्राजाति स्त्रीमें होनेंवाला श्वपाक कहाता है वैदेहसे अम्बष्ठामें उत्पन्न होनेंवाला वेण ऐसी जाति कहाता है ॥ १९ ॥ द्विजाति पुरुष जो अपनी सजातीया स्त्रीमें जिन पुत्रोंको उत्पन्न करते है वेही जो यदि उपनयन संस्कारसे रहित होजाते हैं उनको व्रात्यसंज्ञक जानें ॥ २० ॥

व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः। आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥२१॥ झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छिविरेव च। नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ २२ ॥

अर्थ-व्रात्यसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुआ पुत्र पापस्वभाववाला भूर्जकंटक जातिवाला होता है और आवन्त्य वाट धान पुष्पध येभी होते हैं अर्थात् देशभेदसे इन नामोंके भेद उसी जातिके है ॥ २१ ॥ व्रात्य संज्ञक क्षत्रियसे सवर्णा क्षत्रियामें उत्पन्न होनेंवाला झल्ल मल्ल निच्छिवि नट करण खस द्रविड ये पुत्र होते हैं ये सब नाम देशभेदसे एकहीके हैं ॥ २२ ॥

वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च। कारूषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च ॥२३॥ व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ २४ ॥

अर्थ-व्रात्यसंज्ञक वैश्यसे अपनी सजातीया स्त्री वैश्याहीमें उत्पन्न होनेंवाला धन्वाचार्यका पुरुष विजन्मा मैत्र सात्वत इननामोंवाले पुत्र है येभी सब एकही जातिके नामभेद हैं ॥ २३ ॥ ब्राह्मणआदिवर्णोंके परस्त्रीके संग गमनकरनें वा सगोत्राआदिके संग विवाहकरानेंसे अथवा उपनयनआदि अपनें कर्मोंका त्याग करनेंसे वर्णसंकरसंज्ञक जाति पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ २४ ॥

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः। अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥ सूतो वैदेहकश्चैव चण्डालश्च नराधमः। मागधः क्षत्तृजातिश्च तथाऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

अर्थ-जो संकीर्ण अर्थात् परस्पर जातिके मिलापसे प्रतिलोम अनुलोमकरके परस्पर संबंधसे उत्पन्न हुए हैं तिन सबको विशेष करिके आगे कहैंगे ॥२५॥ सूत वैदेह मनुष्योंमें अधम चंडाल मागध क्षत्ताजाति, आयोगव इनकोभी कहैंगे २६

एते षट् सदृशान्वर्णान् जनयन्ति स्वयोनिषु। मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥२७॥ यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते। आनन्तर्यात्स्वयोन्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् २८

अर्थ-ये पूर्वोक्त छह जाति अपनी योनिमें माताकी जातिमें और ब्राह्मणीआदि उत्तम जातिकी स्त्रीमें जो पुत्र उत्पन्न करतें है वे उन पिताओंकेही समान

होते हैं जैसे शूद्रके सकाशसे वैश्या स्त्रीमें आयोगव होता है सो अपनी जाति आ-योगवीमें वा माताकी योनि वैश्यामें वा उत्तम जाति ब्राह्मणी आदिकमें तथा शूद्रामेंभी जो पुत्र उत्पन्न करता है वह उस आयोगवकेही समान है ॥ २७ ॥ जैसे तीनोंवर्णोंमें अनुलोमकरके ब्राह्मणसे क्षत्रिया वा वैश्यामेंभी द्विज उत्पन्न होता है और ब्राह्मणीमें भी द्विज उत्पन्न होता है तैसेही अपनी योनिसे आनंतर्य पुरुषसे अपनी योनिमें उत्पन्न होनेंवाला है वा बाह्यके जनोंमेंभी यह क्रम है जैसे वैश्यसे क्षत्रियामें क्षत्रियसे ब्राह्मणीमें ऐसे द्विजोंके आपसमें प्रतिलोमसे संतान होना द्विजही है यह वचन शूद्रसे ब्राह्मणीआदिकमें प्रतिलोमसे उत्पन्न हुए इसको श्रेष्ठ कहनेंकेवास्ते है ॥ २८ ॥

ते चापि बाह्यान् सुबहूंस्ततोऽप्यधिकदूषितान् । परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥२९॥ यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते । तथा बाह्यतरं बाह्यश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

अर्थ-पूर्वोक्त वेभी छह आयोगवआदिक परस्पर अनुलोमकरके आपसकी जातिकी स्त्रियोंमें बहुतसी संतानको उत्पन्न करते हैं और वह संतान उनसेभी अधिक दूषित निंदित होती है ॥ २९ ॥ जैसे शूद्र ब्राह्मणीमें नीच जाति चं-डालको उत्पन्न करता है तैसेही चारवर्णोंके स्त्रियोंमें वे अधम चंडाल उस पूर्व चंडालसेभी हीन जातिको उत्पन्न करते हैं ॥ ३० ॥

प्रतिकूलं वर्तमानबाह्याबाह्यतरान्पुनः । हीना हीनान्प्रसूयन्ते व-र्णान्पञ्चदशैव तु ॥३१॥ प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम् । सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे ॥ ३२ ॥

अर्थ-प्रतिकूलवर्तनेंवाले अधम चांडाल आदि तीन जाति चारवर्णोंकी स्त्रियों-में अपनेंसे निकृष्टहीन जाति संतानको उत्पन्न करते हैं एकसे एक हीन होता है जैसे चार वर्णोंकी स्त्रियोंमें तीन अधमोंसे तीन तीन होके १२ हुए और तीन वे उत्पन्न करनेंवाले ऐसे पंदरह निकृष्टजातिके जन उत्पन्न होते है ॥ ३१ ॥ वाल आदि धोना हाथ पैर आदि धोना दावना ऐसे कामोंकरके जीवन करनें-वाला वा यज्ञआदिकेवास्ते मृगआदि सिकार मारनेंवाला और सैरंध्रनामवाला ऐसा पुत्र आगे कहाहुआ दस्युसे आयोगवी स्त्रीमें उत्पन्न होता है शूद्रसे वनि-यांनीमें हो वह आयोगवी होती है ॥ ३२ ॥

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते । नॄन्प्रशंसत्यजस्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये ॥ ३३ ॥ निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम् । कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः ॥ ३४ ॥

अर्थ–वैश्यसे ब्राह्मणीमें हुआ वैदेह आयोगवी स्त्रीमें मधुर बोलनेंवाला मैत्रेय नाम पुत्रको उत्पन्न करता है वह मैत्रेय प्रातःकाल घंटा वजाके राजा आदिकोंकी निरंतर स्तुति करता है यही उसकी वृत्ति है ॥ ३३ ॥ ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न हुआ निषाद आयोगवी स्त्रीमें मार्गव अर्थात् दास नामकको उत्पन्न करता है आर्यावर्त्तके निवासी जन तिसको कैवर्त्त अर्थात् नौकाको वहानेंवाला धीमर कहते है ॥ ३४ ॥

मृतवस्त्रभृत्सु नारीगर्हितान्नाशनासु च । भवन्त्यायोगवीष्वेते जातिहीनाः पृथक् त्रयः ॥३५॥ कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते । वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ ॥ ३६ ॥

अर्थ–सैरिंध्र मैत्रेय मार्गव ये तीनहीन जाति पुरुष मृतके वस्त्रोंको पहिननेंवाली क्रूर उच्छिष्ट भोजन करनेंवाली ऐसी आयोगवी स्त्रीमें उत्पन्न होनेंवाले पुरुष पिताकी जातिसे अलग अलग होते है ॥३५॥ निषादसे वैदेहिक जाति स्त्रीमें उत्पन्न होनेंवाला कारावरसंज्ञक कहाता है और चामके कर्मोंको करनेंवाला कहाता है और वैदेहक सैरिंध्र इन भेदोंवाले ग्रामसे बाहिर रहनेंवाले होते हैं॥३६॥

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यवहारवान् । आहिण्डिको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥ चण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् । पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः॥ ३८॥

अर्थ–चंडालसे वैदेहीमें उत्पन्न होनेंवाला पांडु सोपाक नामवाला और वांसके पंखा तथा छाज वगैरह बनाके जीवनेंवाला होता है और निषादसे वैदेही स्त्रीमें आहिंडिक नामवाला उत्पन्न होता है ॥ ३७ ॥ शूद्रा स्त्रीमें निषादसे जन्मी हुईको पुक्कसी कहते है तिस पुक्कसीमें चंडालसे जन्मा हुआ सोपाक कहाता है वह पापात्मा और साधु पुरुषोंसे निंदित होता है और जल्लादकी वृत्तिवाला होता है ॥ ३८ ॥

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् । श्मशानगोचरं सूते

बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥ संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः । प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्याः स्वकर्मभिः॥४०॥

अर्थ–निषाद जातिकी स्त्रीमें चंडालसे जन्मा हुआ पुत्र अंत्यावसायी नामजाति कहाता है और चंडालसेभी अत्यंत नीच सबसे अधम श्मशानमें रहनेंवाला और श्मशानकीही वृत्ति करनेंवाला होता है ॥ ३९ ॥ वर्णसंकरके विषयमें ये जाति इसवास्ते दिखाई गई हैं कि इसकी यह माता है और यह बाप है इस भेदके वास्ते और गुप्त अथवा जाहिरकी जातियोंको अपनें अपनें कर्मोंसे जानें ॥ ४० ॥

सजातिजानन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः । शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेपध्वंसजाः स्मृताः ॥ ४१ ॥ तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगेयुगे । उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥४२॥

अर्थ–द्विजातियोंके तीन पुत्र सजातीया स्त्रीमें जैसे ब्राह्मणके ब्राह्मणीमें इस क्रमसे ३ है और तीन अनुलोमकरके जैसे जैसे ब्राह्मणसे क्षत्रिया क्षत्रियसे वैश्यामें ऐसे छह पुत्र द्विजधर्मवाले हैं और अन्य प्रतिलोमसे होनेंवाले सूत आदि सब पुत्र शूद्रके समान धर्मवाले है ॥ ४१ ॥ सजातीय स्त्रियोंमें उत्पन्न होनेंवाले वा अनंतर स्त्रियोंमें उत्पन्न होनेंवाले पुरुष तपके प्रभावसे युगयुगके प्रति उत्कर्ष जातिको प्राप्त हो जाते हैं और आगे कहेहुए हेतुसे निकृष्ट जातिकोभी प्राप्त हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥ पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः । पारदापह्लवाश्चीनाः किरता दरदाः खशाः॥४४॥

अर्थ–ये क्षत्रिय जाति, उपनयन आदि क्रियाओंके लोप होनेंसे और याजन अध्यापन आदि प्रायश्चित्त आदिकेवास्ते ब्राह्मणोंके दर्शनके अभाव होनेंसे शनैशनै संसारमें शूद्रताको प्राप्त हुवें ॥ ४३ ॥ पौंड्र औड्र द्रविड कांबोज यवन शक पारद अपल्हव चीन किरात दरद खश इन देशोंमें उत्पन्न होनेंवाले क्षत्रिय क्रिया लोप होनेंसे शूद्रताको प्राप्त भये ॥ ४४ ॥

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ ४५॥ ये द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृता । ते निन्दितैर्वर्तयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः ॥ ४६ ॥

अर्थ-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इनकी जो क्रिया लोपसे बाह्य जाति हुई वे सब म्लेंच्छ भाषासे युक्त अथवा आर्य भाषासे युक्त दस्युसंज्ञक कहाते हैं ॥ ४५॥ जो पहले द्विजोंमें अनुलोमसे उत्पन्न होनेंवाले अपसदसंज्ञक कहे है और प्रतिलोमसे उत्पन्न होनेंवाले अपध्वंसज कहे हैं वे द्विजातियोंके उपकारक आगे कहेहुए निंदित कर्मोसे आजीवन करे ॥ ४६ ॥

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम् । वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥ ४७ ॥ मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च । मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥ ४८ ॥

अर्थ-सूतोंको अश्व हिलाना आदि रथका सारथी यह आजीवन है अम्बष्ठोंको शरीरके शल्य आदिकी चिकित्सा वैदेहोंकेवास्ते जनानें महलोंका काम मागधोंकेवास्ते वनियोंका काम ये ये इनके आजीवन है ॥ ४७ ॥ निषादोंकेवास्ते मच्छियोंका मारना आजीवन है आयोगवकेवास्ते काष्ठका छीलना घसना आजीवन है और भेद अंध्र चंचु मद्गु इनकेवास्ते वनमें मृग आदि पशु जानवर इनके मारनेंसे आजीवन कहा है चंचुमद्गुये वैदेहक बंदी इनकी स्त्रियोंमें ब्राह्मणसे होते है ॥ ४८ ॥

क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौकोवधबन्धनम् । धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥ ४९ ॥ चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च । वसेयुरेते विज्ञाना वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥ ५० ॥

अर्थ-क्षत्ता उग्र पुक्कस इनका आजीवन विलमें रहनेंवाले गोह आदि जीवोंका मारना कहा है और धिग्वणोंका आजीवन चामका काम बनाना तिन जीवोंका वेचना यह आजीवन है और वेणोंका आजीवन ताशेढफडे नफीरी आदि बजाना है ॥ ४९ ॥ ग्रामोंके समीप बडे वृक्षके नींचे वा श्मशानभूमिमें पर्वतके समीप, बाग बगीचोंमें अपनें कर्मोंको करते हुए प्रसिद्ध हुए ये पूर्वोक्त निषाद आदि वास करे ॥ ५० ॥

चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः । अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥५१॥ वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् । कार्ष्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ ५२ ॥

अर्थ–चंडाल और श्वपाकोंका निवास ग्रामसे बाहिर होना चाहिये और निषिद्ध पात्रवाले होवें और इनका धन कुत्ता वा गद्धा है और मृतपुरुषके वस्त्र वा पुरानें चिंधरे इनके कपडे होवें खपरेल आदि फूटे वरतन भोजनकेवास्ते होवें लोहाके कडे आदिका आभूषण होवे और ये रातदिन भ्रमते रहैं ॥५१॥ ५२ ॥

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन् । व्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह ॥५३॥अन्नमेषां पराधीनं देयं स्याद्भिन्नभाजने । रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ५४ ॥

अर्थ–धर्मके अनुष्ठानसमय इन चंडाल आदिकोंके संग दर्शन आदि व्यवहार न करे और इनका विवाह तथा लेन देन सब बराबर वालोंकेसाथ आपसमेंही होवें ॥ ५३ ॥ इनकेवास्ते अन्न अपने हाथसे न देवे किंतु अन्य पात्रमें रखके भृत्य आदिके हाथसे दिवावे और ये चंडाल श्वपच आदि रात्रिके समयमें ग्राम तथा शहरोंमें नहीं फिरै ॥ ५४ ॥

दिवा चरेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः । अबान्धवं शवं चैव निर्हरेयुरिति स्थितिः ॥ ५५ ॥ वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया । वध्यवासांसि गृह्णीयुः शय्याश्चाभरणानि च ॥ ५६ ॥

अर्थ–अपनें कामकेवास्ते ग्रामादिकोंमें राजाकी आज्ञासे किसी वस्तुका चिन्ह किय हुए दिनमें विचरें और जिसका कोई वारिस न होवे ऐसे मुरदेको ग्रामसे बाहिर लेजावें वह शास्त्रकी मर्यादा है ॥ ५५ ॥ शूली फांशी होनेंलायक वध्य पुरुषोंको ये चंडाल आदि शास्त्रके अनुसार राजाकी आज्ञासे फांसी आदि देके वध करे और उस वध्य पुरुषके वस्त्र गहिनें शय्या आदिकोंको ग्रहण करे ॥५६॥

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम् । आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ॥ ५७ ॥ अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता । पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम् ॥ ५८॥

अर्थ–वर्णसंकर हुआ मनुष्य गुप्त हो किसीको मालूम न हो आर्यरूपकी तरंह वर्णमें मिलरहा हों उसको निंदित कर्मोंके ऐसे आचरणोंसे पहिचानें ॥ ५७ ॥ दुष्टपना कठोरता क्रूरपना शील तथा कर्मानुष्ठानसे रहितता इन लक्षणोंकरके संसारमें वर्णसंकररूप जन्में हुएको प्रकट करते है ॥ ५८ ॥

पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा । न कथंचन दुर्योनिः

प्रकृतिं स्वा नियच्छति ॥ ५९ ॥ कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः । संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु॥६०॥

अर्थ–यह वर्णसंकर दुष्ट जाति पिता संबंधी स्वभावको भजता है तथा माता संबंधी स्वभावको भजता है अथवा दोनोंके स्वभावको भजता है यह कभीभी अपनें कारणको छिपा नहीं सक्ता ॥ ५९ ॥ महान् कुलमेंभी जिसकी वर्णसंकर योनि होजाती है वह थोडा अथवा घना पिताके स्वभावको सेवताही है अर्थात् पिताके स्वभावके अनुसार होताही है ॥ ६० ॥

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषका राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥ ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा देहत्यागोऽनुपस्कृतः । स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

अर्थ–जिस राजाके देशमें वर्णोंके दूषक ये वर्णसंकर उत्पन्न होते है वह राज्य वहांके निवासी जनोंसहित शीघ्रही नष्ट होजाता है ॥ ६१ ॥ ब्राह्मण गौ स्त्री बालक इनके प्राणोंकी रक्षाकेवास्ते दुष्ट प्रयोजनसे रहित होके प्रतिलोमज अर्थात् वर्णसंकरोंका जो प्राणत्याग है वह उनको स्वर्गप्राप्तिका हेतु है ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ६३ ॥ शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते । अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ६४

अर्थ–जीवोंकी हिंसा न करना सत्य बोलना अन्याय आदिसे पराया धन नहीं हरना पवित्र रहना इंद्रियोंको वशमें करना यह धर्म संक्षेपमात्रसे चारों वर्णोंका है ऐसे मनुजीनें कहा है ॥ ६३ ॥ शूद्रा स्त्रीमें ब्राह्मणके सकाशसे पारशव वर्ण उत्पन्न होता है वह जो कन्याही उत्पन्न होवे फिर वह कन्या दूसरे ब्राह्मणकेसाथ विवाही जावे तिसकैभी कन्या होवे और किसी अन्य ब्राह्मणके साथ विवाही जावे ऐसे सातवें कुलमें बीज प्रधान होनेंसे वह पारशववर्ण ब्राह्मणजातिही होजाता है ॥ ६४ ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मण श्चैति शूद्रताम् । क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥६५॥ अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु तद्दृच्छया । ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ-ऐसेही इस पहले श्लोककी रीतिसे शूद्र अर्थात् ब्राम्हणसे शूद्रामें उत्पन्न हुआ पारशव सातवें कुलमें ब्राह्मणताको प्राप्त होजाता है और केवल शूद्राकेही संग विवाह होता रहै तो सातवें कुलमें ब्राह्मण शूद्र हो जाता है ऐसेही क्षत्रियसे वा वैश्यसेभी शूद्रामें उत्पन्न हुआका उत्कर्ष अपकर्ष क्रमकरके जानें ॥ ६५ ॥ जो इच्छाकरके विना विवाही हुई शूद्रामें ब्राह्मणसे उत्पन्न हुआ है वह बीजप्रधान होनेसें श्रेष्ठ है अथवा ब्राह्मणीमें शूद्रसे उत्पन्न हुआ है वह श्रेष्ठ है ऐसे इन दोनोंमें संशय होता है तिनका निर्णय कहते है ॥ ६६ ॥

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः॥६७॥ तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः । वैगुण्याज्जन्मनः पूर्व उत्तरः प्रतिलोमतः॥ ६८॥

अर्थ-शूद्रास्त्रीमें जो ब्राह्मणसे उत्पन्न होवे वह जो शास्त्रके अनुसार यज्ञपाक आदि अनुष्ठानोंमें युक्त रहे तो श्रेष्ठ कहा है और शूद्रसे ब्राह्मणीमें जन्मनेंवाला पुरुष प्रतिलोमसे उत्पन्न होनेंसे शूद्रसेभी निकृष्ट है ऐसी धर्मशास्त्रकी मर्यादा है ॥ ६७ ॥ पारशव चंडाल ये दोनोंही संस्कार उपनयन आदि कर्मके योग्य नहीं है ऐसी धर्मकी व्यवस्था है पहिला तो शूद्रामें उत्पन्न होनेंकरके जातिकी विगुणतासे दूसरा शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न होनेंसे ये दोनोंही उपनयनके योग्य नहीं है ॥ ६८ ॥

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा । तथाऽर्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥ बीजमेके प्रशंसंति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः । बीजक्षेत्रे तथैवान्ये तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

अर्थ-जैसे उत्तम बीज अच्छे श्रेष्ठ खेतमें बोया हुआ अच्छीतरंह बढता है तैसे ही द्विजाति पुरुषसे द्विजातिकी, स्त्रीमें उत्पन्न हुआ पुरुष संपूर्ण उपनयन आदि कर्मोके योग्य है ॥ ६९ ॥ कईक पंडित बीजको प्रधान कहते हैं कईक क्षेत्रको प्रधान कहते हैं और कईक बीज क्षेत्र इन दोनोंको प्रधान कहते है तहां आगे कही हुई यह व्यवस्था है ॥ ७० ॥

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति । अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥७१॥ यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् । पूजिताश्च प्रशास्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥

अर्थ-अक्षेत्र अर्थात् ऊषर भूमिमे बोयाभी बीज फल नहीं देता नाशको प्राप्त होता है तैसेही सुन्दरभी खेत विना बीज क्या कामका कारण अनाज नहीं होगा तिस्से सुन्दर खेत और सुन्दर बीज दोनों प्रधान हैं ॥ ७१ ॥ जो कि वीर्यके प्रभावसे तिर्यक्योनि अर्थात् हरिण आदिकसे उत्पन्न हुये शृंगी ऋष्यादिक पूजित होते भये और वेदके ज्ञान आदिकोंसे स्तुतिके योग्य होते भये इसवास्ते बीज श्रेष्ठ कहा है ॥ ७२ ॥

अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम् । संप्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥७३॥ ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः । ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥

अर्थ-शूद्रको द्विजातिके कर्म करते हुयोंको और द्विजातिको शूद्रकेकर्म करते हुयेको ब्रह्माजी विचारिकै बोलेकि वे नतो समान है और न विषमहै अर्थात् द्विजाति शूद्रके कर्म करनेसे शूद्रके समान नहीं जातिका उत्कर्ष होनेसे और निषिद्ध आचरण करनेंसे ये दोनों विषमभी नहींहै ॥७३॥ जो ब्राह्मण ब्रह्मजाति कारणसे ब्रह्म ध्यानमें निष्ठा रखते हैं और अपनें कर्मोंके अनुष्ठानमें युक्त रहते हैं वे सम्यक् प्रकारसे आगे कहे हुए इन छह छह कर्मोंका क्रमसे अनुष्ठान करें ॥७४॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥७५॥ षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका । याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

अर्थ-पढना पढाना यज्ञकरना और अन्योंकै कराना दान देना प्रतिग्रह लेना येह छह कर्म ब्राम्हणोंके हैं ॥ ७५ ॥ इन छह कर्मोंके मध्यमें यज्ञ कराना पढाना द्विजातिसे प्रतिग्रह दान लेना ये तीन कर्म ब्राह्मणकै आजीविकाके हैं ॥ ७६ ॥

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति । अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥७७॥ वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः । न तौप्रति हि तान् धर्मान्मनुराह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥

अर्थ-ब्राम्हणकी अपेक्षासे क्षत्रियके अध्यापन अर्थात् पढाना, यज्ञकराना प्रतिग्रह दान लेना ये तीन कर्म निवर्त्त है यानें योग्य नहीं है ॥ ७७ ॥ वैश्यके प्रतिभी ये तीनों कर्म छुठ जाते है यह शास्त्रकी मर्यादा हैं क्योंकि प्रजापति मनु तिन वैश्य क्षत्रियोंके प्रति आजीविकाकेवास्ते उन कर्मोको नहीं कहते भये॥७८॥

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः । आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥७९॥ वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम् । वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥

अर्थ–प्रजाकी रक्षाकेवास्ते शस्त्र अस्त्र अर्थात् बाण आदिका धारण करना यह क्षत्रियका धर्म है और बनियाका धर्म पशुवोंकोंपालना खेती करना वणज करना येह दोनोंके धर्म आजीविकाकेवास्ते है और दान देना पढना यज्ञकरना ये कर्म धर्मकेवास्ते दोनोंके कहे हैं ॥ ७९ ॥ ब्राह्मणको वेदका अभ्यास करना और क्षत्रियको प्रजाकी रक्षा करना वैश्यको वणज पशुपाल खेती ये कर्म करना ये कर्म ब्राह्मणादिकोंके आजीवनकेवास्ते श्रेष्ठ कहे हैं ॥ ८० ॥

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा । जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥ ८१ ॥ उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत् । कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ॥ ८२ ॥

अर्थ–ब्राह्मण यथोक्त अध्यापन आदि अपनें कर्मकरके नित्यप्रति कुटुंबकेवास्ते आजीवन करे और जो उसमें निर्वाह न होवे तो प्रजा रक्षण क्षत्रियके कर्मसे आजीवन करे क्योंकि क्षत्रिय इसकै नज्दी कहै ॥ ८१ ॥ जो यदि ब्राह्मण वेदाभ्यास आदि अपनें कर्मसे वा क्षत्रियके कर्मसे आजीविका न कर सके तो किस कर्म करके आजीविका करे ऐसे संशयमें खेती पशुपालन इत्यादि वैश्यकी आजीविकाको करे ॥ ८२ ॥

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा । हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ॥८३॥ कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्भिर्गर्हिता । भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ॥८४॥

अर्थ–वैश्य वृत्तिकरके आजीविका करतेहुएभी ब्राह्मण वा क्षत्रिय बहुत हिंसावाली और पराधीन वृत्तिवाली ऐसी कृषिको अर्थात् खेतीको यतनसे वर्ज देवें ॥ ८३ ॥ कईकजन खेतीको श्रेष्ठ कहते हैं परंतु वह वृत्ति श्रेष्ठ पुरुषोंकरके निंदित है क्योंकि उसके करनेमें हल कुद्दाल आदिकोंसे पृथ्वीके खोदनेमें बहुतसी जीवहिंसा होती है ॥ ८४ ॥

इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम् । विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं

विक्रेयं वित्तवर्धनम् ॥ ८५ ॥ सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह। अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः॥ ८६॥

अर्थ–ब्राह्मणके वा क्षत्रियके जो अपनी वृत्तिमें आजीवन नहीं होवे तो जो वैश्यको द्रव्यमात्र वर्जना कहा है उसको वर्जके और आगे कहे हुए इन द्रव्योंको वर्जके बाकी रही वस्तुओंको वेचके आजीवन करे ॥ ८५ ॥ संपूर्ण रसोंको और पकाये हुये अन्न तिलोंका पाक पत्थर लवण पशु मनुष्य इनको नहीं वेचे ॥ ८६ ॥

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च। अपि चेत्स्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः ॥ ८७ ॥ अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः। क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ॥ ८८ ॥

अर्थ–संपूर्ण सूतके लाल वस्त्र शनके कपडे वा रेशमी कपडे भेडकी ऊनके कपडे ये सब लाल नहीं होवे तोभी इनको वा फल मूलको तथा औषधियोंको न वेचे ॥ ८७ ॥ जल लोह विष मांस सोमवल्ली दूध दही शहद, तेल मधु गुड कुशा और सब प्रकारके कपूर आदि गंध इन सबको वर्ज देवे अर्थात् वेचे नहीं ॥८८॥

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्दंष्ट्रिणश्च वयांसि च। मद्यं नीलिं च लाक्षां च सर्वांश्चैकशफांस्तथा ॥८९॥ काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वयमेव कृषीवलः। विक्रीणीत तिलान् शूद्रान् धर्मार्थमचिरस्थितान् ॥९०॥

अर्थ–वनमें होनेंवाले हस्ती आदि पशु दंष्ट्री, सिंहआदि कबूतरआदि जानवर जलके जीव मदिरा नील लाख एकशफ घोडा आदि पशु इनकोभी न वेचे ॥ ८९ ॥ खेती करनेंवाला खेतीहर अपनें खेतमें उपजेहुए तिलोंको अन्य वस्तुसे मिले हुयोंको बहुत दिनतक घरमें रखके फिर किसी समयमें धर्मकेवास्ते वेचे तिसमें दोष नहीं है ॥ ९० ॥

भोजनाभ्यञ्जनाद्दानाद्यदन्यत्कुरुते तिलैः। कृमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति ॥९१॥ सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च। त्र्यहेण शूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥ ९२ ॥

अर्थ–जोजन अभ्यंजन अर्थात् उवटना आदि दान इनकेविना अन्य किसी जगह जोतिलोंको वेचता है वह कुत्तेका विष्ठामें पितरोंसहित कृमि होके वास करता है अर्थात् उसके पितरभी कृमि होके कुत्तेका विष्ठामें पडते हैं ॥ ९१ ॥

ब्राह्मण मांस लाख लवण इनके वेचनेंसे तात्काल पतित हो जाता है और दूधके वेचनेंसे तीन दिनमें शूद्रताको प्राप्त हो जाता है यह वचन अत्यंत दोष और प्रायश्चित्तकेवास्ते कहे है ॥ ९२ ॥

इतरेषा तु पण्याना विक्रयादिह कामतः । ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ॥९३॥ रसा रसैर्निमाताया न त्वेव लवणं रसैः । कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः ॥ ९४ ॥

अर्थ-ब्राह्मण इन मांसादिकोंसे पृथक् अन्य वस्तुओंको इच्छासे वेचनेंसे सात दिनमें वैश्यपनेंको प्राप्त हो जाता है ॥ ९३ ॥ गुडआदि रस घृतादिकोंसे बदला कर लेवे और नमकको इन रसोंकरके नहीं बदलावे और पकाये हुए अन्नको कच्चे अन्नसे बदला लेवे और तिलोंको अन्य धान्यके समान देके बदला लेवे ॥ ९४ ॥

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः । न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ॥९५॥ यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः । तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥९६॥

अर्थ-क्षत्रिय आपत्कालमें इन निषिद्धभीरस आदिकोंके वेचनेंकरके वैश्यकी वृत्तिसे आजीवन करे परंतु कभीभी ब्राह्मणकी वृत्तिसे आजीविका न करे ॥ ९५ ॥ जो अधमजाति पुरुष लोभसे उत्तमजातिके विहित कर्मोंकरके आजीविका करता है उसको राजा निर्धनकरके शीघ्रही अपनें राज्यसे निकाल देवे९६

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः । परधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः ॥९७॥ वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत् । अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ॥९८॥

अर्थ-अपना कर्म गुणरहितभी हो तोभी करना योग्य है और परजातिका उत्तम कर्मकोभी न करे पराये कर्मको करनेंवाला पुरुष शीघ्रही जातिसे पतित हो जाता है ॥ ९८ ॥ वैश्य अपनी वृत्तिकरके आजीवन नहीं कर सके तो आपत्कालमें शूद्रकी वृत्तिका आचरण करे परंतु द्विजातिका उच्छिष्ट भोजन आदिकरनेंके अकार्योंको वर्ज देवे और जब शक्तिमान् हो जावे अर्थात् आपत्काल निवृत्त हो जावे तब शूद्रवृत्तिसे निवृत्त हो जावे ॥ ९८ ॥

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् । पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥९९॥ यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः । तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च १००

अर्थ–जो शूद्र आपत्कालमें द्विजातियोंकी शुश्रूषा सेवाकरनेंमें समर्थ न हो और उसका कुटुंब क्षुधाकरके पीडित होता हो तब कारुककर्म अर्थात् चटाई छाज बनानें आदिके कामोंसे आजीवन करे ॥ ९९ ॥ जिन कर्मोंकरके द्विजातियोंकी शुश्रूषा होती है तिन कारुककर्म और शिल्पीकर्म अर्थात् अनेक प्रकारके चित्राम लिखनेंका काम वा काष्ठ गडनेंका काम करे ॥ १०० ॥

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पथि स्थितः । अवृत्तिकर्षितः सीदन्निमं धर्मं समाचरेत् ॥ १०१ ॥ सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्ब्राह्मणस्त्वनयं गतः । पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ॥ १०२ ॥

अर्थ–अपनी वृत्तिमें स्थित हुआ ब्राह्मण जो आजीविका नहीं कर सके तो वैश्यवृत्तिको नहीं करता हुआ आगे कहे इस धर्मका आश्रयण करे ॥ १०१ ॥ आपत् कालको प्राप्त हुआ ब्राह्मण सबसे अर्थात् निंदित जनोंसेभी प्रतिग्रह दान लेलेवे क्योंकि पवित्र जो है वह दूषित नहीं होता है जैसे गंगाजी रास्तेके जलसे दूषित नहीं होती तैसे शास्त्रकी रीतिसे तिसको दोष नहीं ॥ १०२ ॥

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ॥ १०३ ॥ जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते १०४

अर्थ–ब्राह्मणोंको आपत् कालमें निंदित पुरुषोंको पढाना वा निंदितोंके यज्ञ कराना वा प्रतिग्रह दान लेना इनका दोष नहीं है क्योंकि वे ब्राम्हण पवित्र होनेंसे अग्नि बा जलके समान है ॥ १०३ ॥ जो ब्राह्मण प्राण निकसते हों ऐसे बिपत्तिकालमें जहां कहां प्रतिग्रह दान लेके आजीवन करता है वह पापसे नहीं लिपता है तैसे कींचसे आकाश नहीं लिपता तैसे ॥ १०४ ॥

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः । न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ॥ १०५ ॥ श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः । प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान् ॥ १०६ ॥

अर्थ-अजीगर्त नामवाला ऋषि भूखसे पीडित हुआ, अपनें पुत्रको मारनेंको चला तबभी क्षुधा निवृत्त करनेंकेवास्ते ऐसा आचरण करता हुआभी तिस पापकरके नहीं लिपता भया ॥ १०५ ॥ धर्म अधर्मको जाननेंला वामदेवनामक ऋषि क्षुधासे पीडित हुआ प्राणोंकी रक्षाकेवास्ते कुत्तेके मांसको खानेंकी इच्छा करता हुआ पापसे लिप्त नहीं भया ॥ १०६ ॥

भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने । बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ॥१०७॥ क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्र श्वजाघनीम् । चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥

अर्थ-पुत्रसहित हुआ भरद्वाज नामक महामुनि निर्जन वनमें उपवास करनेंसे क्षुधासे पीडित हुआ वृधुनामवाले तक्षशिलीकी बहुतसी गौओंको ग्रहण करता भया ॥ १०७ ॥ क्षुधासे पीडित हुआ धर्म अधर्मको जाननेंवाला विश्वामित्र ऋषि चांडालके हाथसे कुत्तेके मांसको ग्रहणकरके खानेंको तैयार भये ॥ १०८॥

प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि । प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥१०९॥ याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् । प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

अर्थ-ब्राह्मणको निंदित जनोंका पढाना यज्ञकराना तिनका प्रतिग्रह दानलेना इनसबोंमें प्रतिग्रह दान सबसे निंदित है जबतक पढाना यज्ञकराना आदिसे गुजरानहो तबतक प्रतिग्रह न लेवे बिलकुल गुजरान नहीं होवे तब असत् पुरुषोंका प्रतिग्रह लेके गुजरान करे ॥ १०९ ॥ यज्ञकराना अध्यापन अर्थात् वेद आदिका पढाना ये कर्म संस्कारवाले द्विजातियोंकेही कराये जाते है और प्रतिग्रह दान तो अन्त्य जन्मवाले शूद्रसेभी किया जाता है ॥ ११० ॥

जपहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् । प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥१११॥ शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः । प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयास्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते ॥११२॥

अर्थ-जो निंदित पुरुषोंके याजन अध्यापन करानेंका पाप ब्राह्मणके लगता है वह आगे कहे हुए जप होमके प्रायश्चित्तसे दूर हो जाता है और प्रतिग्रह निमित्तका पाप प्रतिग्रह द्रव्यके त्यागनेंसे और तपकरनेंसे दूर होता है ॥ १११ ॥ जहां

तहां अपनी अन्य आजीविका नहीं करसक्ता हुआ ब्राह्मण शिलोंछ वृत्तिको ग्रहण करे प्रतिग्रहसे शिल अर्थात् खेतमांहसे मंजरी सहित सरटी आदिकोंको चुगलाना यह वृत्ति श्रेष्ठ है और शिलवृत्तिसे उंछ अर्थात् एक एक दाना चुगके ल्याना यह वृत्ति श्रेष्ठ है ॥ ११२ ॥

सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः । याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्संस्त्यागमर्हति ॥११३॥ अकृतं च कृतात्क्षेत्राद्गौरजाविकमेव च । हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत् ॥ ११४ ॥

अर्थ-धनके नहोनेंसे कुटुंबको पीडा होरही हो तब गृहस्थी ब्राह्मणोंको धान्य वस्त्र आदि कुप्यधन ग्रहण करनेके वास्ते धार्मिक क्षत्रियसे याचनाकरनी चाहिये और जो देनेंकी इच्छा नहीं करता है उसको त्याग देवे अर्थात् उस्से न मांगे ॥ ११३ ॥ खेतमें जो विनावोया हुआ धान्य उत्पन्न हुआ है वह वोया हुआ खेतके धान्यसे दोषारहित है और गौ बकरी भेडी सुवर्ण धान्य अन्न ये सातवस्तु पहले पहले वार प्राप्त हुई दोष रहित है ॥ ११४ ॥

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः। प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५॥ विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः । धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥११६॥

अर्थ-दायसे आदि ले सातवस्तु धर्मसे युक्त और चारों वर्णोंके वास्ते धनके आगमन रूप कहे है दाय कहिये कुटुंबके हिस्सेका धान, मित्र आदिसे निधि आदि धनका लाभ २ बेचना ३ येतीनों वस्तु चारोंवर्णोंको धनके आगमनके वास्ते कहे है और जयधन विजय करनेंसे क्षत्रियका है और सूद व्याजकी आजीवका वणज ये कर्म धनवृद्धिके वास्ते वैश्यके है श्रेष्ठ प्रतिग्रह लेना यह धन ब्राह्मणका है ॥ ११५ ॥ वैद्यक तर्क आदि विद्या चित्राम गंध युक्ति आदि शिल्पकर्म सेवावृत्ति अर्थात् नौकरी करनी गौओंकी रक्षा करनी दुकान, खेती करनी संतोष भिक्षाका समूह ग्रहण करना व्याजकी आजिविका ये दशधर्म आपत् कालमें आजीवनके वास्ते कहे है ॥ ११६ ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत् । कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ॥ ११७॥ चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि । प्रजा रक्षन् परं शक्त्या किल्बिषात्प्रतिमुच्यते॥११८।

अर्थ-ब्राह्मण और क्षत्रिय आपत् कालमेंभी व्याजकरके धनका बढाना न करे किंतु निकृष्ट कर्मकरकेभी अपनें धर्मके वास्ते कही हुई वृत्तिसे आजीवन करे ॥ ११७ ॥ खेतीके उपजे धान्य आदिक चौथा हिस्सा कर लेता हुआभी राजा आपत् कालमें परम शक्ति करके प्रजाकी रक्षा करता हुआ सब पापसे छूट जाता है ॥ ११८ ॥

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः । शस्त्रेण वैश्यान् रक्षित्वा धर्म्यमाहारयेद्बलिम् ॥ ११९ ॥ धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्षापणावरम् । कर्मोपकरणाः शूद्राः कारवः शिल्पिनस्तथा १२०

अर्थ-युद्धमें जय करना यह राजाका स्वधर्म है और राजा युद्धमें पराङ्मुख नहीं होवे अर्थात् पीठ देके भाजे नहीं और शस्त्रोंकरके चौरादिकोंसे वैश्योंकी रक्षाकरके तिनसे धर्मके अनुसार यथायोग्य अपनी कर लेलेवे ॥ ११९ ॥ राजा अपत्तिकालमें धान्यके समूहमे वैश्यसे आठवां भाग कर लेवे और दुकान आदिकी विक्रीकी चीजोंका वीशवां भागकर लेवे और कामोंका करनेंवाले कारव शिल्पी शूद्र इनके पास काम करवा लेवे और अन्य कर नहीं लेवे ॥ १२० ॥

शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन् क्षत्रमाराधयेद्यदि । धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥ १२१ ॥ स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः । जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १२२॥

अर्थ-शूद्र जो ब्राह्मणकी सेवा वाटहैल करता हुआ अपना गुजारा नहीं कर-सके तो क्षत्रियकी परिचर्या करे क्षत्रियके अभावमें धनी वैश्यकी सेवाकरके आजीवन करे इनतीनोंके अभावमें पहले कहे शिल्पीआदि कर्मोंको करे ॥ १२१ ॥ स्वर्गलोककी प्राप्तिके वास्ते और इस लोकमें अपनें गुजारेके वास्ते शूद्रब्राह्मणोंहिकी सेवा करे क्योंकि ब्राह्मणका सेवक है इस शब्दसे इस शूद्रकी कृतकृत्यता है ॥ १२२ ॥

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते । यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ १२३॥ प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः । शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् १२४॥

अर्थ-ब्राह्मणकी सेवा करनी यही शूद्रका परम धर्म कहा है और यह शूद्र जो

अन्य कछु कर्म करता है वह सब निष्फल हो जाता है यह वचन स्तुतिके वास्ते है ॥ १२३ ॥ तिस परिचारक शूद्रकी कर्मका उत्साह और परिचर्याकी सामर्थ्यको देखके तथा उसके कुटुंबके खर्चको देखके और उसकी चतुराई देखके तिन ब्राह्मणोंनें अपनें घरके अनुसार आजीविका कर देनी चाहिये ॥ १२४ ॥

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च। पुलाकाश्चैव धान्याना जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥ १२५ ॥ न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति। नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् १२६

अर्थ—तिस सेवक शूद्रके वास्ते ब्राह्मणोंनें उच्छिष्ट भोजन पुरानें वस्त्र देनें चाहिये और धान्योंके बाकी रहे किणके पुरानें वरतन भांडा वगैरह देनें चाहिये ॥ १२५ ॥ शूद्रकै लस्सन आदि भक्षण करनेंमें कछु पातक नहीं है और शूद्र उपनयन आदि संस्कारके योग्य नहीं है और यज्ञ आदि धर्म करनेंभी इसका कुछ अधिकार नहीं है और पाक यज्ञादिक धर्मोंसे इस शूद्रका निषेधभी नहीं है १२६

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः। मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥ यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः। तथातथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥१२८॥

अर्थ—जो अपनें धर्मको जाननेंवाले धर्मप्राप्तिकी इच्छा करनेंवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके आचारका अनुष्ठान करनेंवाले शूद्र है वे मंत्रको वर्जके नमस्कार मात्रसे पंचयज्ञोंको करते हुए दोषको नहीं प्राप्त होते हैं किंतु उत्तम प्रशंसाको प्राप्त होते है ॥ १२७ ॥ शूद्र जैसे जैसे अच्छे पुरुषोंका आचरण करता है और पराये गुणोंकी निंदा नहीं करता है तैसे तैसे इस लोकमें विख्यातिको प्राप्त होता है और परलोकमें उत्कृष्टताको प्राप्त होता है ॥ १२८ ॥

शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः। शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥ १२९ ॥ एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः। यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ॥ १३० ॥

अर्थ—धन कमानेंको समर्थ शूद्रनेंभी कुटुंबके निर्वाहमात्र और पंचयज्ञ आदि कर्मके योग्यसे अधिक धनका संचय नहीं करना चाहिये क्योंकि अधिक धन होनेंसे धनका मदसे यह शूद्र ब्राह्मणोंकोही पीडा देता है ॥१२९॥ ये चारों व-

र्णोंके आपत् कालके धर्म कह दिये है इन सबको इसी विधिसे करतेहुए जन परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ १२० ॥

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुवर्ण्यस्य कीर्तितः ।
अतः परं प्रवक्ष्यामिप्रायश्चित्तविधिं शुभम् ॥ १३१ ॥

अर्थ-यह चारोंवर्णोंकी संपूर्ण धर्मकी विधि कही है अब इस्से आगे प्रायश्चित्तके शुभ अनुष्ठानको कहैंगे ॥ १३१ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां दशमोऽध्यायः १०

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ।

सान्तानिकं यक्ष्यमाणमध्वगं सर्ववेदसम् । गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थ्युपतापिनौ ॥ १ ॥ नवैतान् स्नातकान्विद्याद्ब्रह्मणान्धर्मभिक्षुकान् । निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥२॥

अर्थ-संतान उत्पन्नकरनेंकेवास्ते विवाहके प्रयोजनवाला यज्ञ आदिके प्रयोजनवाला मार्गमें चलनेंवाला संपूर्ण दक्षिणसहित विसर्जित् यज्ञ कियेहुए, गुरुके वास्ते मांगनेंवाला वा माता पिताकेवास्ते मांगनेंवाला विद्यार्थी ब्रह्मचारी रोगी ये नव ९. ब्राह्मण भिक्षा मांगनेंके योग्य हैं सो धन रहित इनकेवास्ते गौ सुवर्ण आदि धनको विद्या गुणके अनुसार अवश्य देवै ॥ १ ॥ २ ॥

एतेभ्यो हि द्विजाग्र्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् । इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥३॥ सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् । ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥ ४ ॥

कर्थ-इन नव ९ श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके अर्थ दक्षिणासहित अन्न देना चाहिये और अन्योंके अर्थ वेदीसे वाहिर पकाया हुआ अन्नमात्र देना योग्य है ॥ ३ ॥ राजा वेदको जाननेंवाले ब्राह्मणोंके अर्थ संपूर्ण प्रकारके मणिमोती आदि रत्नोंको यज्ञादिकोंके योग्योंको देवै और बहुतसा धन देवे ॥ ४ ॥

कृतदारोऽपरान्दारान् भिक्षित्वा योऽधिगच्छति । रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तुसं ततिः ॥५॥ धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् । वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

अर्थ-जो विवाहा हुआ ब्राह्मण भिक्षा मांगकर दूसरा विवाह कराता है तिसको रमणमात्रका फल है और उसकै उत्पन्न हुई संतान धन देनेंवालेकी है इसवास्ते भिक्षा मांगके दूसरा विवाह न करावे ॥ ५ ॥ जो पुरुष वेदके जाननेंवाले कुटुंबी ब्राह्मणोंके अर्थ गौ सुवर्ण आदि धनको देते है वे मरके स्वर्गलोकको प्राप्त होते है ॥ ६ ॥

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये । अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥७॥ अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः । स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

अर्थ-जिस ब्राह्मणकै तीन वर्षतक अथवा कछु अधिक दिनोंतक कुटुंबपोषणकेवास्ते घरमें खर्च चलनेयोग्य धन हो वह सोमयाग करनेंको योग्य है ॥ ७ ॥ इसवास्ते जिसमे इस्से थोडा द्रव्य है वह जो यदि सोम करता है तो तिसका किया हुआभी सोमयाग नित्यभी ठीक संपूर्ण नहीं होता है तिसको अवश्य दूसरा सोमयाग करना चाहिये ॥ ८ ॥

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि । मध्वापातो विषास्वादः सधर्मप्रतिरूपकः ॥९॥ भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् । तद्भवत्यसुखोदर्कं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥

अर्थ-जो बहुत धनी पुरुष अवश्य पालनेंके योग्य मातापिता आदिक ज्ञाति जनोंको दुर्गति दुःख हुये संतेभी यशकेवास्ते अन्य जनोंके अर्थ दान देता है वह दान धर्मका प्रतिरूपकहै कछु साक्षात् धर्म नहीं, मध्वापात अर्थात् सोमयाग करना प्रथम यशकारक है अंतमें विषके समान है इसवास्ते नरकफलका हेतु होनेंसे ऐसा न करे ॥ ९ ॥ भृत्य अर्थात् पुत्र स्त्री आदिकोंको क्लेश देके जो परलोकके वास्ते दान आदिक करते हैं वह दान उस दाताको जीवता हुआको तथा मरा हुआकोभी दुःखके फल देनेंवाला होता है ॥ १० ॥

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनाङ्गेन यज्वनः । ब्राह्मणस्य विशेषेण

धार्मिके सति राजनि ॥११॥ यो वैश्यः स्याद्बहुपशुर्हीनक्रतुरसो-
मपः । कुटुम्बात्तस्य तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञसिद्धये ॥१२॥

अर्थ–धार्मिक राजा हुयेंसते उसके राज्यमें क्षत्रिय आदिक किसी यजमानका अथवा विशेषकरिके किसी ब्राह्मणका यज्ञ एक अंगकी कमीसे रुकरहा होवे तहां कोई वैश्य पशु आदिकोंकी समृद्धिसे युक्त हो और पंचयज्ञादिकोंसे रहित हो और सोमयाजी नहीं हो तिसके घरसे उस यज्ञके अंग समाप्ति योग्य द्रव्यको चोरीसे अथवा बलसे हर लेवे ॥ ११ ॥ १२ ॥

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः । न हि शूद्रस्य यज्ञेषु
कश्चिदस्ति परिग्रहः॥१३॥योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सह-
स्रगुः । तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन् ॥ १४ ॥

अर्थ–यज्ञके दो अंग अथवा तीन अंग हीन होनेमें अपने प्रयोजनकेवास्ते दो अंगोंकी वस्तुको अथवा तीन अंगोंकी वस्तुको शूद्रके घरसे जबर्दस्ती अथवा चोरीसे हरलेवे क्योंकि शूद्रके यज्ञका संबंध कभीभी नहीं है इसवास्ते तिसके घर-से मांगके नहीं लेवे ॥ १३ ॥ जो अग्निहोत्र आदि कर्म नहीं करनेंवाला ब्राह्मण सौ १०० गौओंका प्रमाणके समान धनवाला हो और जो अग्निहोत्री सोम-याग आदिकोंको नहीं करनेंवाला है वह हजार गौओंके समान धनवाला हो तिन दोनोंके घरसेभी निश्शंक होके धनको हर लेवे ॥ १४ ॥

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः । तथा यशोऽस्य प्रथते ध-
र्मश्चैव प्रवर्धते ॥ १५ ॥ तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता ।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः ॥ १६ ॥

अर्थ–जिसके नित्य प्रति प्रतिग्रह दानकाही धन है ऐसे ब्राह्मणको जो यदि मांगनेसे धन नहीं मिले तो विना देनेंवालेके धनको जबर्दस्तीसे हरके यज्ञकेवास्ते लेवे ऐसे करनेंसे इसकी विख्याति बढती है और धर्म बढता है ॥ १५ ॥ तीन दिनके उपवास व्रतमें चौथेदिन प्रातःकाल भोजनके समय दान आदि धर्मकेवास्ते धनसे रहित होवे तो एक दिनका गुजारालायक चोरी आ-दिसे धनका हरना योग्य है ॥ १६ ॥

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यतो वाप्युपलभ्यते । आख्यातव्यं तु त-
त्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति ॥१७॥ ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रिये-

ण कदाचन । दस्युनिष्क्रियययोस्तु स्वमजीवन् हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

अर्थ–धान्य काढनेंकी जगहसे वा खेतसे तथा घरसे जो धान्यादिक ल्याया गयाहो उसको यदि धनस्वामी पूछे तो कह देना चाहिये कि अमुक निमित्तके वास्ते यह चोरी की है ॥ १७ ॥ क्षत्रियको ब्राह्मणका धन कभीभी नहीं हरना चाहिये और क्षुधासे पीडित हुआ क्षत्रिय निषिद्ध आचरण और चोरीकी वृत्ति करनेंवाले ऐसे ब्राह्मण क्षत्रियोंके धनको हरनेंको योग्य है ॥ १८ ॥

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति । स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥ यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्वं तद्विदुर्बुधाः । अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥

अर्थ–जो पुरुष हीन कर्मोंवाले दुष्ट जनोंपास धनको चोरके उत्तम कर्मोंवाले साधु जनोंके अर्थ देता है वह अपनें आत्माको नौकारूपकरके उन दोनोंको दुःखसे पार उतार देता है ॥ १९ ॥ सर्वदा यज्ञ करनेंवालोंका जो धन है उसको यज्ञआदिकोंमे नियुक्त करनेंसे बुद्धिमान् जन देवस्व अर्थात् देवताओंका धन कहते है और यज्ञ नहीं करनेंवालोंका धनको राक्षससंबंधी धन कहते है ॥ २० ॥

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः । क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥ तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः । श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥

अर्थ–तिस उक्त प्रयोजनकेवास्ते धनको हरनेंवाला ब्राह्मणको धार्मिक राजा दंड नहीं देवे क्योंकि क्षत्रिय, राजाकेही मूर्खपनसे ब्राह्मण क्षुधासे पीडित होता है ॥ २१ ॥ राजा तिस ब्राह्मणके भृत्य कुटुंब आदिकोंको विचारके और उस ब्राह्मणको वेदको जाननेंवाला समझके उसकी आजीविकाका बंदोबस्त करदेवे ॥ २२ ॥

कल्पयित्वाऽस्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः । राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥ न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् । यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥

अर्थ–राजा इस ब्राह्मणकी आजीविकाका बंधानकरके फिर इसकी सबतर्फसे रक्षा करे क्योंकि उसकी रक्षा करनेसे उस ब्राह्मणके धर्मका छठाहिसाको राजा

प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ ब्राह्मण यज्ञकेवास्ते शूद्रसे धनको कभीभी नहीं मांगे क्योंकि शूद्रसे धन मांगके यज्ञकरनेंवाला ब्राह्मण मरके चंडाल होता है ॥ २४ ॥

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति । स याति भासतां विप्रः काकता वा शतं समाः ॥२५॥ देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः । स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति २६

अर्थ-जो ब्राह्मण यज्ञकेवास्ते धनको मांगके फिर तिस संपूर्ण धनको यज्ञमें नहीं लगाता है वह मरके गुजुनू तथा कुत्ता होता है अथवा सौ १०० वर्षतक काग होता है ॥ २५ ॥ जो पापी पुरुष देवताके द्रव्यको अथवा ब्राह्मणके द्रव्यको लोभसे हरता है वह मरके परलोकमें गीधके झूठे मांस आदिसे जीवता है अर्थात् निकृष्ट जीवकी योनिमें जाता है ॥ २६ ॥

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये । कॢप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसम्भवे ॥२७॥ आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः । स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

अर्थ-वर्ष समाप्त होनेंमें जो दूसरे वर्षका पर्यय अर्थात् चैत्र शुक्ल आदिमें जो विहित सोमयाग है उसके न होनेंमें उसकी दोषनिवृत्तिकेवास्ते यज्ञकी जाति है वह वैश्वानरी इष्टि कहाती है तिस इष्टिकी सिद्धिके अर्थ सर्वदा उक्त रीतिसे शूद्र आदिकसे धनको ग्रहण करे ॥ २७ ॥ जो द्विज आपत्कालके विनाभी आपत्कालमें कहे हुए धर्मके अनुसार वर्त्तता है वह परलोकमें तिस धर्मके फलको प्राप्त नहीं होता है ऐसा मनुआदि ऋषियोंका विचार है अर्थात् निश्चय है ॥२८॥

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः । आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥२९॥ प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते । न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

अर्थ-विश्वेदेव साध्यसंज्ञकदेवता महर्षि ब्राह्मण इन्होंनें आपत्कालमें मृत्युके भयसे सोमयज्ञादिकोंकी प्रतिनिधि वैश्वानरी आदि कल्पित की है सो मुख्यविधिका संभव होनेंभी कल्पित विधिको न करे ॥ २९ ॥ जो पुरुष मुख्य अनुष्ठानकर्म करनेंमे समर्थ हो वह उसके आभावमें कही हुई प्रतिनिधिकर्मको न करे क्योंकि उस दुर्बुद्धिवालेको परलोकमें तिसका फल नहीं होता है ॥ ३० ॥

न ब्राह्मणोऽवेदयत किञ्चिद्राजनि धर्मवित् । स्ववीर्येणैव तान् शिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥ स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम् । तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः ॥ ३२ ॥

अर्थ–धर्मको जाननेंवाला ब्राह्मण अपराध करनेंवाले पुरुषोंको राजाकेवास्ते न कहे किंतु तिन अपमान करनेंवाले जनोंको अपनेंही शाप आदि बलसे दंडदेवे ॥ ३१ ॥ पराधीन राजसामर्थ्य है स्वाधीन अपनी सामर्थ्य अधिक बलवाली है इसवास्ते ब्राह्मण शत्रुओंको अपनेंही बलसे वशमें करे ॥ ३२ ॥

श्रुतीरथर्वांगिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् । वाक्शस्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥३३॥ क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः । धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्द्विजोत्तमः ॥ ३४ ॥

अर्थ–अथर्वण वेदकी दुष्टाभिचारवाली श्रुतिके अनुसार निस्संदेह होके वर्त्ते उसमें यही आशय हैकि ब्राह्मणके वाणी शस्त्ररूप है इसवास्ते द्विज तिस वाणीरूप शस्त्रकरके शत्रुओंका नाश करे ॥ ३३ ॥ क्षत्रिय अपनी अपात्तिको भुजाके पराक्रमसे दूर करे और वैश्य तथा शूद्र धन देके शत्रु आदिको दूर करे और ब्राह्मण अभिचारात्मक जप होम आदिकोंसे आपत्तिको दूर करे ॥ ३४ ॥

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते । तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥३५॥ न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः । होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्तथा ॥

अर्थ–विहित कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला और पुत्र शिष्य आदिकोंको शिक्षा देनेंवाला प्रायश्चित्त आदि धर्मोंका कहनेवाला संपूर्ण प्राणियोंसे प्यार रखनेंवाला ऐसा ब्राह्मण कहाता है उसकेवास्ते खोटा वचन नहीं कहे और धिकार आदि शुष्क वचन नहीं कहे ॥ ३५ ॥ तरुण अवस्थावाली विना विवाहीहुई कन्या थोडी विद्यावाला जन मूर्ख व्याधिसे पीडित संस्कार कर्म उपनयन आदिसे रहित पुरुष ये सब सायंप्रातःकाल अग्निहोत्रहोम न करै ॥ ३६ ॥

नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत् । तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥ प्राजापत्यमदत्वाश्वमग्न्याधेयस्य

दक्षिणाम् । अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥३८॥

अर्थ-ये पूर्वोक्त कन्या आदिक जन होम करते हुए नरकमें प्राप्त होते हैं और जिस किसीके वदलेमें होम करते है वहभी नरकमें जाताहै इसवास्ते वेदके कर्ममें निपुण वेदको जाननेंवाला श्रेष्ठ ब्राह्मण होता करना चाहिये ॥ ३७ ॥ धनकी संपत्ति होनेंमें ब्राह्मण आधानकर्ममें अग्न्याधेयकी दक्षिणा प्रजापति दैवत अश्वको देवै और जो अश्वकी दक्षिणा नहीं देता है तो वह अनाहिताग्नि होजाता है आधानके फलको प्राप्त नहीं होता है ॥ ३८ ॥

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः । न त्वल्पदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते ह कथंचन ॥ ३९॥ इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून् । हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत्॥४०॥

अर्थ-श्रद्धावान् और जितेंद्रिय ब्राह्मण तीर्थयात्रा आदि अन्य पुण्य कर्मोंको करे परंतु कमदक्षिणावाली यज्ञोंको कभी न करे ॥ ३९ ॥ थोडी दक्षिणावाले यज्ञ चक्षु आदि इंद्रिय यश स्वर्ग आयु मृत हुयेकी विख्याति संतान पशु इन सबका नाश करते हैं इसवास्ते थोडी दक्षिणावाले यज्ञ न करे ॥ ४० ॥

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन् ब्राह्मणः कामकारतः । चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥४१॥ ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते । ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

अर्थ-अग्निहोत्री ब्राह्मण इच्छासे सायंप्रातःकालमें अग्निमें हवन न करे तो एक महिनातक चांद्रायण व्रत करे क्योंकि अग्निहोत्रीको यह पुत्रकी हत्याके समान दोष हैं ॥४१॥ जों शूद्रसे धनको ग्रहणकरके अग्निहोत्र कर्म करते है वे ब्राह्मण वेदवादी ब्राह्मणोंमें निंदित होते हैं क्योंकि वे शूद्रोंकेही याजक हैं वह फल उन ब्राह्मणोंका नहीं ॥ ४२ ॥

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम् । पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥ अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

अर्थ-शूद्राका धन लेके यज्ञकरनेंवाले तिन मूर्ख ब्राह्मणोंके मस्तकपे पैर रखके वह शूद्र तिस दानकरके परलोकमें दुःखोंसे पार हो जाता है और उन ब्राह्मणोंको कुछ फल नहीं होता है ॥ ४३ ॥ विहित नित्य नैमित्तिक कर्मोंको नहीं

करता हुआ और निंदित कर्मोंका आचरण करनेंवाला और इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहनेंवाला ऐसा पुरुष प्रायश्चित्त करनेंको योग्य है ॥ ४४ ॥

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः । कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥ अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति । कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥

अर्थ–विना इच्छासे अज्ञानसे कियेहुए पापमें प्रायश्चित्त है ऐसे पंडितलोग कहते हैं और कईक पंडित वेदके देखनेंसे कहते है कि इच्छासे कियेहुए पापका-भी प्रायश्चित्त है ॥ ४५ ॥ इच्छाके विना किया हुआ पाप वेदके अभ्याससे शुद्ध हो जाता है और इच्छाकरके कियाहुआ पापके अनेक प्रकारके जुदे जुदे प्रायश्चित्त है ॥ ४६ ॥

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा । न संसर्गं व्रजेत्सद्भिः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥४७॥ इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा । प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

अर्थ–दैवसे अथवा प्रमादसे पूर्वजन्ममें अन्य शरीरसे कियेहुए दुष्कृतसे क्षयीरोग आदिकोंसे सूचित होनेंसे तिस पापका प्रायश्चित्त कियेंबिना उत्तम पुरुषोंमें याजन आदिका साथ नहीं करे ॥ ४७ ॥ इस जन्ममें कईक पुरुष निषिद्ध आचरणोंकरके और कई पूर्व जन्मके कर्त्तव्योंसे दुष्ट स्वभाववाले होते हैं और कुनखी आदि विपरीत रूपोंवाले होते हैं ॥ ४८ ॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् । ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥ पिशुनः पौतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम् । धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥५०॥

अर्थ–सोनाकी चोरी करनेंवाला कुनखी अर्थात् बुरे नखोंवाला होता है और मदिरा पीनेंवालाके काले दांत होते हैं और ब्रह्महत्यावाला क्षयीरोगी और गुरुकी स्त्रीकी शय्यापै शयनकरनेवाला बुरी चांमवाला होताहै ॥ ४९ ॥ चुगलखोरकी नासिकामें दुर्गंधका रोग, सूचककै मुखका रोग धान्यको चोरनें-वाला अंगहीन चीजको मिलानेंवाला अतिरिक्त अर्थात् सब वातोंकी कमीवाला ऐसे ये रोग हो जाते हैं ॥ ५० ॥

अन्नहर्तामयावित्वं मौक्यं वाग्प्रहारकः । वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं

पंगुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥ एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विग-र्हिताः । जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

अर्थ-अन्नको चुरानेंवाला मंदाग्निरोगी चुराके पढनेंवाला गूंगा वस्त्रको हर-नेंवाला श्वित्रकुष्ठी अश्वको हरनेंवाला पांगला ॥ ५१ ॥ ऐसे कर्मोंके अनुसार श्रेष्ठ पुरुषोंसे निंदित जन होते है तथा मूर्ख गूंगा अंधा बधिर विकृतआकृति-वाला ऐसेभी होते हैं ॥ ५२ ॥

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये । निन्द्यैर्हि लक्षणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कृतैनसः ॥ ५३ ॥ ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्व-ङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥

अर्थ-जिनोंने पूर्व जन्ममें अपनें कियेहुए पापोंका प्रायश्चित्त आदिसे नाश न किया है वे कुनखी आदि इन उक्त लक्षणोंवाले होते हैं इसवास्ते तिनकी वि-शुद्धिकेवास्ते प्रायश्चित्तको नित्य करै ॥ ५३ ॥ ब्रह्महत्या मदिराका पीना चोरी करना गुरुकी स्त्रीके संग मैथुन करना इनको महापातकी कहते हैं और इनके साथ रहनेंवालेभी महापातकी कहाते हैं ॥ ५४ ॥

अनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् । गुरोश्चालीकनिर्बंधः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ५५॥ ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः । गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६ ॥

अर्थ-जातिकी उत्कर्षताकेवास्ते मैं ब्राह्मण हूं ऐसा उत्कर्ष कहना और राज-द्वारमें चोर आदिकोंको फांसी आनेंलायक कसूरको कहनेंवाला गुरुको झूठा कहनेंवाला ये सब दोष ब्रह्महत्याके समान है ॥ ५५ ॥ पढेहुए वेदको अभ्यास विना भूल जाना नास्तिक युक्तियोंसे वेदकी निंदा करना झूटी गवाही देना मि-त्रका वध करना निंदित लस्सन आदि वा विष्टा आदिका भक्षण करना ये छह मदिरापानके समान है ॥ ५६ ॥

निक्षेपस्यापहरणं नराश्वरजतस्य च । भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्ते-यसमं स्मृतम् ॥५७॥ रेतः सेकःस्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥

अर्थ-किसीकी धरोहर जमांका हरना मनुष्य अश्व चांदी इनका हरना भू-मि हीरामणि इनका हरना ये सब सोनाकी चोरीके समान है ॥ ५७ ॥ मा जा-

ई वहै न चंडाली सखी पुत्र वधू इनमें मैथुन व्यभिचार करना गुरुकी भार्याके संग मैथुन करनेंके समान है ॥ ५८ ॥

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रयाः । गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥ ५९ ॥ परिवित्तितानुजेऽनूढे परिवेदनमेव च । तयोर्दानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥ कन्याया दूषणं चैव वार्धुष्यं व्रतलोपनम् । तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥ व्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च । भृताच्चाध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥ सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् । हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥ ६३ ॥ इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् । आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥ ६४ ॥ अनाहिताग्निता स्तेयमृणानामनपक्रिया । असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया ॥ ६५ ॥ धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपस्त्रीनिषेवणम् । स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—गौका वध करना जातिके कर्मोसे दूषित पुरुषोंके यज्ञआदि कराना परस्त्रीगमन आत्माका वेचना गुरु माता पिता इनका त्याग करना अर्थात् इनकी सेवा न करना स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञका त्यागना श्रौत स्मार्त अग्निमे होम न करना पुत्रका त्यागना ॥ ५९ ॥ पहिले छोटे पुत्रका विवाह करनेंसे बडेकी परिवित्ति संज्ञा हो जाती है और छोटेकी परिवेत्ता संज्ञा हो जाती है उन दोवोंके अर्थ कन्या दान देना और उन दोनोंके यज्ञआदि करानेंमें ऋत्विक होना ॥ ६० ॥ कन्याके अंग प्रक्षेप आदिसे दोष लगाना व्याजकी आजीविका करना ब्रह्मचर्यमें मैथुन करना, तलाव बगीचा स्त्री संतान इन्होंका वेचना ॥ ६१ ॥ व्रात्यता अर्थात् यथायोग्य कालमें उपनयन संस्कार नहीं कराना पितृव्य आदि बांधवोंका त्याग नौकरी लेके पढाना और नौकरी देके पढना तिल आदि अविक्रिय वस्तुओंका वेचना ॥ ६२ ॥ सुवर्ण आदि संपूर्ण खानोंके स्थानका राजाकी आज्ञासे अधिकारपना जल रोकनेंकेवास्ते बडे प्रवाहोंको वांधनेंके अर्थ पुल आदि बांधना औषधियोंकी जातिमात्रकी हिंसा करना अपनी स्त्रीको वेश्या बनाके

आजीवन करना मारण वा मंत्र औषधी आदिको वशीकरण करना ॥ ६३ ॥ इंधनकेवास्ते हरे गीले वृक्षोंका तोडना देवता पितर आदिकोंके उद्देश विना पाक करना निंदित पुरुषोंका अन्न भक्षण करना ॥ ६४ ॥ अधिकार होनेंपर अग्निहोत्र न करना चोरी करना कर्जेको नटना श्रुतिस्मृतियोंसे विरुद्ध शास्त्रकी शिक्षा मानना नृत्य गीत बाजा आदिकोंका सेवन करना ॥ ६५ ॥ धान्य तांबा लोहा आदि पशु इनकी चोरी करना मदिरा पीनेंवाली स्त्रीके संग मैथुन करना स्त्री शूद्र वैश्य क्षत्रिय इनका वध करना नास्तिकपना ये सब उपपातक है॥६६॥

ब्राह्मणस्य रुजः कृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः । जैह्म्यं च मैथुनं पुंसि जातिभ्रंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥ खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा । संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

अर्थ–ब्राह्मणको लाठी वगैरह हाथमें लेके पीडा देनी लस्सन विष्ठा आदि अघ्रेय वस्तुओंका सूंघना कुटिलता पुरुषके मुख गुदा आदिमें मैथुन करना इन कामोंवाले जनोंको जातिभ्रंशकर अर्थात् जातिको भ्रष्टकरनेंवाले कहे है ॥६७॥ गदहा घोडा ऊंट मृग हस्ती बकरी भेडी मच्छी सर्प भैंसा इनका प्रति एक एकका वध करनाको शंकरी करना कहते हैं ॥ ६८ ॥

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् । अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥ कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् । फलैधः कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

अर्थ–निंदित पुरुषोंसे धनका दान लेना वणज करना शूद्रकी सेवा करनी झूठ बोलना इन प्रत्येकोंको अपात्री करण ऐसा जानें ॥ ६९॥ कृमि छोटे जीव-कीट कहें बडे कीडे मक्खी आदि जीव इनका मारना मदिरामें मिलाहुआ भोजन करना फल इंधन पुष्प इनकी चोरी करना धीरज नहीं करना इनको मलिनीकरण मैलापन करना कहते है ॥ ७० ॥

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् । यैर्यैर्व्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥ ७१ ॥ ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् । भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

अर्थ–ये ब्रह्महत्या आदि यथोक्त जुदे जुदे कहे हुए सब पाप जिन जिन व्रतोंके करनेंसे नष्ट होते है तिन सबोंको सुनो ॥ ७१ ॥ ब्रह्महत्या करनेंवाला

पुरुष अपनें मस्तकमें मुरदेके शिरका चिन्ह बनाके वनमें कुटी बना तहां बारह वर्षतक वास करे और अपनें पाप दूर होनेंके अर्थ भिक्षा मांगके भोजन करे ॥ ७२ ॥

लक्ष्यं क्षस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयात्मनः । प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ७३ ॥ यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा । अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥७४॥

अर्थ–अथवा ब्रह्महत्यावाला पुरुष यह ब्रह्महत्याके पाप क्षयकेवास्ते ऐसा लक्षण बनारहा है ऐसे जानते हुए जनोंमें शस्त्रोंको धारणकरके मरणपर्यंत युद्धमें सन्मुख रहै अथवा जलती हुई अग्निमें नीचेको शिरकरके तीन वार अपने शरीरको पटक देवे ॥ ७३ ॥ अथवा अश्वमेध यज्ञ करे वा स्वर्जित यज्ञ करे तथा गोसव यज्ञ करे अथवा अभिजित् विश्वजित् त्रिवृत अग्निष्टुत इन यज्ञविशेषोंको करे ॥ ७४ ॥

जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् । ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्नियतेन्द्रियः ॥ ७५ ॥ सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् । धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

अर्थ–अथवा ब्रह्महत्या दूर होनेंकेवास्ते थोडा भोजन करता हुआ जितेंद्रिय रहे और चारोंवेदोंमिसे किसी एक वेदको जपता हुआ चारसौ कोशतक गमन करै ॥७५॥ अथवा ब्रह्महत्या दूर होनेंकेवास्ते अपना सब धन वेदको जाननेंवाले ब्राह्मणके अर्थ दे देवै तथा उस ब्राह्मणको जीवनपर्यंत भोगनें लायक धन देवै अथवा धन धान्य आदि सब वस्तुओंसे युक्त हुआ घरका दान देवै ॥ ७६ ॥

हविष्यभुग्वा नुसरेत्प्रतिस्रोतः सरस्वतीम् । जपेद्वा नियताहारस्त्रिर्वै वेदस्य संहिताम् ॥७७॥ कृतवापनोतु निवसेद्ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा । आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥

अर्थ–पसही आदि हविष्य अन्नोंको भोजन करे और प्रतीची सरस्वती नदीके प्रति गमन करे अथवा नियमपूर्वक आहार करता हुआ तीनों वेदोंकी संहिताकों पढै ॥ ७७ ॥ बाल नख डाढी मूंछ इनको मुंडायें हुए रहे और ग्रामके बाहिर वास करे अथवा गौओंके स्थानमें वास करे तथा पवित्र आश्रममें वा वृक्षकी जडके नीचे वास करे और गौ ब्राह्मणोंके हितमें रत रहै ॥ ७८ ॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत् । मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोर्ब्राह्मणस्य च ॥ ७९ ॥ त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा । विप्रस्य तन्निमित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥८०॥

अर्थ–ब्राह्मणोंके वास्ते अथवा गौओंके वास्ते शीघ्रही प्राणोंको त्याग देवे क्योंकि गौ ब्राह्मणकी रक्षा करनेंवाला पुरुष ब्रह्म हत्यासे छूटजाता है ॥ ७९ ॥ ब्राह्मणका सर्वस्व धन हरनेमें तीनवार शक्तिके अनुसार युद्धमें प्रवृत्त हुआ पुरुष तिस सर्वस्व धन हरणकी ब्रह्महत्यासे छूट जाता है और तिस धन हरनेंके निमित्तमें जो ब्राह्मणका मरना हो जावे तोभी इसी विधान करनेंसे तिस दोषसे छूट जाता है ॥ ८० ॥

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारीसमाहितः । समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥ शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे । स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

अर्थ–इस उक्त प्रकारसे नित्य प्रति ब्रह्मचर्यमें सावधान रहनेंवाला पुरुष बारहवर्ष व्यतीत होनेंमें ब्रह्महत्याके पापको दूर कर देता है ॥ ८१ ॥ अथवा अश्वमेध यागमें ऋत्विक् ब्राह्मणोंमें और क्षत्रियोंके समागमोंमें ब्रह्महत्याके पापको कहके फिर अवभृथ स्नानकरके तिस ब्रह्महत्यासे छूट जाता है ॥ ८२ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते । तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥ ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम् । प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मात्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

अर्थ–धर्मका उपदेश करनेंसे ब्राह्मण धर्मका मूल है और उसका अनुष्ठान करनेंसे राजा अग्रभाग कहाता है इसवास्ते तिनका समागममें अश्वमेध यज्ञमें पापका निवेदनकरके अवभृथ स्नान करनेंसे तहां शुद्ध हो जाता है ॥ ८३ ॥ ब्राह्मण उत्पत्ति मात्रसेही देवताओंका दैव है यहां मनुष्योंमें प्रत्यक्ष वेदहीका प्रमाण है उस वेदको धारण करनेंवाले वे ब्राह्मणही है ॥८४॥

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सुनिष्कृतिम् । सा तेषा पावनाय स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥ अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः । ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥८६॥

अर्थ–तिन वेदको जाननेंवाले ब्राह्मणोंके मध्यमें तीनों वेदोंको जाननेंवाले तीन विद्वान् तिसके पापके प्रायश्चित्तको कहैं वह उनकी वाणी तिसके पवित्र करनेंके वास्ते है क्योंकि विद्वानोंकी वाणी पवित्र कही है ॥ ८५ ॥ इस प्रायश्चित्त गुणविधिसे अन्य कोईसे प्रायश्चित्तको समाधान होके ब्राह्मण आदि जो करता है वहभी ब्रह्महत्याके पापको दूरकर देता है अर्थात् इन विधियोंके बीजमें एक कोईसीभी विधि करनेंसे ब्रह्महत्या दूर होजाती है ॥ ८६ ॥

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत्। राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम् ॥ ८७ ॥ उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुध्य गुरुं तथा। अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्वधम् ॥ ८८ ॥

अर्थ–ब्राह्मणीके विनाजानें हुए गर्भको मारके तथा क्षत्रिया वैश्या रजस्वला ब्राह्मणी इन स्त्रियोंको मारके इसी व्रतको करनेंसे हत्या दूर होती है ॥ ८७ ॥ सुवर्ण भूमि आदिके विषयमें झूठी साक्षी देके और गुरुके प्रति क्रूर वचन कहके प्रतिरोधकरके किसीको धरोहर मारके स्त्री मित्र इनका वधकरके ब्रह्महत्याको प्राप्त होता है ॥ ८८ ॥

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्याकामतो द्विजम्। कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते ॥ ८९ ॥ सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्। तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः ॥ ९० ॥

अर्थ–यह संपूर्ण ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त विशेषकरिके इच्छा किये विना ब्राह्मणके वधमें कहा है और जो इच्छासे अर्थात् जानके ब्राह्मणका वध करता है उसका कुछ प्रायश्चित्त नहीं कहा है ॥ ८९ ॥ द्विज आज्ञानसे मदिराको पीके अग्निसे गरम जलती हुई मदिराको पीवे तिस जलती हुई मदिरासे उसका शरीर दग्ध हो जावे तब वह तिस पापसे छूटता है ॥ ९० ॥

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा। पयो घृतं वामरणाद्गोशकृद्रसमेव वा ॥ ९१ ॥ कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि। सुरापानापनुत्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥ ९२ ॥

अर्थ–अथवा गोमूत्र जल दूध घृत गोवरका रस इनमेसे एक कोइलेके अग्निसे गरमकरके मरणपर्यंत पीवे ॥ ९१ ॥ अथवा पी हुई मुख्य मदिरापानके दोष निवृत्तिकेवास्ते वर्षदिनपर्यंत जीर्ण वस्त्र रक्खै जटा धारण रक्खै और मदि-

रा पीनेंका चिन्ह बना लेवे और रात्रीकी समयमें एकबार चावलोंके किणकों-को अथवा तिलोंकी खरीको भक्षण करे ॥ ९२ ॥

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते। तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ ९३ ॥ गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा। यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः ॥९४॥

अर्थ-सुरामदिरा अन्नोंका मल है और वह मल पापरूप कहाता है इसवास्ते ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ये मदिराको न पीवें ॥ ९३ ॥ गौडी यानें गुडसे बनाईहुई पैष्टी पीठीसे बनाई हुई माध्वी अर्थात् महुवा वृक्षके पुष्पोंसे बनाई हुई ऐसे तीन प्रकारकी मदिरा होती है इनमें जैसी एक पीयी तैसे सब पीई इसवास्ते द्विजोत्तमोंको नहीं पीनी चाहिये ॥ ९४ ॥

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्। तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥ ९५ ॥ अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत्। अकार्यमन्यत्कुर्याद्वा ब्राह्मणो मदमोहितः ॥ ९६ ॥

अर्थ-मदिरा मांस मदिराका आसव ये यक्ष राक्षस पिशाच इनके अन्न हैं इसवास्ते देवताओंके हविषको भोजनकरनेंवाले ब्राह्मणोंको ये भक्षण नहीं करनें चाहिये ॥ ९५ ॥ मदिरापानके मदसे मूढ हुआ ब्राह्मण पतित हो जावे अथवा अपवित्र हुआ वेदके वचनोंको उच्चारण करे अथवा ब्रह्महत्या आदि अकार्यको कर देता है ॥ ९६ ॥

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत्। तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ ९७ ॥ एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः। अत उर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम् ॥ ९८ ॥

अर्थ-जिस ब्राह्मणके शरीरगत जीवात्मा एकवारभी मदिरासे मिल जाता है तथा एकवारभी जो ब्राह्मण मद्य पीता है तिसका ब्राह्मणपना दूर हो जाता है और शूद्रभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ९७ ॥ यह मदिरापानका अनेक प्रकारका प्रायश्चित्त कहदिया है अब इससे आगे सुवर्णकी चोरीका प्रायश्चित्त कहैंगे ९८

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु। स्वकर्म ख्यापयन् ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ ९९ ॥ गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं

स्वयम्। वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु॥ १००॥

अर्थ–सुवर्णकी चोरी करनेंवाला ब्राह्मण राजाके पास जाके अपनें चोरीके सब कर्मोंको कहै और राजासे यह कहै कि मुजको आप सजा दो यहां ब्राह्मण शब्दसे मनुष्यमात्रका ग्रहण है॥ ९९॥ उस चोरसेही दियेहुए, मूसलको राजा ग्रहण करके एकवार तिस चोरको हनन करे वह चोर तिस वधसे शुद्ध हो-जाता है और ब्राह्मण चोर तप करनेंसे शुद्ध होता है॥ १००॥

तपसाऽपनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम्। चीरवासा द्विजोरण्ये चरेद्ब्रह्महणो व्रतम्॥ १०१॥ एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः। गुरुस्त्रीगमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत्॥ १०२॥

अर्थ–सुवर्णकी चोरीके पापको तपकरके दूर करनेंकी इच्छावाला ब्राह्मण पुरानें वस्त्र धारण कर अरण्य वनमें पूर्वोक्त ब्रह्मवध प्रायश्चित्तमें कहा व्रतका आचरण करे॥ १०१॥ इन कहेहुए व्रतोंकरके सुवर्णकी चोरीके पापको द्विज दूर कर देता है और गुरुकी स्त्रीके संग गमनके पापको आगे कहेहुए इन व्रतोंकरके दूर करे॥ १०२॥

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये। सूर्मीं ज्वलन्तीं स्वाश्लिष्येन्मृत्युना न विशुद्ध्यति॥ १०३॥ स्वयं वा शिश्नवृषणावुत्कृत्याधाय चाञ्जलौ। नैर्ऋतीं दिशमातिष्ठेदानिपातादजिह्मगः १०४

अर्थ–गुरुकी स्त्रीसे गमनकरनेंवाला तथा मातासे गमनकरनेंवाला पुरुष जलते हुए लोहाके अंगारोंपर शयन करे अथवा लोहाकी स्त्रीकी मूर्तिको अग्निसे जलती हुईको पकडके मरजानेंसे शुद्ध होता है॥ १०३॥ अथवा अपनें लिंगको और वृषणोंको आपही काटके अपनी अंजलीमें लेके मरणपर्यंत नैर्ऋत दिशामें चला जावे और कुटिलतासे न चले॥ १०४॥

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने। प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः॥ १०५॥ चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः। हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये॥१०६॥

अर्थ–खटियाके पाया आदिको धारण रक्खे और पुरानें वस्त्रोंको धारण करे डाढी आदिवालोंको नखोंको वढावे विजन बनमें विचरता हुआ कृच्छ्र प्राजाप-

त्य व्रतको समाधान होके वर्षपर्यंत करे ॥ १०५ ॥ गुरुकी स्त्रीके संग मैथुन दोषकी निवृत्तिकेवास्ते जितेंद्रिय होके तीन महिनोंतक चांद्रायण व्रतको करे शामक आदि हविष्यान्न वा शाक मूल फल यवागू इनका भोजन करे ॥ १०६ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् । उपपातकिनस्त्वेवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥ उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं यवान्पिबेत् । कृतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

अर्थ-इन उक्त व्रतोंकरके ब्रह्महत्या आदि महापातकीके पापको दूरकरवावे और गोवध आदि उप पातकी पुरुषके पापोंको आगे कहेहुए इन अनेक प्रकारके व्रतोंकरके दूर करे ॥ १०७ ॥ गौकी हिंसा करनेवाला जन एकमहीनातक जवोंका दलिया पीवे और शिखा नख मूंछ डाढी सहित क्षौरकरवाके तिस मृत गौके चामको ओढके गौओंके स्थानमें तीन महीनोंतक वास करे ॥ १०८ ॥

चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् । गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥ दिवानुगच्छेद्गास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिबेत् । शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥ तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत् । आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ १११ ॥ आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्भयैः । पतितां पङ्कलग्नां वा सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥ उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् । न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥ आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले । भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥

अर्थ-और गोमूत्रसे स्नान करे जितेंद्रिय रहे कृत्रिमलवणके विना थोडासा भोजन करे एकदिन भोजनकरके दूसरे दिन सायंकाल भोजन करे ऐसा विधान दो महिनोंतक करे ॥ १०९ ॥ दिनमें प्रातःकाल तिन गौओंके पीछे पीछे अनुगमन करे और उनकी रजमें स्थित होके भोजन करे वा जलपान करे और तिनकी टहैलकरके प्रणामकर फिर रात्रिमेंभीत आदिके सहारे होके स्थित रहे ॥ ११० ॥ और जववे गौ खडी होवें तब आपभी खडा हो जावें जववे चलें तवचलै जब बैठे तब बैठे ऐसे नियममें रहें मत्सरतासे रहित रहे ॥ १११ ॥ और व्याधिसे

पीडित, चौर व्याघ्र आदिकोंके भयसे आक्रांत पडी हुई कीचमें धसकी हुई ऐसी गौको सब उपायोंकरके शक्तिके अनुसार छुटवा देवे ॥ ११२ ॥ और घामपडताहो मेघ वर्षता हो शीत पडती हो अत्यंत वायु चलती हो ऐसे समयमे गौकी रक्षा कियेंबिना अपनी रक्षा न करे अर्थात् बनसके तो अवश्य गौकी रक्षा करे ॥११३॥ अपनें अथवा अन्य जनके घरमें तथा खेतमें वा धान्यमे इकट्ठाकरनेंकी जगह गौको चरती हुईको तथा वच्छेको दूध पीते हुएको देखके कहै नहीं ॥ ११४ ॥

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति । स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥ वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः । अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

अर्थ–इस उक्त विधिसे जो गोवध करनेंवाला पुरुष गौओंका अनुचर होता है वह गो हत्याके कियेहुए पापसे तीन महिनोंमे छूट जाता है ॥ ११५ ॥ दश गौ एक वृषभ ऐसे ग्यारह गौओंका दान करे और जो यदि सम्यक् प्रायश्चित्त करनेंवाला वह पुरुष इनको न दे सके तो अपना सर्वस्व धन वेदको जाननेंवाले ब्राह्मणोंके अर्थ दे देवै ॥ ११६ ॥

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः । अवकीर्णिवर्ज्यं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७॥ अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे । पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

अर्थ–गोवध आदि उपपातकी पुरुष इन्हीं व्रतोंकों करें और शुद्धिकेवास्ते आगे कहेहुए अवकीर्णीके विना चांद्रायण व्रतकोभी करे ॥ ११७ ॥ आगे कहा हुआ अवकीर्णी जन रात्रीमें चौराहेमें काणे गधेकरके पाक यज्ञके विधानसे नैर्ऋति देवताका पूजन करे ॥ ११८ ॥

हुत्वाग्नौ विधिवद्धोमानन्ततश्च समेत्यृचा । वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाहुतीः ॥ ११९ ॥ कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः । अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

अर्थ–पीछे तहां चतुष्पथमें विधिपूर्वक होमकरके तिसके अंतमें समासिञ्चन्तु मरुतः०इस ऋचाकरके मारुत इंन्द्र बृहस्पति अग्नि इन देवताओंके अर्थ घृतकी आहुति देवे ॥ ११९ ॥ जो ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थित हुआ द्विजाति इच्छासे स्त्रीकी योनिमें वीर्यको छोड देता है उसके व्रतके अतिक्रम होनेंसे धर्मको जाननेंवाले

और सब वेदोंके जाननेंवाले पुरुष तिसको अवकीर्णी कहते है ॥ १२० ॥

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेवच । चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्राह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥ एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम् । सप्तागाराश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

अर्थ—वेद विद्या पढनेंके समय ब्रह्मचर्य व्रतसें रहनेंवाला जो यदि अवकीर्णी हो जावे तो फिर उसके ब्राह्म तेजको मारुत इंद्र बृहस्पति ये चार देते है इसवास्ते इनके अर्थ आहुति देवे ॥ १२१ ॥ यह अवकीर्ण पाप उत्पन्न हो जावे तब पूर्वोक्त गर्दभयाग आदि करके गधाके चामको धारणकरके अपनें कर्मको कहता हुआ सात घरोंमें भिक्षा मांगे ॥ १२२ ॥

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम् । उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुद्ध्यति ॥ १२३ ॥ जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

अर्थ—तिनसातों घरोंसे लब्ध हुई भिक्षाको दिनमें एक समय भोजन करे और सायंकाल प्रातःकाल मध्यान्ह इन तीन कालोंमें स्नान करता हुआ एक वर्षमें शुद्ध होता है ॥ १२३ ॥ ब्राह्मण इच्छासे जातिभ्रंश करनेंवाले कर्मको करके आगे कहेहुए कृच्छ्र सांतपन व्रतको करे और जो इच्छा विना किया हो तो आगे कहेहुए प्राजापत्य व्रतको करे ॥ १२४ ॥

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् । मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यावकैस्त्र्यहम् ॥ १२५ ॥ तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त संकरी करण और अपात्री करण, उच्चाचटन आदि कृत्या इनके मध्यमें एक किसीको इच्छासे करनेंमें महीनेंतक चांद्रायण व्रतको करे और मलिनी करणमें किसी कर्मके करनेंमें गरम गरम य वागूको तीन दिनतक पीवे ॥ १२५ ॥ अच्छे नियममें रहनेंवाले क्षत्रियके वध होनेंमें ब्रह्महत्याका चौथा भाग, तीन वर्षका प्रायश्चित्त है और व्रतस्थ वैश्यके वधकरनेंमें आठवा भाग प्रायश्चित्त है और शूद्रके वधमें सोलहवां भाग प्रायश्चित्त कहा है ॥ १२६ ॥

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः । वृषभैकसहस्रा गा

दद्यात्सुचरितव्रतः ॥ १२७ ॥ त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटी ब्रह्म-
हणो व्रतम् । वसन्दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

अर्थ-और इच्छा किये बिना क्षत्रियके मारनेंके प्रायश्चित्तकेवास्ते सुंदर व्रतका आचरण करनेंवाला द्विजोत्तम, एक वृषभ सहित हजार गौओंको अपनी शुद्धिके अर्थ ब्राह्मणोंकेवास्ते देवे ॥ १२७ ॥ जटाधारणकरके ग्रामके समीप वृक्षकी मूलमें निवास करता हुआ ब्रह्महत्याके प्रायश्चित्तका व्रतको नियमपूर्वक तीन वर्षतक करे ॥ १२८ ॥

एतदेव चरेदब्दं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः । प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं
दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ १२९ ॥ एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान्
शूद्रहा चरेत् वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः१३०॥

अर्थ-श्रेष्ठ आचारमें स्थितहुए वैश्यको इच्छा विना मारके ब्राह्मण आदि द्विजाति इसी व्रतको एक वर्षतक करे अथवा एक सौ एक १०१ ॥ गौओंको ब्राह्मणोंके अर्थ देवे तब शुद्ध होता है ॥ १२९ ॥ इच्छाके विना शूद्रको मारनेंवाला पुरुषभी इसी व्रतको छ महीनोंतक करे और एक वृषभ दश सफेद गौओंको ब्राह्मणके अर्थ दान देवे ॥ १३० ॥

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च । श्वगोधोलूककाकांश्च
शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३१ ॥ पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽ-
ध्वनो व्रजेत् । उपस्पृशेत्स्रवन्त्यां वा सूक्तं वाब्दैवतं जपेत् ॥ १३२ ॥

अर्थ-बिलाव नौल चातक मेंडक कुत्ता गोह उरलू काग इनके मारनेंमें हत्यानिवृत्तिके अर्थ पूर्वोक्त शूद्रहत्याके व्रतका प्रायश्चित्त करे ॥ १३१ ॥ अज्ञानसे इन बिलाव आदिकोंके मारनेंमें तीन रात्रीतक दूध पीवे अथवा १ योजन कहें चार कोशतक मार्गमें चले अथवा नदी आदि स्रोतके जलमें स्नानकर आपोहिष्ठा०इत्यादिक सूक्त जपै ॥ १३२ ॥

अभ्रिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः । पलालभारकं
षण्ढे सैसकं चैकमाषकम् ॥ १३३ ॥ घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं
तु तित्तिरौ । शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायणम् १३४

अर्थ-सर्पकी हिंसा करनेंवाला मनुष्य ब्राह्मणके अर्थ पैना अग्रभागवाला लो-

हाका दंड दान देवे और नपुंसक सर्पके मारनेंमें पलाल धान्य तुषका भार देवे और एक माषक सीसा दान देवे ॥ १३३ ॥ शुवरके मारनेंमें घृतसे भरा घडाका दान देवे तित्तरी पक्षीकी हिंसा करनेंवाला द्रोणभर तिल दान देवे तोता पक्षीको मारनेंवाला दो वर्षके वच्छेका दान देवे क्रौंच पक्षीको मारके तीन वर्षके वच्छेको ब्राह्मणके अर्थ दान देवे ॥ १३४ ॥

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेद्ब्राह्मणाय गाम् ॥ १३५ ॥ वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम् । अजमेषावनड्वाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥

अर्थ–हंस वलाका अर्थात् वगुलाका भेद, वगुला मोर वानर सिकरा भास पक्षी इन मेसे एककोईसेकीभी मारनेंकी हिंसामें ब्राह्मणकेवास्ते गौ दान देवे १३५ घोडाको मारके ब्राह्मणकेवास्ते वस्त्र दान देवे और हस्तीको मारके पांच नील वृषोंको दान देवे और वकरा मेंढा इनको मारके वैलका दान देवे गधाको मारकें एक वर्षके बच्छाका दान देवे ॥ १३६ ॥

क्रव्यादांस्तु मृगान्हत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् । अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णलम् ॥१३७॥ जीनकार्मुकबस्तावीन्पृथग्दद्याद्विशुद्धये । चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः १३८

अर्थ–कच्चे मांसको भक्षण करनेंवाले हिंसक मृग व्याघ्र आदिकोंको मारके दूधवाली गौका दान देवे और मांसको भक्षण नहीं करनेंवाले हिरण आदिकोंको मारके जवान वछडीका दान देवे ऊंटको मारके कृष्णल प्रमाण रत्तीभर सोना देबे ॥ १३७ ॥ चारों वर्णोंकी स्त्री जारपनेंसे विगडी हुई स्त्रियोंको मारके अपनी शुद्धिकेवास्ते चर्मपुट अर्थात् मृगछाला आदि धनुष वकरा मींढा इनका दान ब्राह्मण आदि यथार्थ क्रमके अनुसार देवे ॥ १३८ ॥

दानेन वधनिर्णेकंसर्पादीनामशक्नुवन् । एकैकशश्चरेत्कृच्छ्रं द्विजः पापापनुत्तये ॥ १३९ ॥ अस्थिमतां तु सत्वानां सहस्रस्य प्रमापणे । पूर्णे चानस्यनस्थ्नां तु शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

अर्थ–जो यदि कोई द्विज सर्पादिक इन जीवोंकी हिंसाके प्रायश्चित्तमें कहे दानोंको करनेंमें समर्थ न होवे तो एक एक पापके प्रायश्चित्तकेवास्ते कृच्छ्र प्राजापत्य आदि व्रत करे ॥ १३९ ॥ किरलकांट आदि अस्थिवाले हजार प्राणि

योंके वध होनेंमें शूद्रकी हत्याके व्रतको करे और अस्थि रहित प्राणियोंको गाडा भरनेंके प्रमाण तुल्य मारके शूद्रहत्याके इसी व्रतको करे ॥ १४० ॥

किञ्चिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे । अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥१४१॥ फलदानां तु वृक्षाणा छेदने जप्यमृक्शतम् । गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥

अर्थ—अस्थिवाले सूक्ष्म जीवोंके वधमें किंचित् दान देना योग्य है और अस्थि रहित जूंम आदि क्षुद्रजीवोंके वधमें प्राणायामसे शुद्ध हो जाता है ॥ १४१॥ आम्र आदि फलके वृक्षोंके काटनेंमें और कुब्जक आदि गुच्छे वल्लीलता पुष्पोंवाली वेलकोहला आदिकी वेल इनके काटनेंमें गायत्री आदि ऋचाको सौ वार जपै ॥ १४२ ॥

अन्नाद्यजानां सत्वानां रसजानां च सर्वशः । फलपुष्पोद्भवाना च घृतप्राशो विशोधनम् ॥१४३॥ कृष्टजानामोषधीनां जातानां च स्वयं वने । वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

अर्थ—अन्न आदिकोंमें उत्पन्न हुए और गुड आदिरसोंमें उत्पन्न हुए और गूलर आदि फलोंमें उत्पन्न हुए तथा पुष्पोंमें उत्पन्न हुए संपूर्ण जीवोंके वधमें घृत प्राशन, घीके खानेंसे पापकी शुद्धि होती है ॥ १४३ ॥ खेतीमें उत्पन्न हुए धान्य औषधी आदिकोंका अथवा आपही उत्पन्न हुए धान्य आदिकोंको वृथा छेदन करनेंवाला पुरुष एकदिन दूधका आहारकरके व्रत करे और गौओंके पीछे चले ॥ १४४ ॥

एतैर्व्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम् । ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥१४५॥ अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैवशुद्ध्यति । मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १४६ ॥

अर्थ—इन कहेहुए प्रायश्चित्तोंकरके ज्ञानसेवा अज्ञानसे कियेहुए संपूर्ण हिंसाके पापको दूर करे अब अभक्ष्य वस्तुके भक्षणके प्रायश्चित्तको आगे कहेको सुनो ॥ १४५ ॥ आज्ञानसे अर्थात् विना जानें हुए मदिराको पीके संस्कार करनेसे शुद्ध होता है और इच्छा पूर्वक पीके प्राणोंका अंत करनेंसे शुद्ध होता है ऐसी यह शास्त्रकी मर्यादा है ॥ १४६ ॥

अपः सुराभाजनस्था मद्यभाण्डस्थितास्तथा । पञ्चरात्रं पिबेत्पी त्वाशङ्खपुष्पीश्रितं पयः ॥१४७॥ स्पृष्ट्वा दत्वा च मदिरां विधिव त्प्रतिगृह्य च । शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारी पिबेत्त्र्यहम् १४८

अर्थ—सुराके पात्रमें स्थित तथा मदिराके भांडमें स्थित हुए जलको पीके पांच दिनतक शंख पुष्पी औषधीमें पकेहुए दूधको पीवे तब शुद्ध होता है ॥ १४७ ॥ मदिराको स्पर्शकरके वादेके अथवा स्वस्तिवाचनपूर्वक ग्रहणकरके और शूद्रका उच्छिष्ट जलको पीके तीन दिनतक डाभके क्वाथ कियेहुये जलको पीवे ॥१४८॥

ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः । प्राणानप्सु त्रिराय म्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥१४९॥ अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरा संस्पृष्टमेव च । पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥१५०॥

अर्थ—सोम यागको कियेहुए ब्राह्मण मदिरा पीनेंवालेके मुखकी गंधिको सूंघके तीन वार जलमें प्राणायाम कर घृतको प्राशन कर शुद्ध होता है ॥ १४९ ॥ ब्राह्मण आदि तीनों द्विजातीवर्ण अज्ञानसे वराह आदिकोंका विष्ठा मनुष्यादि कोंका मूत्र मदिरासे स्पर्श हुवारस आदिक इनको भक्षण करलेवें तो फिर संस्कार करानेसे शुद्ध होते है ॥ १५० ॥

वपनं मेखलादण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च । निवर्तन्ते द्विजातीना पुनः संस्कारकर्मणि ॥१५१॥ अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रो च्छिष्टमेव च । जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिबेत् ॥१५२॥

अर्थ—शिरका मुंडन करवाना मेखला दंड इनका धारण करना भिक्षा मांगना मधुमांस वर्जन आदिव्रत ये सब द्विजातियोंके फिरसे संस्कार करानेमें निवृत्त हो जाते है अर्थात् दूसरे वार उपनयन आदि संस्कारमें इनको न करे ॥ १५१ ॥ अभोज्य अर्थात् यज्ञआदि रहित अन्नको भोजनकरके वा स्त्री शूद्र इत्यादिकोंके झूठे अन्नको भक्षणकरके और मांसको तथा लस्सन आदि अभक्ष्यको भक्षणकरके सात रात्रितक जवोंका दलियाको पीवै ॥ १५२ ॥

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वामेध्यान्यपि द्विजः । तावद्भवत्यप्र यतो यावत्तन्न व्रजत्यधः ॥१५३॥ विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः । प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चान्द्रयणं चरेत् ॥१५४॥

अर्थ-सिरका आदि शूक्तवस्तु और बहेडा आदिकषायवस्तु और अन्य अशुचि कथित वस्तुओंको द्विज भक्षणकरके तबतक अशुचि रहता है कि जबतक वह पचे नहीं ॥ १५३ ॥ ग्रामका सुवर गधा ऊंट गीदड वानर काग इनके विष्ठा मूत्रको भक्षणकरके द्विज चांद्रायण व्रतको करे ॥ १५४ ॥

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि भौमानि कवकानि च । आज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥ क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटाना च भक्षणे । नरकाकखराणा च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥ १५६ ॥

अर्थ-वायु आदिसे शूखेहुए मांस और भूमिमें उत्पन्न हुए कुकुर मुत्ताआदि शाकको और विनाजानें हुए हिंसाके मांस आदिको भक्षणकरके द्विज इसी व्रतका आचरण करे ॥ १५५ ॥ आम मांस भक्षी व्याघ्र आदिक ग्रामकासुवर ऊंट मुरगा मनुष्य काग गधा इनमें प्रत्येकके मांसको जानके भक्षणकरके आगे कहा हुआ तप्तकृच्छ्र व्रतको करे ॥ १५६ ॥

मासिकान्नं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः । स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ १५७ ॥ ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कथंचन । स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥

अर्थ-जो ब्रह्मचारी ब्राह्मण सपिंडी श्राद्धसे पहले महीनें महीने श्राद्धके अन्नको मासिक श्राद्धको भोजन करता है वह तीन दिनतक उपवास करे और एकदिन जलमें वास करे ॥ १५७ ॥ जो ब्रह्मचारी किसी समय मधु मांसको भक्षण करलेवे तो वह प्राजापत्य व्रतकोकरके शेष रहे अपनें ब्रह्मचर्य व्रतको समाप्त कर देवे ॥ १५८ ॥

बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वनकुलस्य च । केशकीटावपन्नं च पिबेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥ अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता । अज्ञानभुक्तं तूत्तार्यं शोध्यं वाऽप्याशु शोधनैः ॥ १६० ॥

बिलाव काग मूंसा कुत्ता नौल इनके झूठे अन्नको भक्षणकरके तथा बालकीडा आदिकोंसे युक्त अन्नको भक्षणकरके सुबर्चला अर्थात् ब्राह्मी औषधीके काढेको पीवे ॥ १५९ ॥ आत्माकी शुद्धिकी इच्छा करनेंवाले पुरुषको अभोज्य अन्न भक्षण नहीं करना चाहिये और प्रमादसे भक्षण किये जावे तो वमनकर देवे वमन न होवे तो प्रायश्चित्तोंकरके शीघ्रही शुद्धि करे ॥ १६० ॥

एषोऽनाद्यदनस्योक्तो व्रताना विविधो विधिः । स्तेयदोषापहर्तृणा व्रताना श्रूयतां विधिः ॥१६१॥ धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामाद्विजोत्तमः । स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्राब्देन विशुद्ध्यति ॥१६२॥

अर्थ—अभक्ष्य वस्तुओंके भक्षण करनेंमें जो प्रायश्चित्त है तिन्होंका यह अनेक प्रकारका विधान कहा है अब चोरीके पाप करनेंवालोंके प्रायश्चित्तको सुनो१६१ ब्राह्मण ब्राह्मणके घरसे धान्य भात आदि सिद्धान्न धन इनकी चौरी इच्छासे कर लेवे तो वह प्राजापत्य व्रतको वर्षदिनतक करनेंसे शुद्ध होता है ॥ १६२ ॥

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च । कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ १६३ ॥ द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वाऽन्यवेश्मतः । चरेत्सान्तपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्धये १६४

अर्थ—पुरुष स्त्री खेत इनमेंसे एक कोईसेके हरनेंमें अथवा बावडी कूवा इनके संपूर्ण जलके हरनेंमें चांद्रायण व्रत करना यह शुद्धि मन्वादिकोंनें कही है १६३ थोडे मूल्यवाले और थोडे प्रयोजनवाले द्रव्योंको अन्यके घरसे चोरी करके उस हराहुआ द्रव्यको मालिककेवास्ते देके फिर आगे कहा हुआ कृच्छ्र सांतपन व्रतको अपनीं शुद्धिके अर्थ करे ॥ १६४ ॥

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च । पुष्पमूलफलाणां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥ तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च । चेलचर्मामिषाणां च त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥१६६॥

अर्थ—लड्डू खीर आदि भक्ष्यभोज्य पदार्थोंके हरनेंमें सवारी शय्या आसन पुष्पमूल फल इनके हरनेंमें प्रत्येकमें, पंचगव्यका पीना शुद्धिकारकहै ॥ १६५ ॥ तृणकाष्ठ वृक्ष शूखे अन्न गुड वस्त्र चाम मांस इनके चुरानेंमें तीन रात्रीतक भोजन नहीं करे ॥ १६६ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च । अयः कांस्योपलाना च द्वादशाहं कणान्नता ॥ १६७ ॥ कार्पासकीटजोर्णानां द्विशफैकशफस्य च । पक्षिगन्धौषधीनां च रज्ज्वाश्चैव त्र्यहं पयः १६८

अर्थ—मणि मोती मूंगा तांबा चांदी लोहा कांसी पत्थर इनके चुरानेमें बारह दिनतक चावलोंके कणकोंको भक्षण करे यहां सब जगंह द्रव्य अधिक न्यूनके

अनुसार प्रायश्चित्त है ॥ १६७ ॥ कपास रेसम ऊन बैल घोडा पक्षी गन्ध औषधी रज्जु इनके चुरानेंमें तीन दिनतक दूधका आहार करे और पूर्वोक्तकी तरंह इन चोरीकी वस्तुओंको मालिकको सौंप देवे ॥ १६८ ॥

एतैर्व्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः । अगम्यागमनीयं तु व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥ गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्रेतः सिक्त्वा स्वयोनिषु । सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ १७० ॥

अर्थ—इन कहेहुए व्रतोंकरके द्विज चोरीके पापको दूर करे और अगम्या स्त्रीकेसंग मैथुन करनेंके पापको आगे कहेहुए इन व्रतोंकरके दूर करे ॥१६९॥ अपनी भौजाई बंहेन मित्रकी स्त्री पुत्रवधू कुमारी चांडाली इनमें प्रत्येक विषैं मैथुनसे वीर्य स्खलितकरके पूर्वोक्त गुरुभार्या संगमें कहेहुए प्रायश्चित्तको करे ॥१७०॥

पैतृष्वसेयीं भगिनीं स्वस्रीयां मातुरेव च । मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥१७१॥ एतास्तिस्रस्तु भार्यार्थे नोपयच्छेत्तु बुद्धिमान् । ज्ञातित्वेनानुपेयास्ता पतति ह्युपयन्नधः ॥ १७२ ॥

अर्थ—पिताकी बहेनकी और माताकी बहेनकी लडकी माताकी बहैन भाईकी पुत्री इनकेसंग मैथुनकरके चांद्रायण व्रतको करे ॥ १७१ ॥ इन कहीहुई तीनोंको बुद्धिमान् पुरुष विवाहे नहीं क्योंकि बांधवपनें होनेंसे ये विवाहनेंको वा मैथुन करनेंको योग्य नहीं है इनको विवाहनेंवाला जन नरकमें गिरता है ॥ १७२॥

अमानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु । रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ॥१७३॥ मैथुनं तु समासेव्य पुंसि योषिति वा द्विजः । गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥१७४॥

अर्थ—पुरुष घोडीआदि पशुकी योनिमें वा रजस्वला स्त्रीकी योनिमें वा स्त्रीयोनिविना अन्य कहीं स्त्रीके अंगमें वा जलमें वीर्यको छोडके कृच्छ्र सान्तपन व्रतको करे ॥ १७३ ॥ पुरुषमें मैथुनकरके अथवा बैलोंकी सवारी रथवैहेल आदिमें तथा दिनमें स्त्रीकेसंग मैथुनकरके वस्त्रोंसहित स्नान करे ॥ १७४ ॥

चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च । पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥१७५॥ विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेश्मनि । यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥१७६॥

अर्थ—चांडाली नीच जातिकी स्त्री इनके संग ब्राह्मण अज्ञानसे मैथुनकरके और इनके हाथका भोजनकरके और प्रतिग्रह लेके पतितहो जाता है और जो जानके ये सब बात करता है वह इनकीही जातिमें मिल जाता है ॥ १७५ ॥ इच्छाकरके जारिणी स्त्रीको पति एक घरमें रोकके रक्खे और जो पुरुषको सजातीय परस्त्रीसंगमें प्रायश्चित्त कहा है वही इससे करवावे ॥ १७६ ॥

सा चेत्पुनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिता । कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥१७७॥ यत्करोत्ये करात्रेण वृषलीसेवनाद्द्विजः । तद्भैक्षभुग्जपन्नित्यं त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥

अर्थ—वह स्त्री जो यदि सजातीय परपुरुषसे एकवार संग कर फिर प्रायश्चित्त करें पीछे सजातीय पुरुषकेसंग फिर वशमें होके विगड जावे तो कृच्छ्र चांद्रायण व्रत करे वह व्रत मन्वादिकोंनें इसको पवित्र करनेंवाला कहा है ॥ १७७॥ चांडालीकेसंग मैथुन करनेंसे ब्राह्मण जो एकरात्रीमें पापको इकट्ठा करता है उस पापको भिक्षाका भोजन करताहुआ और गायत्रीआदि जप करताहुआ तीनवर्षमें दूर करता है ॥ १७८ ॥

एषा पापकृतामुक्ता चतुर्णामपि निष्कृतिः । पतितैः संप्रयुक्तनामिमाः शृणुत निष्कृतीः ॥१७९॥ संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् । याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥१८०॥

अर्थ—यह हिंसा अभक्ष्य भक्षण चोरी अगम्यागमन इन पापोंको करनेंवाले पुरुषोंका प्रायश्चित्त कहा है अब पतित पुरुषोंकेसाथ रहनेंवाले पुरुषोंकी इन आगे कही हुई शुद्धियोंको सुनों ॥ १७९ ॥ पतितपुरुषोंकेसाथ सवारी आसन भोजन इत्यादिकोंको मिलके करनेवाला संग विचरनेंवाला पुरुष वर्षदिनमें पतित हो जाता है और यज्ञआदिकरानेंसे वा उपनयनसंस्कारकरानेंवाले एक संग भोजन करनेंवाले ऐसे पुरुष तात्कालही पतित हो जाते है ॥ १८० ॥

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः । स तस्यैव व्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥१८१॥ पतितस्योदकं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः । निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसन्निधौ ॥१८२॥

अर्थ— जो इन पतित पुरुषोंके मध्यमें जिस पापकारी पुरुषके संग मेल करता

है वह उसीके व्रतको चौथे हिस्सेसेही न करे जैसे ब्रह्मघाती पुरुषके संग मलेकरनें-वाला पुरुष उसीके प्रायश्चित्तको द्वादशवर्षसे चतुर्थांश हीन करे तब शुद्धि होती है ॥ १८१ ॥ महापातकी पुरुषके जीवते हुएही आगे कही हुई विधिसे सपिंड समानोदक भाईयोंको ग्रामसे बाहिर नवमी तिथिके दिन सायंकालमें बांधव ऋत्विक गुरु इनके समीप उसकी उदकक्रिया अर्थात् प्रेतक्रिया करनी योग्य है ॥ १८२ ॥

दासी घटमपां पूर्णं पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा । अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥ निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने । दायाद्यस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥

अर्थ–सपिंड समानोदकोंसे प्रयुक्तकी हुई दासी जलसे भरेहुए घटको प्रेत कलशकी तरंह दक्षिणाभिमुख होके पैरसे फैंक देवे जिस्से वह पतित पुरुष निरुदक हो जावे और वे सपिंड तथा समानोदक भाई तिसका एकदिनका अशौच रक्खे ॥ १८३ ॥ तिस पतित पुरुषकेसाथ सपिंडभाईयोंका संभाषण एक आसनपे बैठना घरमें धनका हिस्सा निमंत्रण आदि ये सब लोकव्यवहारनिवृत्त हो जाते है ॥ १८४ ॥

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम् । ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान् गुणतोऽधिकः ॥ १८५ ॥ प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम् । तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये १८६

अर्थ–जो बडाभाई पतित हो जावे तो उसके छोटे भाई प्रत्युत्थान आदि उसका सत्कार न करे और बडाभाईका जो धनमें विशेष हिस्सा होता है उसको न देवे किंतु जो छोटा भाई गुणवान् होवे वह उसके हिस्सेको लेवे ॥ १८५ ॥ और जो यदि वह पतित भाई प्रायश्चित्त कर देवे तो अन्य सपिंड समानोदक भाई तिसीके प्रायश्चित्त कियेहुए अपवित्र जलाधारमें स्नानकरके जलका भरा हुआ नवीन घटको फैंक देवे ॥ १८६ ॥

स त्वप्सु तं घटं प्रास्य प्रविश्य भवनं स्वकम् । सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८७ ॥ एतदेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि । वस्त्रान्नपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८८ ॥

अर्थ–वह प्रायश्चित्त करनेवाला मनुष्य तिस जलके घटको जलमें फैंकके

फिर अपनें घरमें प्रवेश कर देवे और पहलेकी तरंह अपनें सब ज्ञातिकर्मोंको करे ॥ १८७ ॥ पतित स्त्रियोंकीभी यही विधि उदकक्रिया करनी चाहिये और इनके भर्त्ता आदिक इनकेवास्ते वस्त्र अन्न पानआदिक देता रहे और घरके पास रहनें को कुटी बनवा देवे ॥ १८८ ॥

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित्सहाचरेत् । कृतनिर्णेजनांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १८९ ॥ बालघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः । शरणागतहन्तॄंश्च स्त्रीहन्तॄंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

अर्थ-प्रायश्चित्त कियेविना पापकारी पुरुषोंकेसाथ दान प्रतिग्रह आदि कुछ प्रयोजन न करे और जो प्रायश्चित्त करचुके उसके पापकी कुछभी निंदा न करे किंतु पहलेकी तरंह व्यवहार रक्खे ॥ १८९ ॥ बालकको मारनेंवाला तथा कृतघ्नी अर्थात् उपकारकरनेंवालाको मारनेंवाला शरणागतको मारनेंवाला स्त्रीको मारनें-वाला ये सब प्रायश्चित्त कर देवें तोभी इनकेसाथ संभाषणआदि मेल न करे१९०

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि । तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनाययेत् ॥१९१॥ प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः । ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत् ॥

अर्थ-जिन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंका उपनयन संस्कार यथोक्त कालमें नहीं होता है तिनको तीन प्राजापत्य व्रत करवाके यथार्थ शास्त्रके अनुसार उपनयन करवा देवे ॥ १९१ ॥ जो उपनयन संस्कारवाले द्विज शूद्रसेवा आदि विकर्ममें स्थित हैं वे यदि प्रायश्चित्त करनेंकी इच्छा करें तो ब्राह्मणोंसे सक्तहुए उनकाभी यही प्राजापत्य प्रायश्चित्त है ॥ १९२ ॥

यद्गर्हितेनार्जयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम् । तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च ॥१९३॥ जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः । मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात् ॥१९४॥

अर्थ-निंदित कर्म दुष्प्रतिग्रहकर्म आदिसे जो ब्राह्मण धनको संचय करते है तिस धनके त्यागनेसें और आगे कहेहुए जप तपकरके शुद्ध होते है ॥ १९३ ॥ सावधान होके तीन हजार गायत्रीका जापकरके १ महीनातक गौओंको स्थानमें दूधका आहारकरके दुष्प्रतिग्रहके दोषसे ब्राह्मण छूट जाता है ॥ १९४ ॥

उपवासकृशं तं तु गोव्रजात्पुनरागतम् । प्रणतंप्रति पृच्छेयुः साम्यं

सौम्येच्छसीति किम् ॥१९५॥ सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम् । गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम् ॥ १९६ ॥

अर्थ–दूधके आहारसे कृश दुर्बल देहवाले और गौओंके स्थानसे आयेहुए तथा नम्रहुए तिससे पूछे कि हे सौम्य फिर ऐसा प्रतिग्रह न लेवेगा और हमारी साथ साम्यता चाहतेहो ॥ १९५ ॥ फिरवह प्रायश्चित्त करनेंवाला ब्राह्मण ऐसे कहें कि आपका कहना सच है मैं ऐसा न करूंगा ऐसा कहता गौओंके चरनेंवास्ते घास देवे पीछे गौओंकरके पवित्रहुए उस देशमें ब्राह्मण तिसको अंगीकार करलेवें ॥ १९६ ॥

व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च । अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥ शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः । संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

अर्थ–पहले कहेहुए उपनयन संस्कारके विना व्रात्य संज्ञकहुए पुरुषोंकै यज्ञआदि करवाके अथवा माता पिता आदिकोंकी और्ध्वदेहिक निषिद्ध श्राद्ध आदिकरके श्येन आदि आभिचारकरके वा अहीन यज्ञ विशेषकरके तीन कृच्छ्र व्रतोंकरके शुद्ध होता है ॥ १९७ ॥ शरणागत अर्थात् रक्षाकेवास्ते आयेहुएको त्यागके और नहीं पढानेंके योग्य वेदको पढाके द्विज तिस पापको वर्ष पर्यंत जवोंका आहारकरके दूर करता है ॥ १९८ ॥

श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च । नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥ षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा । होमाश्च सकला नित्यमपाङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥२००॥

अर्थ–कुत्ता गीदड गधा मनुष्य घोडा ग्राम्य सूकर क्रव्याद अर्थात् विलाव आदि इनसे डसाहुआ फाडाहुआ मनुष्य प्राणायाम करनेंसे शुद्ध हो जाता है ॥ १९९ ॥ पंक्तिरहित पतित तस्कर आदिकोंको शुद्धिके वास्ते, एक महिनेतक तीन दिन भोजन नहींकरके चौथे दिन तीसरे पहर भोजन करना वेद संहिताका जप करना आनेक प्रकारके होम करनें यह प्रायश्चित्त कहा है ॥ २०० ॥

उष्ट्रयानं समारुह्य खरयानं तु कामतः । स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ २०१ ॥ विनाद्भिरप्सु वाप्यार्तः शारीरं सन्निवेश्य च । सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति २०२

अर्थ-इच्छाकरके ऊंटकी सवारीपर चढके अथवा गधेकी सवारीपर चढके ब्राह्मण नंगा होके स्नानकरके बहुतसे प्राणायाम करनेंसे शुद्ध होता है ॥ २०१ ॥ जलके विना अर्थात् जलसे शुद्धि कियेंविना वा जलके मध्यमें मूत्र वा विष्ठाका त्यागकरके वस्त्रोंसहित ग्रामसे बाहिर नदीआदिमें स्नान करनेंसें तथा गौको स्पर्श करनेंसे शुद्ध होता है ॥ २०२ ॥

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणां समतिक्रमे । स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥२०३॥ हुङ्कारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वङ्कारं च गरीयसः । स्नात्वाऽनश्नन्नहः शेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ २०४ ॥

अर्थ-वेदविहित अग्निहोत्रीआदि नित्यकर्मोंके लोप होनेंमें छूट जानेंमें तथा स्नातकव्रतके लोप हो जानेंमें एकदिनतक भोजन नहीं करना यह प्रायश्चित्त है ॥२०३॥ ब्राह्मणको हूं चुपठहरो इत्यादि वचन कहके बडे आदमीको तू इत्यादि एक वचन कहके नमस्कारके समयसे लेके बाकी रहे सबदिनमें सूर्यास्ततक स्नान करके और उनके पैर पकरके तथा उस दिन कुछ भोजन नहीं करके उनको प्रसन्न करे ॥ २०४ ॥

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वा बध्य वाससा । विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥ अवगूर्य त्वब्दशतं सहस्रमभिहत्य च । जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥२०६॥

अर्थ-ब्राह्मणको तृणकरकेभी ताडना दे के अथवा उसके कंठमें वस्त्रआदि बांधके वा उसको विवादसे जीतके फिर उसको प्रणामआदिसे प्रसन्न करे २०५ ब्राह्मणको मारनेंकी इच्छासे लाठी आदिके उठानेंसे सौ वर्षतक नरकमें वास होता है और लाठी आदिका प्रहार करनेंसे मारनेंसे हजार वर्षतक नरकमें वास होता है ॥ २०६ ॥

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले । तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कर्ता नरके वसेत् ॥२०७॥ अवगूर्य चरेत्कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने । कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्वीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥ २०८ ॥

अर्थ-प्रहार कियेहुए ब्राह्मणके शरीरसे निकसाहुआ रुधिर पृथ्वीमें गिरके जितनें धूलके किणकोंको ग्रहण करता है उतनेंही हजार वर्षोंतक ब्राह्मणपर प्रहार करनेंवाला नरकमें रहता है ॥ २०७ ॥ ब्राह्मणको मारनेंकी इच्छासे लाठी उ-

ठाके कृच्छ्र व्रत करे और लाठीको मारके अत्यंत कृच्छ्र आगे कहा व्रतको करे और मारके उसके शरीरमें रुधिर निकासके कृच्छ्र अत्यंत कृच्छ्र इन दोनों व्रतोंको करे ॥ २०८ ॥

अनुक्तनिष्कृतीना तु पापानामपनुत्तये। शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥ यैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति। तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २१० ॥

अर्थ–विना कहेहुए प्रायश्चित्तोंको पाप उतरनेंकेवास्ते अपनी सामर्थ्य देखके और उस पापको देखके अनुमानमाफिक प्रायश्चित्त करे ॥ २०९ ॥ जिन उपायोंकरके मनुष्य पापोंको दूर करसक्ता है तिन उपायोंको देवता ऋषि पितर इन्होंसे सेवित कियेहुयोंको तुह्मारेआगे कहैंगे ॥ २१० ॥

त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम्। त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥ २११ ॥ गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्। एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् २१२

अर्थ–प्राजापत्यव्रत करताहुआ द्विज तीन दिनतक प्रातःकाल भोजनके समय आहार करे और पीछे तीन दिनतक सायंकाल भोजन करे फिर तीन दिनतक विना मांगाहुआ लब्ध भोजनको भोजन करे फिर तीन दिनतक भोजन नहीं करे ॥ २११ ॥ गोमूत्र गोबर दूध दहीं घृत कुशाका क्वाथ इनको इकठे करि एक एक दिन भोजन करे पीछे एकदिन कुछभी भोजन न करे यह कृच्छ्र सांतपन व्रत कहाता है ॥ २१२ ॥

एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्। त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन् द्विजः ॥ २१३ ॥ तप्तकृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान्। प्रतित्र्यहं पिबेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः २१४

अर्थ–तीनदिनतक एक ग्रास भोजन करे फिर तीनदिनतक सायंकाल एक एक ग्रास भोजन करे फिर तीनदिनतक विना मांगा हुआ लब्ध हुआ एक ग्रास भोजन करे फिर तीनदिनतक कछुभी भोजन नहीं करे यह अतिकृच्छ्र सांतपन व्रत कहाता है ॥ २१३ ॥ तप्तकृच्छ्र व्रत करता हुआ द्विजाती तीनदिनतक गरम जल पीवे तीनदिनतक गरम दूध पीवे तीनदिनतक गरम घृत पीवे तीनदिन गरम वायु पीवे ऐसे क्रमसे पीवे और एक वार स्नान करे नियम धारण रक्खे ॥ २१४ ॥

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् । पराकोनाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥ एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् । उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१६ ॥

अर्थ–जितेंद्रिय रहे और प्रमादसे रहित रहै बारहदिनतक भोजन नहीं करै यह पराककृच्छ्र व्रत कहाता है सब पापोंको दूर करता है ॥ २१५ ॥ तीनोंवक्त स्नान करता हुआ पूर्णमासीको १५ ग्रास भोजन करके फिर प्रतिपदासे एक एक ग्रास घटाता जावे और शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे एक एक ग्रास बढानें लगे ऐसे भोजन करै यह चांद्रायण व्रत कहाता है ॥ २१६ ॥

एतमेव विधिं कृत्स्नमाचरेद्यवमध्यमे । शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥ अष्टावष्टौसमश्नीयात्पिण्डान्मध्यन्दिने स्थिते । नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥ २१८ ॥

अर्थ–इसी संपूर्ण विधिको करता हुआ तीनों कालमें स्नान करता हुआ शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको एक ग्राससे पूर्ण मासीको १५ ग्रास कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको चौदह ऐसे घटता हुआ भोजन करे यवमध्य चांद्रायण व्रत कहाता है ॥ २१७॥ शुक्लपक्षसे लेके अथवा कृष्णपक्षकी प्रतिपदासे लेके आरंभ करता हुआ चांद्रायण व्रत करनेंवाला पुरुष एक महीनातक जितेंद्रिय रहे और हविष्य अन्न देवान्नको भोजन करे मध्यान्ह समयमें एकवार दिन दिन प्रति आठ आठ ग्रास भोजन करे यह यति चांद्रायण व्रत कहाता है ॥ २१८ ॥

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान्विप्रः समाहितः । चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१९॥ यथाकथञ्चित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः । मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम्॥

अर्थ–इसी क्रमसे प्रातःकाल चार ग्रासोंको भक्षण करे और चार ग्रास सायंकाल भोजन करे ऐसे महीनेंतक हविष्य अन्नको भोजन करे यह शिशु चांद्रायण-व्रत कहाता है॥२१९॥ जिस किसी प्रकारसे एक महीनातक दोसौ चालीस ग्रासोंको २४० समाधान होके सामक आदि हविष्य अन्नको भक्षण करता हुआ पुरुष चंद्रमाके लोकको प्राप्त होता है और संपूर्ण पापोंको नष्टकर देता है॥ २२० ॥

एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन् व्रतम् । सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥ महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वय-

मन्वहम् । अहिंसासत्यमक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

अर्थ–इस चांद्रायण व्रतको रुद्र मरुत वसु ये सब देवते महर्षियोंके साथ संपूर्ण पापको दूर करनेंकेवास्ते करते भये ॥२२१॥ भूर्भुवस्वर् इत्यादि महाव्याहृतियोंकरके दिनदिनप्रति होम करना चाहिये और हिंसा नहीं करनी सत्य बोलना क्रोध नहीं करना कोमलता रखनी ऐसा प्रचार रखना चाहिये ॥२२२॥

त्रिरह्नस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् । स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित्॥२२३॥ स्थानासनाभ्यां विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा । ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः ॥ २२४ ॥

अर्थ–आदि मध्य अंत ऐसे दिनमें तीन वार और रात्रमेंभी ऐसेही तीन वार वस्त्रोंसहित नदी आदिकोंके जलमें प्रवेश करै और स्त्री शूद्र पतित जन इनके साथ संभाषण कभी न करे यह नियम पिपीलिकामध्य यवमध्य इन नामोंवाले चांद्रायण व्रतमें है ॥ २२३ ॥ दिनमें तथा रात्रीमें खडा रहे अथवा बैठा रहे और जो खडा बैठा रहनेंकी सामर्थ्य नहीं होवे तौ पृथ्वीमें चौंतरा आदिपर सोवे खट्वापर नहीं सोवे और ब्रह्मचारी तथाव्रती रहै गुरु देवता द्विज इनका पूजन करता रहै ॥ २२४ ॥

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः । सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः ॥ २२५ ॥ एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः । अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत् ॥ २२६ ॥

अर्थ–गायत्रीको नित्यप्रति जपता रहे और अघमर्षण आदि पवित्र मंत्रोंको शक्तिके अनुसार जपै ये सब नियम जैसे चांद्रायण व्रतमे हैं तैसेही प्राजापत्य आदि अन्य व्रतोंमेंभी करने योग्य है ॥ २२५ ॥ इन उक्त प्रायश्चित्तोंकरके प्रकट पापोंवाले द्विजाति शोधनेंके योग्य हैं और जिनके पाप प्रकट न होवें उनको मंत्र होम आदिकोंकरके शुद्ध करैं ॥ २२६ ॥

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च । पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि ॥ २२७ ॥ यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वानुभाषते । तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२८ ॥

अर्थ–पाप करनेंवाला पुरुष लोगोंमें अपनें पापके कहनेंसे और धिकार आदिकरके पछतानेंसे तपकरके गायत्री आदि जपकरके और तप आदि न करसके

तो दान देनेंसे उस पापसे छूट जाता है ॥ २२७ ॥ जैसे जैसे मनुष्य पापकरके आपही लोगोंमें कह देता है तैसे तैसेही सर्प जैसे कांचलीको छोड देता है उसी तरंह उस अधर्मकरके छूट जाता है ॥ २२८ ॥

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति । तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥ २२९ ॥ कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते । नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥२३०॥

अर्थ–उस पाप करनेंवालेका मन जैसे जैसे तिस दुष्कृत कर्मकी निंदा करता है तैसे तैसेही वह जीवात्मा उस अधर्मसे छूट जाता है ॥ २२९ ॥ मनुष्य पापको-करके फिर पछतानेंसे और मैं फिर ऐसा न करूंगा ऐसे कहनेंसे निवृत्तिरूप संकल्प करनेंसे तिस पापसे पवित्र होजाता है ॥ २३० ॥

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम् । मनोवाङ्मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥ २३१ ॥ अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् । तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥२३२॥

अर्थ–ऐसे शुभ अशुभ कर्मोंके फलको परलोकमें सुख दुःखको करनेंवालोंको अपनें मनसे विचारके नित्यप्रति मन वाणी शरीर इनकरके शुभ कर्मको करे ॥ २३१ ॥ आज्ञानसे अथवा इच्छाकरके दुष्कृत कर्मकोकरके तिससे मुक्तिकी इच्छा करनेंवाला पुरुष फिर दूसरे वैसा पाप न करे क्योंकि दूसरे वार द्विगुणा प्रायश्चित्त करना कहा है ॥ २३२ ॥

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम् । तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥ २३३ ॥ तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् । तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः ॥ २३४ ॥

अर्थ–इस पापकारी मनुष्यका चित्त जिस प्रायश्चित्तके करनेंसे संतोषको प्राप्त होता है उसी प्रायश्चित्तको मनकी प्रसन्नता होवे तबतक करे ॥ २३३ ॥ जो यह देवताओंको तथा मनुष्योंको सुख है उसका तपही कारण है और तिस सुख-के ठहरनेमेंभी तपही कारण है और वेदके जाननेंवाले पंडितोंनें तिस सुखके अंत-मेंभी तपही कारण कहा है ॥ २३४ ॥

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् । वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् ॥ २३५ ॥ ऋषयः संयतात्मानः फ-

लमूलानिलाशनाः। तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम् २३६

अर्थ-ब्राह्मणके वेदांत ज्ञानका होना यह तप कहा है और क्षत्रियको प्रजाकी रक्षा करना यह तप है वैश्यको खेती वणज पशुपालन ये तप कहे है शूद्रको द्विजोंकी सेवा करनी यह तप है ॥ २३५ ॥ ऋषिजन वाणी मन इंद्रिय इनको वशमें कियेंहुए फल मूल वायु इनका भक्षणकरके स्वर्ग पाताल भूमि इस त्रिलोकीको एक जगंह बैठेहुए इसी तपकरके विशेष करिकै देखते है ॥ २३६ ॥

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः। तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपस्तेषां हि साधनम्॥२३७॥यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥

अर्थ-व्याधिको दूर करनेंवाली औषध आरोग्य ब्रह्मविद्या अनेकप्रकारकी वेदविद्या ये सब तपकरकेही सिद्ध होती है क्योंकि इनका कारण तपही है ॥ २३७ ॥ जो ग्रहदोषसूचित आपत् आदिदुःखसे पार होता है जो प्राप्त होनेंको दुर्लभ है जो सुमेरु आदि दुर्गम्य है और जो करनेमें दुष्कर है सो सब तपकरके सिद्ध हो जाता है क्योंकि तपही संपूर्ण दुष्करोंको करनेंवाला है ॥ २३८ ॥

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्यकारिणः। तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥ कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च। स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात्२४०

अर्थ-ब्रह्महत्याआदि महापातक करनेवाले और गौहत्याआदि उपपातक करनेंवाले सब पुरुष सुंदर किये हुए तपकरकेही तिसपापसे छूट जाते हैं॥२३९॥ कीट अहि अर्थात् सर्प पतंग पशु पक्षी गुलमवृक्षआदि स्थावरभूत ये सब तपके बलकरके स्वर्गमें प्राप्त होते हैं क्योंकि कपोत आदिकोंके इतिहास पुराणआदिकोंमें है ॥ २४० ॥

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मूर्तिभिर्जनाः। तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥ तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः। इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवर्धयन्ति च ॥२४२॥

अर्थ-तपही है धन जिनके ऐसे तपस्वी जन जो कुछ मनवाणी शरीर इनसे पाप करते हैं उस सबको शीघ्रही तपकरके नष्ट कर देते हैं ॥ २४१ ॥ प्रायश्चि-

त्तरूपी तप करके क्षीण पापवाले ब्राह्मणके यज्ञमें देवता साकल्यको ग्रहण करते है और उसके वांछित मनोरथोंको बढावते है ॥ २४२ ॥

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासृजत्प्रभुः । तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥ इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते । सर्वस्यास्य प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुत्तमम् ॥ २४४ ॥

अर्थ–संपूर्णलोकोंकी रचना प्रलय इनके करनेंमें प्रभु समर्थ ब्रह्माजी इस ग्रंथको तपकरकेही करते भये और वसिष्ठआदि संपूर्ण ऋषि तपकरकेही संपूर्ण वेदोंकेजाननेंमें संपन्न होते भये ॥ २४३ ॥ देवते संपूर्ण इस जगतको जो दुर्लभ जन्मआदि है तिसको उत्तम पुण्यको तपके कारणसे देखतेहुए ऐसा माहात्म्य कहते हैं कि यह सब जगत् तपोमूल है अर्थात् तपसेही सब बातोंकी उत्पत्ति होती है ॥ २४४ ॥

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्त्या महायज्ञक्रिया क्षमा । नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्यपि ॥२४५॥ यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् । तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् २४६

अर्थ–दिनदिनप्रति वेदका पढना शक्तिके अनुसार पंचमहायज्ञोंका अनुष्ठान करना क्षमा करनी ये सब कर्म महापातकसे उत्पन्न हुए पापोंकोभी शीघ्रही नष्ट कर देते है ॥ २४५ ॥ जैसे अग्नि प्राप्त हुए इंधनको अपनें तेजसे क्षणमात्रमें दग्ध कर देता है तैसेही वेदको जाननेंवाला द्विज ज्ञानरूपी अग्निसे संपूर्ण पापको दग्ध कर देता है ॥ २४६ ॥

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि । अत ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥२४७॥ सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश । अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४८ ॥

अर्थ–यह सब ब्रह्महत्याआदि पापोंका प्रायश्चित्त यथाविधिसे कह दिया है अब इससे उपरांत गुप्त किये हुए पापोंके प्रायश्चित्तोंको सुनों ॥ २४७ ॥ व्याहृतियोंसहित और प्रणवसहित गायत्रीसे युक्त सो यह प्राणायाम पूरक कुंभक रेचक आदि दिनदिनप्रति करनेंसे भ्रूणहत्या करनेंकोभी एक महिनामें पवित्र कर देते है ॥ २४८ ॥

कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् । माहित्रं शुद्धवत्यश्च

सुरापोऽपि विशुद्ध्यति ॥ २४९ ॥ सकृज्जप्त्वास्यवामीयं शिवसंकल्पमेव च। अपहृत्य सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः ॥२५०॥

अर्थ–अपनःशोशुचदघम् ० इस कौत्सऋषिकी ऋचाको वा वसिष्ठ ऋषिका सूक्त प्रतिस्तोम० इस ऋचाको पुरुष मनुशिष्य माहित्रं महित्रीणामवोस्तु० एतोन्विन्द्रंस्तवाम शुद्धम्० इत्यादिक शुद्धवतीऋचाओंको सोलहवारभी जपके मदिरा पीनेंवालाभी शुद्ध हो जाता है ये संपूर्ण ऋचा वेदमें मिलेंगी ॥ २४९ ॥ सुवर्णकी चोरी करनेंवाला पुरुष अस्य वामस्य पलितस्य० इन सूक्तोंको एक महिनेंतक जप कर अथवा यज्जाग्रतो दूरम्० इत्यादि शिवसंकल्पमस्तु ऐसी ऋचाओंका जप कर शीघ्रही उस चोरीके पापसे दूर हो निर्मल हो जाता है ॥ २५० ॥

हविष्यन्तीयमभ्यस्य नतमंह इतीति च। जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥ २५१ ॥ एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकीर्षन्नपनोदनम्। अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किञ्चेदमितीति वा ॥ २५२ ॥

अर्थ–हविष्याङ्कमजरं इन १९ ऋचाओंको तथा नतमंहोनदुरितम्० इन ८ ऋचाओंको वा इतिमेमनसःशिवसंकल्प० इस सूक्तको वा सहस्रशीर्षापुरुषः० इन सोलह ऋचाओंको एक महीनातक जपके गुरुकी स्त्रीके संगके पापसे छूट जाता है ॥ २५१ ॥ महापातकोंको वा सूक्ष्म उपपातकोंको दूर करनेंकी इच्छावाला पुरुष अवते हेडो वरुण नमोभिः० इस ऋचाको वा वरुण दैव्येजने इस ऋचाको वा इति मेमनः शिवसंकल्प० इस सूक्तको वर्षदिनपर्यंत एकवार नित्य प्रति जपै ॥ २५२ ॥

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वाचान्नं विगर्हितम्। जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्र्यहात् ॥ २५३ ॥ सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुद्ध्यति। स्रवन्त्यामाचरन् स्नानमर्यम्णामिति च त्र्यृचम् ॥२५४॥

अर्थ–नहीं लेनेके योग्य प्रतिग्रहदानको ग्रहण करके वा निंदित अन्न अर्थात् स्वभाव काल संसर्ग इनसे दूषित अन्नको भोजन करके तरत्समन्दीधावति० इन चार ऋचाओंको तीन दिनतक जपके तिस पापसे छूट जाता है ॥ २५३ ॥ सोमारुद्राधारयेथ्याम० इत्यादि चार ऋचाओंको और अर्यमा० वरुणं मित्रं० इन दो २ ऋचाओंको नित्य प्रति जपै और नदीमें स्नान करे ऐसे एक महिनेतक करनेंसे बहुतसे पापोंवालापुरुषभी शुद्ध हो जाता है ॥ २५४ ॥

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत्। अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भैक्षभुक् ॥ २५५॥ मन्त्रैः शाकलहोमीयैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः । सुगुर्वप्यपहन्त्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥२५६॥

अर्थ–पापकरनेवाला पुरुष सातमहीनोंतक इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं त्रय इत्यादिक सात ऋचाओंको जपै और अप्रशस्त अर्थात् जिसनें जलमें मूत्र विष्ठाआदि करा हो वह एक महीनेंतक भिक्षाका भोजन करे ॥ २५५ ॥ देवकृतस्य इत्यादिक शाकल्य होमोंकरके वर्षदिनतक द्विज घृतका होम करे अथवा नमःइन्द्रश्च इस ऋचाको वर्षतक जपै ऐसे करनेंसे महापातककोभी नष्ट कर देता है॥२५६॥

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः । अभ्यस्याब्दं पावमानीर्भैक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥ २५७ ॥ अरण्ये वात्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम्। मुच्यते पातकैः सर्वैः पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥२५८॥

अर्थ–ब्रह्महत्याआदि महापातकी पुरुष वर्षदिनतक भिक्षाका भोजन करै और जितेंद्रिय रहै ९ गौओंकी सेवा करता हुआ तिनके पीछे गमन करै और पावमानी विद्या आदि ऋचाओंको नित्यप्रति जपै ऐसे करनेंसे शुद्ध हो जाता है ॥ २५७ ॥ तीन पराकसंज्ञक पहले कहे हुए व्रतोंकरके शुद्ध हुआ पुरुष मंत्र ब्राह्मणात्मिका वेद संहिताको वनमें तीनवार पढै और बाह्य अभ्यंतरकी शुद्धिमें युक्त रहै ऐसे करनेंसे संपूर्णपापोंसे छूट जाता है ॥ २५८ ॥

त्र्यहं तूपवसेद्यूक्तस्त्रिरह्नोऽभ्युपयन्नपः। मुच्यते पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ २५९ ॥ यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः । तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

अर्थ– तीन रात्रीतक उपवास व्रत करता हुआ और प्रातः मध्यान्ह सायंकाल इन तीनोंवक्त स्नान करता हुआ और नियममें रहता हुआ स्नानके समय जलमें गोता मारता हुआ ऋतंचसत्यं० इस ऋचाको वा अघमर्षण ऋचाको जपता हुआ पुरुष संपूर्ण पापोंसे छूट जाता है ॥ २५९ ॥ जैसे अश्वमेध यज्ञ सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है और संपूर्ण पापोंको दूर करनेंवाला है तैसेही अघमर्षण सूक्तभी संपूर्ण पापोंको नाश करनेंका हेतु है ॥ २६० ॥

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः । ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किञ्चन ॥ २६१ ॥ ऋक्संहितां त्रिरभ्यस्य यजुषां वा

समाहितः । साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २६२ ॥

अर्थ–भूलोक आदि त्रिलोकीको हनन करके वा महापातकी आदिकोंके अन्नको भक्षण करके ऋग्वेदको धारण करता हुआ विप्र किंचित्मात्रभी पापको प्राप्त नहीं होता है ॥ २६१ ॥ ऋग्वेदकी मंत्रब्राह्मणात्मिकाको वा यजुर्वेदकी मंत्रब्राह्मणोंकी संहिताको अथवा सामवेदकी ब्राह्मण उपनिषत् संहिताको तीनवार अभ्याससे पढके द्विज संपूर्ण पापोंसे छूट जाता है ॥२६२॥

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति । तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥ ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च । एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैनं स वेदवित् ॥ २६४ ॥

अर्थ–जैसे महाह्रद उत्तम जलाशयमें फेंका हुआ मिट्टीका डला पघल जाता है तैसेही त्रिवृति वेद अर्थात् ऋक् यजु साम इन तीनों वेदोंके धारण करनेमें संपूर्ण पाप नष्ट हो जाते है ॥ २६३ ॥ ऋग्वेदके मंत्र यजुर्वेदके मंत्र बृहद्रथंतर आदि अनेक प्रकारके सामवेदके मंत्र और अन्यभी इन तीनोंके पृथक् पृथक् ब्राह्मण मंत्र यह त्रिवृत् वेद कहाता है इसको जो जानता है वही वेदवित् है२६४

आद्यं यत् त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता । स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

अर्थ–संपूर्ण वेदोंका जो आद्य है अकार उकार मकार इन अक्षरोंसे त्र्यक्षर है जिसमें तीनोंवेद प्रतिष्ठित है वह अन्य त्रिवृत् वेद ओंकाररूप गुप्त है उसको जो जानता है वही वेदवित् है ओम् इसके विना सबमंत्र निष्फल हैं इसवास्ते यह मुख्य वेद है ॥ २६५ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायामेकादशोऽध्यायः ११

इति वेरीनिवासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्तो धर्मस्त्वयानघ । कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः पराम् ॥ १ ॥ स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः । अस्य सर्वस्य शृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

अर्थ-हे पापरहित आपनें ब्राह्मणआदि चारोंवर्णोंका यह संपूर्ण धर्म कहा अब शुभाशुभरूपक कर्मोंके फलकी निर्वृत्तिको अर्थात् जन्मांतरमें प्राप्त होनें-वालीको परमार्थरूपको हमारे आगे कहो ऐसे महर्षिजन भृगुजीसे पूछते भये ॥ १ ॥ वह प्रधान धर्मात्मा मनुजीका पुत्र भृगु तिन ऋषियोंके प्रति बोलाकि इस संपूर्ण कर्म संबंधके फल निश्चयको तुम सुनों ॥ २ ॥

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् । कर्मजा गतयो नृणा-मुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥ तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः । दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

अर्थ-मन वाणी देह इनसे उत्पन्न हुआ शुभ तथा अशुभ कर्म है और उसक-र्मसेही उत्पन्न होनेंवाली उत्तम मनुष्य आदिक वा मध्यम तथा अधम पशुआ-दिक ये सब मेंनुष्याकी गति है अर्थात् जन्मांतरमें प्राप्त होनेंवाली है ॥ ३ ॥ तिस देहधारीके संबंधवाले कर्मकी उत्तम मध्यम अधम ये तीन गतिभी है और आगे कहे हुए दशलक्षणभी है परंतु ऐसे इस कर्मका प्रवर्त्तक मनकोही जानों ॥ ४ ॥

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् । वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥ पारुष्यमनृतं चैव पैशून्यं चापि सर्वशः । असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

अर्थ- पराये धनको अन्यायसे ग्रहण करूंगा ऐसा चिंतवन वा ब्रह्मवध आ-दि निषिद्ध इच्छा परलोक नहीं है देहही आत्मा है ऐसे वितथका अभिनिवेश यह तीन प्रकारका मानस कर्म कहाता है ॥ ५ ॥ कठोर वचन कहना वा झूठ बोलना पीछेसे अन्य किसीके दोष कहनें और राजाका देशकी वा पुरकी निष्प्रयोजन बेमतलबकी बातोंका कहना ऐसे यह चार प्रकारका वाचिककर्म है ॥ ६ ॥

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः । परदारोपसेवा च शा-रीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥ मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभा-शुभम् । वाचा वाचाकृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥

अर्थ-अन्यायकरके पराये द्रव्यका हरना अशास्त्रीय हिंसा परायी स्त्रीके संग मैथुन करना यह तीन प्रकारका अशुभ फल शारीरक कर्म कहाता है ॥ ७ ॥ मनकरके जो शुभाशुभ अर्थात् सुकृत वा दुष्कृत जैसा कर्म करता है वह इस ज-

न्ममें वा अन्य जन्ममें मनकरकेही भोगा जाता है और वाणीकरके जो शुभाशुभ किया जाता है वह वाणीसे भोगा जाता है शरीरसे किया हुआ कर्म शरीरसेही भोगा जाता है ॥ ८ ॥

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥ वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च । यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥१०॥

अर्थ–विशेष करिकै शरीरसे कियेहुए कर्म दोषोंकरके मनुष्य जन्मांतरमें स्थावरता वृक्ष आदि होता है और विशेष करिके वाणीके दोषोंकरके पक्षी मृग आदि जातिको प्राप्त होता है और मानस अर्थात् मनके कियेहुए दोषोंकरके चांडाल आदि जातिको प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ वाणीरूप दंड है और मनका दंड है कायाका दंड है ये तीनों दंड जिसकी बुद्धिमें स्थित है अर्थात् निषिद्ध बोलना बुरा चिंतवन करना निषिद्ध आचरण इनको त्याग देवे वह त्रिदंडी कहाता है ॥ १० ॥

त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः । कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥ योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

अर्थ–मनुष्य इस प्रकारसे सब प्राणियोंमें इस त्रिदंडको निक्षिप्तकरके अर्थात् वाणी मन काया इनसे निषिद्ध आचरणको त्यागके काम क्रोधको वशमें करके फिर सिद्धिको मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ जो इस लोकमें सिद्ध होनेंसे सब कर्मोंमें शरीरात्माको प्रवर्त्त करता है अपनेंको पृथक् जानता है तिसको पंडितजन क्षेत्रज्ञ कहते हैं और जो शरीर इन सब व्यापारोंको करता है वह पंडितोंकरके भूतात्मा कहा है ॥ १२ ॥

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् । येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ १३ ॥ तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च । उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ॥ १४ ॥

अर्थ–जो अंतरआत्मा है और सब देहधारियोंका सहज अर्थात् साथ उत्पन्न होनेवाला कहाता है और जिस्से जन्मोंमें संपूर्ण सुखदुःखोंको प्राप्त होता है वह जीवसंज्ञक कहाता है अर्थात् महान् कहाता है ॥ १३ ॥ वे दोनों महान् और

क्षेत्रज्ञ आत्मा पृथिवी आदि पंचभूतोंके संपर्कसे मिलेहुए रहते हैं और उत्कृष्ट तथा अपकृष्ट संपूर्ण प्राणियोंमें तिस वक्ष्यमाण परमात्माके आश्रय होके स्थितहो रहे है ॥ १४ ॥

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः । उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः ॥१५॥ पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम् । शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

अर्थ-इस परात्माकी मूर्ति शरीरोंके भेदसे अनंत कही है और जो ऊंचे तथा नीचे भूतोंमें निरंतर चेष्टा करती है वेदांतके उक्त प्रकारकरके अग्निके किणकोंकी तरह निकसती है चेष्टा करती है ऐसी असंख्यात है ॥ १५ ॥ पृथ्वी आदि पंचभूतोंसे परलोकमें दुष्कृत करनेंवाले मनुष्योंका शरीर जरायुज आदि योनिमें दुःखको भोगनेंका होता है ॥ १६ ॥

तेनानुभूयता यामीः शरीरेणेह यातनाः । तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥ सोऽनुभूयासुखोदर्कान्दोषान्विषयसंगजान् । व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसौ ॥ १८ ॥

अर्थ-तिस शरीरसे निकसनेंवाला जो जीव आत्मा है उसको जो इस शरीरकरके यमकी पीडा प्राप्त होती है फिर स्थूल शरीरके नाश हो जानेंमें वे पंचभूतोंकी तन्मात्रा उनही अपनी मात्रओंको विभागमें लीन हो जाती है ॥ १७ ॥ भूत सूक्ष्म लिंग आदि शरीरोंसे अवच्छिन्न हुआ जीवात्मा विषयके संगसे उत्पन्न हुए दुःखोंको प्राप्त होता है फिर भोगहो जानेंसे हत पापोंवाला होके महान्, परमात्मा, इन दोनोंके महातेजवालोंको आश्रय रहता है ॥ १८ ॥

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह । याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥१९॥ यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः । तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥

अर्थ-आलस्यरहित वे महत् परमात्मा तिस जीवके धर्मको और बाकी रहे पापको साथही विचारते हैं क्योंकि जिन सुखदुःखोंसे मिला हुआ जीवात्मा इस लोकमें और परलोकमें सुखदुःखोंको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ वह जीव जो यदि मनुष्य दशामें बहुतसा धर्म करता है और थोडासा पाप करता है तो तिनहीं पृथवी आदि भूतोंसे स्थूल शरीरको प्राप्त हो स्वर्ग लोकमें सुखको भोगता है ॥ २० ॥

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः। तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातनाः॥ २१ ॥ यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः। तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः॥ २२ ॥

अर्थ–जो यदि विशेषकरिकै पापोंको करता है और धर्म थोडा करता है तो तिनही पृथ्वी आदि भूतोंसे स्थूल शरीर धारण कर पूर्व शरीरको त्याग जन्मांतरमें दुःखोंको भोगता है ॥ २१ ॥ वह जीव यमसे कीहुई तिन पीडाओंको तिस कठिन देहसे भोगके फिर पापरहित होके तिनही पंच भूतोंके विभागको प्राप्त होता है अर्थात् मनुष्य आदि शरीरको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा। धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः॥ २३ ॥ सत्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान्। यैर्व्याप्येमान् स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः॥२४॥

अर्थ–अपनें चित्तकरके धर्मसे और अधर्मसे जीवकी इन गतियोंको देखके सदा अपना मन धर्ममेंही स्थित रक्खे ॥ २३ ॥ सत्व रज तम इन तीनोंको आत्माके गुण जानै इन गुणोंकरके यह जीवात्मा स्थावरजंगम आदिरूपोंको व्याप्त होके स्थित हो रहा है ॥ २४ ॥

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्॥ २५॥ सत्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्। एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः॥ २६ ॥

अर्थ–यद्यपि ये तीनों गुण रहते है परंतु जब जो गुण संपूर्ण प्रभावसे अधिक होता है तब वही गुण अपनें अनुसार देहधारीको कर लेता है ॥ २५ ॥ यथार्थ प्रयोजनका ज्ञान होना यह सत्वगुणका लक्षण है तिससे विपरीत अज्ञान तमोगुणका लक्षण है प्रीति वैर ये रजोगुणके लक्षण है इन सत्वगुणआदिकोंका यह ज्ञानआदि लक्षण सब प्राणियोंके आश्रय होके ठहरता है ॥ २६ ॥

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्। प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्वं तदुपधारयेत्॥ २७॥ यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः। तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम्॥ २८ ॥

अर्थ–तिस आत्मामें जो किंचित् प्रीतियुक्त देखता है और जो कुछ क्लेश है

उसको नहीं देखता प्रशांत शुद्धकांतिवाला देखता है वह सत्वगुण जानना ॥२७॥ जो दुःखसे संयुक्त है और आत्माको प्रीतिकारक नहीं जानता है वह रजोगुण है शरीरधारियोंको विषयकी इच्छा करानेंवाला कहा है ॥ २८ ॥

यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः । अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

अर्थ–जो सत् असत् विवेकसे हीन है अस्फुट है तथा विषयकारक स्वभाववाला है तर्कना करनेंके योग्य नहीं है कछु जाननेंके योग्य नहीं है वह तमोगुण कहाता है ॥ २९ ॥ इन सत्वगुणआदि तीनों गुणोंका जो उत्तम मध्यम अधम फलको उत्पन्न करनेंवाला है तिसको विशेष करिकै कहैंगे ॥ ३० ॥

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः । धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥ आरम्भरुचिता धैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः । विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

अर्थ–वेदका अभ्यास करना प्राजापत्यआदि तपका अनुष्ठान करना शास्त्रका ज्ञान शौच शुद्धि इंद्रियोंका निग्रह करना दानआदिसे धर्मका अनुष्ठान करना आत्मज्ञानको चिंतवन करना यह सत्वगुणका लक्षण है ॥३१॥ फलकेवास्ते कर्मका अनुष्ठान करना थोडेसेभी प्रयोजनमेंभी विकलता निषिद्ध कर्मका आचरण विषयोंके भोगकी इच्छा यह राजस अर्थात् रजोगुणका लक्षण कहाता है ३२

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता । याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥३३॥ त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम् । इदं सामासिकं ज्ञेयं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

अर्थ–लोभ करना नींदकी अधिकता धीरज नहीं रखना क्रूरपना नास्तिक बुद्धि रखना आचारका लोप मांगनेंकी इच्छा प्रमाद होना ये तमोगुणके ललक्षण हैं ॥ ३३ ॥ भूत भविष्यत् वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें रहनेंवाले इन सत्वआदि तीनोंगुणोंका यह लक्षण क्रमकरके संक्षेपमात्रसे कह दिया है ॥३४॥

यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति । तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥३५॥ येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति

पुष्कलाम् । न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

अर्थ–जिस कर्मको करके अथवा करता हुआ वा आगेकरनेंवाले कर्मको करता हुआ जो लज्जावान् होता है वह विद्वानोंमें तामस लक्षण जानना चाहिये ॥३५॥ जिस कर्मकरके इस लोकमें बहुतसी लक्ष्मीको प्राप्त होता है वा विख्यातिको प्राप्त होता है और परलोकके वास्ते तिस कर्मकी संपत्तिको नहीं शोचता है यह रजोगुणका लक्षण है ॥ ३६ ॥

यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् । येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥ तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते । सत्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

अर्थ–जिस कर्मको वेदके अर्थ जाननेंकेवास्ते करता है और कर्मको करता हुआ लज्जा नहीं मानता है और जिस कर्मसे इसका आत्मा प्रसन्न होता है यह सत्वगुणका लक्षण है ॥ ३७ ॥ कामकी प्रधानता यह तमोगुणका लक्षण है द्रव्यकी प्रधानता रखनी यह रजोगुणका लक्षण है धर्मकी प्रधानता यह सत्वगुण का लक्षण है इनमें उत्तरोत्तर क्रमसे श्रेष्ठता है जैसे कामसे द्रव्य द्रव्यसे धर्म ३८

येन यस्तु गुणेनैषां संसारान्प्रतिपद्यते । तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥ ३९ ॥ देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः । तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥४०॥

अर्थ–इन सत्वआदिगुणोंके मध्यमें जिस गुणकरके जौनसी गतिको यह जीव प्राप्त होता है तिन सबोंको इस सबजगत्के क्रमसे कहैंगे ॥ ३९ ॥ जो सत्वगुणसे युक्त है वे देवयोनिको प्राप्त होते हैं और रजोगुणी पुरुष मनुष्य योनिको प्राप्त होते हैं तमोगुणी पुरुष पशु पक्षी आदि तिर्यक् योनीमें प्राप्त होते है ऐसे यह तीन प्रकारकी गति है ॥ ४० ॥

त्रिविधा त्रिविधैषा तु विज्ञेया गौणिकी गतिः ॥ अधमा मध्यमाग्र्या च कर्मविद्या विशेषतः ॥४१॥ स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः ॥ पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥४२॥

अर्थ–यह गुणोंकी गति इस प्रकारसे तीन तीन प्रकारकी जाननी चाहिये और अधम मध्यम उत्तम ऐसे तीन प्रकारके संसारमें कर्मभेद इन गुणोंकेही है ॥ ४१ ॥ वृक्षआदि स्थावर कृमि कीट अर्थात् बडे कीडे मच्छ सर्प कछुवे

पशु मृग इन योनियोंमें प्राप्त होना यह अत्यंत तामसी गति है ॥ ४२ ॥

हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः । सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥४३॥ चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः । रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥४४॥

अर्थ-हस्ती अश्व शूद्र म्लेच्छ सिंह व्याघ्र सुवर इनकी योनियोमें प्राप्त होना यह मध्यमा तामसी गति कहाती है ॥ ४३ ॥ आचारण, नटआदिक सुवर्णपक्षिविशेष छल करनेंवाले पुरुष राक्षस पिशाच इन योनियोंकी प्राप्ति होनी यह तमोगुणकी उत्तम गति है ॥ ४४ ॥

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः । द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥ राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः । वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

अर्थ-झल्ल मल्ल ये व्रात्यसंज्ञक क्षत्रियसे सवर्णास्त्रीमें उत्पन्न होते हैं और नट शस्त्रकी आजीविका करनेंवाले पुरुष जुवारी मदिरा पीनेंवाले इनमें अत्यंत राजसी अर्थात् रजोगुणकी गति है ॥ ४५ ॥ राजा क्षत्रिय राजावोंके पुरोहित और वाद तथा युद्धमें प्रधान मनुष्य इनमें रजोगुणकी मध्यमा गति है ॥४६॥

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये । तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥ तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः । नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥४८॥

अर्थ-गंधर्व गुह्यक यक्ष देवताओंके अनुचर विद्याधरआदि अप्सरा अर्थात् देवताओंकी गणिका ये सब रजोगुणमें उत्तमा गति कही है ॥ ४७ ॥ वानप्रस्थ तथा भिक्षु ब्राह्मण और पुष्पकआदि विमानोंमें विचरनेंवाले जन नक्षत्र दैत्य ये योनि सत्वगुणनिमित्त होनेंवाली अधम गति कहाती है ॥ ४८ ॥

यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः । पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥ ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च । उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ५०

अर्थ-यज्ञ करनेंवाले यज्वा ऋषि देवता वेदाभिमानीदेवताध्रुवआदि, शरीरधारी वत्सर जो कि इतिहासआदिकोंमें प्रसिद्ध है पितर साध्य संज्ञक देवते ये सब

सत्वगुणकी मध्यमा गति कहाते है ॥ ४९ ॥ चतुर्मुखी ब्रह्मा मरीचिआदि ऋषि महान् शरीरवाला धर्म और सांख्य प्रसिद्ध अव्यक्त जो तत्व है तिसका अधिष्ठातृदेवता ये सब पंडित जनोंनें सत्वगुणकी उत्तमा गति कही है ॥ ५० ॥

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः। त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौतिकः ॥५१॥ इन्द्रियाणां प्रसंगेन धर्मस्यासेवनेन च । पापान्संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥ ५२ ॥

अर्थ–मन वचन शरीर इनकरके तीन भेदोंवाले कर्मका यह संपूर्ण तीनतीन प्रकारवाला संपूर्ण प्राणियोंकी गतिका भेद कह दिया है ॥ ५१ ॥ अधम पापी मनुष्य इंद्रियोंके विषयमें संग करनसे धर्मके नहीं सेवनेंसे प्रायश्चित्तआदि धर्मोंके अनुष्ठान नहीं करनेंसे निंदित अधम गतिको प्राप्त होते है ॥ ५२ ॥

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा । क्रमशो याति लोकेऽस्मिंस्तत्तत्सर्वं निबोधत ॥ ५३॥ बहून्वर्षगणान्घोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात्। संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान्॥५४॥

अर्थ–इस संसारमें यह जीव जिसजिस पापरूप कर्मके जिस जिस जन्मको प्राप्त होता है तिस सबको क्रमसे सुनों ॥ ५३ ॥ ब्रह्महत्याआदि पापकरनेंवाले पुरुष बहुतसे हजारों वर्षोंतक नरकमें प्राप्त होके फिर इन आगे कहे हुए जन्मोंको प्राप्त होते है ॥ ५४ ॥

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् । चण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥ कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम्। हिंस्राणां चैव सत्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ–ब्राह्मणको मारनेंवाला पुरुष, कुत्ता सुवर गधा ऊंट गौ बकरी मृग पक्षी चंडाल पुक्कसजाति इन योनियोंमें प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥ मदिराको पीनेंवाला पुरुष कृमि कीट अर्थात् बडे कीडे, पतंग सुवर पक्षी हिंसा करनेंवाले जीव पिशाच इन योनियोंको प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥

लूताहिसरठानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् । हिंस्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रशः ॥ ५७ ॥ तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि। क्रूरकर्मकृतां चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

अर्थ–मकडी सर्प गिरगिट तिरछे चलनेंवाले सर्पादिक जलचर जीवहिंसा करनेंवाले पिशाच आदि इन योनियोंमें सुवर्णकी चोरी करनेंवाला हजारवार प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥ दूवआदि तृणगुच्छेआदि, गिलोयआदि लता, कच्चे मांसको भक्षण करनेंवाले सिंहआदि क्रूर कर्मवाले व्याघ्रआदि इन योनियोंमें गुरुकी स्त्रीकी शय्यापर प्राप्त होनेंवाले पुरुष सौवार प्राप्त होते हैं ॥ ५८ ॥

हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः ॥ परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविणः ॥५९॥ संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् । अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

अर्थ–जो प्राणियोंकी हिंसा करनेंवाले है वे मरके जन्मान्तरमें विलार आदि क्रव्याद वनते है और जो अभक्ष्य भक्षी हैं वे दूसरे जन्ममें कृमियोंकी योनिमें प्राप्त होते है जो चौर हैं वे आपसके मांसको भक्षण करनेंवाले होते हैं और अंत्य जातिकी स्त्रीसे मैथुन करनेंवाले प्रेत होते हैं ॥ ५९ ॥ पतित पुरुषोंके साथ संयोगकरके और पराई स्त्रीके संग मैथुनकरके तथा ब्राह्मणके धनको हरके ब्रह्मराक्षस होता है ॥ ६० ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः। विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु ॥ ६१ ॥ धान्यं हृत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः । मधु दंशः पयः काको रसं श्वा नकुलो घृतम् ॥ ६२ ॥

अर्थ–माणिक्य आदि मणि मोती मूंगा इनको लोभकरके हरनेंवाला अनेक प्रकारके रत्नोंको हरनेंवाला पुरुष हेमकार अर्थात् सुनार वनता है अथवा हेमकार पक्षी होता है ॥६१॥ अनाजकी चोरी करनेंवाला मूंसा होता है कांसाको चुरानेंवाला हंस जलको चुरानेंवाला मेडक शहदको हरनेंवाला डांस दूधको हरनेंवाला काग रसको हरनेंवाला कुत्ता घृतको हरनेंवाला नौला ऐसे ये सबयोनि प्राप्त होती है ॥ ६२ ॥

मांसं गृध्रो वपां मद्गुस्तैलं तैलपकः खगः । चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि ॥६३॥ कौशेयं तित्तिरिर्हृत्वा क्षौमं हृत्वा तु दुर्दरः। कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोधा गां वाग्गुदो गुडम् ॥ ६४ ॥

अर्थ–मांसको हरनेंवाला गिद्ध होता है चरबीको हरनेंवाला मद्गुनामक जलचर जीव होता है तेलको हरनेवाला तेलपायिक पक्षी होता है निमकको हर-

नेंवाला भंभीरी कीट होता है दहीको हरनेंवाला बुगला होता है ॥ ६३ ॥ फाटके वस्त्रको हरके तित्तर होता है रेसमी वस्त्रको हरनेंवाला मींडक होता है कपासको हरनेंवाला क्रौंच पक्षी होता है गौको हरनेंवाला गोह होता है गुडको चोरनेंवाला वाग्गुदपक्षी होता है ॥ ६४ ॥

छुच्छुन्दरिः शुभान् गन्धान्पत्रशाकं तु बर्हिणः । श्वावित्कृतान्नं विविधमकृतान्नं तु शल्यकः ॥६५॥ बको भवति हृत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम् । रक्तानि हृत्वा वासांसि जायते जीवजीवकः॥६६॥

अर्थ–कस्तूरीआदि सुगंधी द्रव्योंको हरनेंवाला छछूंदर होता है वथुवा आदिपत्रशाकको हरनेंवाला मोर होता है अनेक प्रकारके पके हुए अन्नोंको हरनेंवाला श्वाविध पक्षी होता है चावल, जवआदि कच्चे अन्नको हरनेंवाला श्याहीहोता है ॥ ६५ ॥ अग्निको चुराके बुगला पक्षी होता है और घरकी चीज ऊषल मूसल वरतन इत्यादिकोंको हरनेंवालाभीतआदिकोंमें रहनेंवाला पंखोंवाला गृहकारी कीट होता है कसुंभे वस्त्रोंको हरके चकोर पक्षी होता है ॥ ६६ ॥

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः । स्त्रीमृक्षः स्तोककोवारी यानान्युष्ट्रः पशूनजः ॥६७॥ यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः । अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ॥ ६८ ॥

अर्थ–हस्तीको चुरानेंवाला भेडियावनता है और घोडाको हरनें वाला चीता वनता है फल मूलको चुराके वानर स्त्रीको चुराके रीछ पीनेंकेवास्ते जलको हरके पपीहापक्षी सवारीको चुराके ऊंट पशुवोंको चुराकें बकरा होता है ॥ ६७ ॥ जो मनुष्य यत्किंचित् असार द्रव्यकोभी बलसे हरता है वह मरके अवश्य पशुयोनिमें प्राप्त होता है तथा पुरोडाशआदि विना होमे हुए हविको भक्षण करकेभी पशु होता है ॥ ६८ ॥

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हृत्वा दोषमवाप्नुयुः । एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः ॥६९॥ स्वेभ्यः स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि । पापान्संसृत्य संसारान् प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु ७०

अर्थ–स्त्रियांभी इसी प्रकारसे इच्छा करके पराये द्रव्यको हरके दोषको प्राप्त होती है और इन ही कहे हुए जीवोंकी स्त्री बनती है ॥ ६९ ॥ ब्राह्मणआदि चारोंवर्ण आपत्कालके विना अपनें कर्म पंचयज्ञादिकोंसे जो भ्रष्ट हो जाते है

वे मरके दूसरे जन्ममें आगे कही हुई निंदित योनियोंमें प्राप्त होके शत्रुवोंके दास टहैलवे होते है ॥ ७० ॥

वान्ताश्युल्कामुखः प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः । अमेध्यकुणपाशीच क्षत्रियः कटपूतनः ॥७१॥ मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक् । चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः ॥७२॥

अर्थ–अपनें कर्मसे भ्रष्ट होनेंवाला ब्राह्मण वमनको भोजन करनेंवाला ज्वालामुख प्रेत होता है और अपनें धर्मसे भ्रष्ट हुआ क्षत्रिय विष्ठा मुरदा आदिकोंको भोजन करनेंवाला कटपूतन संज्ञक प्रेत होता है ॥ ७१ ॥ अपनें कर्मसे भ्रष्ट हुआ वैश्य जन्मांतरमें पीबको भक्षण करनेंवाला और मैत्राक्षज्योतिक अर्थात् जिसकी गुदामें नेत्र हों ऐसा प्रेत होता है और अपनें कर्मसे विगडनेंवाला शूद्र चैलाशक अर्थात् वस्त्रोंकी जूमोंको भक्षण करनेंवाला प्रेत होता है ॥ ७२ ॥

यथा यथा निषेवन्ते विषयान्विषयात्मकाः । तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥७३॥ तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः । संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥ ७४ ॥

अर्थ–जैसे जैसे विषयी पुरुष विषयोंको सेवते है तैसे तैसे ही तिन विषयी पुरुषोंके उन विषयोंमें अधिक प्रीति हो जाती है ॥ ७३ ॥ वे अल्पबुद्धिवाले विषयी तिन पापरूप कर्मोंके अधिक अभ्यास हो जानेंसे जैसे जैसे अधिक पाप हो जाते है तैसी तैसी निंदित अत्यंत निंदित योनियोंमें उत्पन्न होते है ॥ ७४ ॥

तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम् । असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥७५॥ विविधाश्चैव संपीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् । करम्भवालुकातापान्कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥ ७६ ॥

अर्थ–और वे विषयी पुरुष तामिस्रआदि घोरनरकोंमें प्राप्त होते है तथा असिपत्र वनआदिकोंमें बंधन तथा छेदन करनेंवाले नरकोंमें प्राप्त होते है ॥७५॥ अनेकप्रकारकी पीडाको प्राप्त होते है तथा कागडेउलूकआदिकोंसे भक्षण किये जाते है और करंभ वालुका ताप कुंभीपाक इत्यादि दारुण नरकोंमें प्राप्त होते है॥७६॥

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः । शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च ॥ ७७ ॥ असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च

दारुणम् । बन्धाननि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च ॥ ७८ ॥

अर्थ–नित्य दुःख प्राप्तिवाली तिर्यक् पशुआदि योनियोंमें जन्मको प्राप्त होते है और शीत घांम चोटआदि अभिघात ऐसे अनेकप्रकारके भयोंको प्राप्त होते है ॥ ७७ ॥ वारंवार गर्भस्थानमें वास होवे और दारुण दुःखसहित जन्म होवे और बेडीआदिकोंसे बंधन होवे तथा परपुरुषका दास टहैलवा होवे ॥ ७८ ॥

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनैः । द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम् ॥ ७९ ॥ जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिभिश्चोपपीडनम् । क्लेशांश्च विविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम् ॥ ८० ॥

अर्थ–प्रियबंधु जनोंके साथ वियोग होवे और दुर्जनोंके साथ मेल होनें धनके इकट्ठे करनेंमें परिश्रम होवे और फिर धनका नाश हो जावे और मित्रतो कष्टसे होवे शत्रु अचानक उत्पन्न हो जावे ॥ ७९ ॥ जरा अर्थात् जिसका कुछ इलाज न हो सके ऐसी बुढापाकी पीडा व्याधियोंकी पीडा जिसका इलाज न हो सके ऐसी दुर्जयमृत्यु इनको प्राप्त होते है ॥ ८० ॥

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते । तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ॥ ८१ ॥ एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः । नैश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधत ॥ ८२ ॥

अर्थ–जैसे स्वभाव करके सत्वगुणस्वभावसे बार जो गुणी स्वभावसे तथा तमोंगुणी स्वभावसे जिस जिस कर्मका सेवन करता है तैसेही शरीरसे तिसी तिसी स्नानआदि फलोंको भोगता है ॥ ८१ ॥ निषिद्ध कर्मोंको करनेंवालोंका यह संपूर्ण फलोदय अर्थात् प्राप्त होनेंवाला फल तुह्मारेवास्ते कह दिया है अव ब्राह्मणोंके हित कर्मके अनुष्ठानको सुनों ॥ ८२ ॥

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः । अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥ ८३ ॥ सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम् । किञ्चिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति ॥ ८४ ॥

अर्थ–वेदका अभ्यास कृच्छ्रआदि तप शास्त्रका ज्ञान इंद्रियोंका रोकना हिंसा नहीं करनी गुरुकी सेवा करनी ये सब परम कल्याणके साधक है ॥ ८३ ॥ वेदाभ्यासआदि इन सब शुभकर्मोंके बीज किंचित्मात्र कर्म अत्यंत करके पुरुषके मोक्षका साधक कहा है ॥ ८४ ॥

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् । तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥८५॥ षण्णामेषा तु सर्वेषां कर्मणा प्रेत्य चेह च । श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वैदिकम् ॥ ८६ ॥

अर्थ–वेदाभ्यासआदि इन सब कर्मोंमें उपनिषदोंमें कहा हुआ आत्मज्ञान परम श्रेष्ठ है क्योंकि वह ज्ञान सब विद्याओंमें प्रधान है कि जिससें मोक्ष प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥ वेदाभ्यासआदि इन पूर्वोक्त छह कर्मोंके मध्यमें इस लोकमें तथा परलोकमें सदा कल्याणकरनेंवाला वैदिककर्म अर्थात् आत्मज्ञान कहा है ८६

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः । अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिंस्तस्मिन् क्रियाविधौ ॥ ८७ ॥ सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च । प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८॥

अर्थ–परमात्माकी उपासनारूप वैदिक कर्ममें संपूर्ण कर्म क्रम करके तिसी आत्मामें संभव होते हैं अर्थात् ये सब वेदोक्तकर्म तिसी आत्माका विचार करते हैं ॥ ८७ ॥ स्वर्गआदिके सुखोंकी प्राप्ति करनेंवाला तथा मोक्षको प्राप्त करनेंवाला ऐसा प्रवृत्तिकारक और निवृत्तिकारक दो प्रकारका अग्निष्टोमयज्ञआदि वैदिककर्म कहा है ॥ ८८ ॥

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते । निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥ प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् । निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

अर्थ–इस संसारमें वर्षाआदिकी इच्छासे वा स्वर्गआदिकी प्राप्तिकेवास्ते जो वैदिककर्मकिया जाता है वह संसार प्रवृत्त कर्म कहाता है और जो ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म किया जाता है वह निष्काम कर्म कहाता है ॥ ८९ ॥ प्रवृत्त वैदिक कर्मको अभ्याससे सेवन करे तो देवताओंके समान हो जाता है और निवृत्त कर्मको अभ्याससे सेवन करता हुआ पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥९१॥ यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः । आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ९२

अर्थ–जो पुरुष अग्निष्टोमआदि यज्ञ करता हुआ, स्थावर जंगमआदि सब भू-

तोंमें आत्मारूपसे मैंही स्थित हूं तथा आत्मारूपसे सब मेरे मैंही स्थितहै ऐसे समान देखता हुआ आत्मयाजी पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ९१ ॥ अग्निहोत्र आदि यथोक्त शास्त्रकर्मको त्यागकेभी द्विजोत्तम ब्रह्मध्यान इंद्रियनिरोध ओंकार आदि उपनिषदोंका ध्यान इनके अभ्यासमें यतन करे ॥ ९२ ॥

एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः । प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥ पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुःसनातनम् । अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९४॥

अर्थ—यह आत्मज्ञानआदि धर्म जन्मको सफल करनेवाला कहा है और ब्राह्मणको विशेष करिकै श्रेष्ठ कहा है द्विज इस आत्मज्ञानको प्राप्त होके कृतकृत्य है अन्यथा नहीं ९३ ॥ पितर देवता मनुष्य इनके हव्यकव्यके दानमें वेदही सनातन चक्षु है और अशक्य अर्थात् कर्त्ता ईश्वरके विना अन्य नहीं और इसका प्रमाण नहीं हो सक्ता ऐसी स्थिति है ॥ ९४ ॥

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥९५॥ उत्पद्यन्ते च्यवन्तेच यान्यतोऽन्यानि कानिचित् । तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥

अर्थ—जो स्मृति वेदसे बाह्य है अर्थात् वेदके मतसे विरुद्ध है और तर्कमूल वाली है वे सब मन्वादिकोंनें निष्फल कही हैं क्योंकि वे परलोकमें नरकके फलवाली कही है ॥ ९५ ॥ जो वेदमूलसे विरुद्ध कोई शास्त्र पुरुषार्थसे उत्पन्न होते है वे सब शीघ्रही नष्ट होजाते है क्योंकि वे अबके नवीन होनेंसे निष्फल है और असत्य रूप है ॥ ९६ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥ ९७ ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गंधश्च पञ्चमः । वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

अर्थ—ब्राह्मणोऽस्यमुख मासीत्०इत्यादिक वेदसेही चारोंवर्ण और तीनोंवेद और अलग अलग चारों आश्रम ये सब वेदसेही सिद्ध होते है अर्थात् मालूम होते है और व्यतीत हुआ वर्त्तमान भविष्य यह हालभी वेदसीही मालूम होता है ॥ ९७ ॥ इस लोकमें वा परलोकमें जो शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये विषय उत्प-

न्न होते है सो सब गुण कर्मके योग होनेंसे वेदसेही सिद्ध होते है क्योंकि सत्व आदि गुण कर्म इनकी उत्पत्ति वेदही है ॥ ९८ ॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥ सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १०० ॥

अर्थ–वेदशास्त्र सदा संपूर्ण भूतोंको धारण करता है इसवास्ते इस वेदशास्त्रको परम श्रेष्ठ मानते है क्योंकि इस्से सब प्राणियोंका प्रयोजन सिद्ध होता है ॥९९॥ सेनाका अधिपति राज्य दंडको देनेंवाला संपूर्ण लोकोंका अधिपति मालिक इन उक्त प्रयोजनोंके वास्ते वेदशास्त्रको जाननेंवालाही योग्य है ॥ १०० ॥

यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् । तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥१०१॥ वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन् । इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

अर्थ–जैसे अत्यंत तेजमें बढाहुआ अग्नि गीलेभी वृक्षोंको जला देता है तैसेही वेदको जाननेंवाला द्विज कर्मसे उत्पन्न हुए आत्माके दोषोंको दग्ध कर देता है ॥ १०१ ॥ जो पुरुष तत्त्वसे वेदको और वेदके अर्थको यानें उसके कर्मको जानता है वह जिसकिसी आश्रममें वास करता हुआ इसी लोकमें स्थित हुआ ब्रह्मरूपताको प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः । धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥१०३॥ तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम् । तपसा किल्बिषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

अर्थ–थोडे पढेहुए अज्ञ पुरुषोंसे अधिक श्रेष्ठ ग्रंथोंके पढनेंवाले हैं और ग्रंथोंवालोंसे तिन ग्रंथोंकी धारणावाले श्रेष्ठ है तिनसे श्रेष्ठ अर्थ ज्ञानको जाननेंवाले है उनमेंभी अत्यंत निश्चय करनेंवाले श्रेष्ठ है ॥ १०३ ॥ द्विज तपकरके पापको दूर करता है और ब्रह्म विद्याकरके मोक्षको प्राप्त होता है इसवास्ते ब्राह्मणको तप विद्या ये दोनों परम कल्याणको करनेंवाले कहे है ॥ १०४ ॥

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥१०५॥ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

अर्थ-धर्मके तत्वके अवबोधकी इच्छा करनेंवाले पुरुषमें प्रत्यक्ष प्रमाण यथार्थ शास्त्र शास्त्र २ वेद मूल अनेक प्रकारका स्मृति आदि शास्त्र ३ ये तीन प्रमाण सुंदर प्रकारसे निश्चय करनें चाहिये ॥ १०५ ॥ ऋषियोंसे कहा हुआ आर्षवेद धर्मका उपदेश इनको जो पुरुष वेद मूल और वेदकी अविरोधिनी स्मृतिसे जो न्याय आदि तर्कसे विचारता है वह धर्मको जाननेंवाला है अन्य नहीं ॥ १०६ ॥

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः। मानवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥१०७॥ अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्। यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः ॥ १०८ ॥

अर्थ-यह कल्याण मोक्षको साधनेंवाला कर्म यथार्थ प्रकारसे संपूर्ण कह दिया है अब इस मनु शास्त्रके रहस्य अर्थात् गूढ अभिप्रायको कहते हैं ॥ १०७ ॥ जिनका कुछ नियम नहीं कहाहो ऐसे बहुतसे धर्महों तिनमें कौनसा धर्म करे ऐसा संदेह होजावे तो जिस धर्मको आगे कहे हुए ये शिष्ट ब्राह्मण कहैं उसको निस्संदेह होके करै ॥ १०८ ॥

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः। ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥१०९॥ दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्। त्र्यवरा वाऽपि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ ११० ॥

अर्थ-जिन ब्राह्मणोनें ब्रह्मचर्य आदि धर्ममें युक्त होके न्यायमीमांसा धर्मशास्त्र पुराण इत्यादिकोंसे परि बृंहित वेद पढा है वे स्तुतिके प्रत्यक्ष करनेमें हेतु है जो उस श्रुतिको पढके उसके अर्थका उपदेश देते है वे शिष्ट ब्राह्मण कहाते है ॥ १०९ ॥ प्रयोजनके वास्ते स्थित हुई दशावरा नामवाली वा त्र्यवरा नामवाली परिषत् जिस धर्मका निर्णय कर देवे उस धर्म हरावे नहीं उनको कहते है ॥ ११० ॥

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः। त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥१११॥ ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च। त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ११२ ॥

अर्थ-तीनों वेद संबंधी तीनों शाखाओंके पढे हुए श्रुति स्मृतिसे अविरुद्ध न्याय शास्त्रके पढे हुए मीमांसात्मक तर्कको जाननेंवाला मनु आदि धर्म शास्त्रको

जाननेंवाला ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ ये सब गुणोंवाले ब्राह्मण जहां होवें वह दशावरा परिषत् कहाती है ॥ १११ ॥ ऋक् यजुष् साम इन वेदोंको; पढनेंवाले और तीन ब्राह्मण इन तीनों वेदोंके अर्थको जाननेंवाले जहां होवे वहां धर्मके संदेह दूर करनेंके वास्ते त्र्यवरा परिषत् कहाती है ॥ ११२ ॥

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद्द्विजोत्तमः । स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥११३॥ अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् । सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥११४॥

अर्थ–वेदके अर्थको जाननेंवाला एकभी द्विजोत्तम जिस धर्मका निर्णय कर देवे वह परम उत्तम धर्म जानना और मूर्ख जन दश हजारभी जो एक धर्मका निर्णय करै वह उत्तम नहीं ॥ ११३ ॥ गायत्री ब्रह्मचर्य आदि व्रतसे रहित मंत्र वेदाध्ययनसे रहित ब्राह्मणकी जाति मात्रको धारण करनेंवाले ऐसे ब्राह्मण हजारोंभी इकट्ठे होवे तो उनको परिषत्व नहीं है अर्थात् उनसे किसी धर्मको निर्णय कराना योग्य नहीं ॥ ११४ ॥

यं वदन्ति तमो भूता मूर्खा धर्ममतद्विदः । तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥११५॥ एतद्वोऽभिहितं सर्वं निःश्रेयसकरं परम् । अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ११६ ॥

अर्थ–तमोगुणी स्वभाववाले बहुतसे मूर्खजन विना जानें हुए जिस धर्मको किसीको उपदेश देते है उस उपदेश ग्रहण करनेंवालेका पाप सौ गुना होके उन मूर्ख बहुतसे ब्राह्मणोंके उपदेश देनेंवालोंके लग जाता हैं ॥ ११५ ॥ यह परम कल्याणका साधक संपूर्ण धर्म तुह्मारेवास्ते कहा है इस्से अलग नहीं होनेंवाला ब्राह्मण स्वर्गआदि परम उत्तमगतिको प्राप्त होता है ॥ ११६ ॥

एवं स भगवान् देवो लोकानां हितकाम्यया । धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥११७॥ सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः । सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥

अर्थ–वह ऐश्वर्यवान् मनु देवलोकोंके हितकी इच्छा करके इस प्रकारसे इस सब परम गुह्य धर्मको मेरेवास्ते कहता भया यह भृगुजीका वचन ऋषियोंकेप्रति है ॥ ११७ ॥ ब्राह्मण इस प्रकारसे सत्वस्तुको और असत्वस्तुको देखता हुआ सावधान हुआ ब्रह्मस्वरूप आत्मामें संपूर्ण वस्तुको देखै क्योंकि

आत्मामें संपूर्णको देखता हुआ ब्राह्मण अधर्ममें मन नहीं करता है ॥ ११८ ॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषा कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥११९॥ खं संनिवेशयेत्स्वेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्। पक्तिदृष्ट्योः परं तेजः स्नेहेऽपो गां च मूर्तिषु ॥१२०॥

अर्थ–इंद्रआदि सब देवते आत्माही है और सब कुछही आत्मामें स्थित है और परमात्माही इन क्षेत्रज्ञआदि शरीरधारियोंके कर्मके संबंधको उत्पन्न करनेंवाला है ॥ ११९ ॥ बाह्यके आकाशको उदरआदिके आकाशमें एकत्व लीनताकरके धारण करै और प्राणआदि अंतर्गतवायुमें बाह्यकी वायुको धारण करे और अग्नि सूर्यके परम तेजको अपनें नेत्रआदि तेजमें धारण करे जलको अपनें देहमें धारण करे पृथ्वीको अपनें शरीरमें धारण करे ॥ १२० ॥

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णुं बले हरम्। वाच्यग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥१२१॥ प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥

अर्थ–और मनमें चंद्रमा दिशाओंको कानोंमें पैरोंमें विष्णुको, बलमें शिवजीको वाणीमें अग्निको गुदा इंद्रियमें मित्र देवताको और लिंग इंद्रियमें प्रजापति ब्रह्माको धारण करे ऐसे इन देवताओंको एकत्वकरके भावना करै ॥ १२१ ॥ जो ब्रह्मासे आदि ले स्तंबपर्यंत सबको शिक्षा देता है अर्थात् जिसकी सत्तापाके सब अपनें अपनें कार्योंमें प्रवृत्त है और जो सूक्ष्मसेभी अति सूक्ष्म है शुद्ध सुवर्णके समान जिसके रूपकी उपासना कीजाती है और जो स्वप्नकी बुद्धिकी तरंह आपही बुद्धिको प्राप्त होता है उसको परम पुरुष परमात्मा जानैं ॥ १२२ ॥

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥१२३॥ एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः। जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

अर्थ–इस परमात्माको यज्ञकरनेंवाले जन अग्निरूपकरके मानते है और अग्निरूपकाही उपदेश देते है और अन्य कई ऋषि प्रजाकी रचना करनेंवाला होनेंसे प्रजापतिरूपसे कहते है अन्य कई इंद्ररूपसे कहते है और अन्य कई प्राणरूपही परमात्माको मानते है क्योंकि प्राणोंसेही यह संसार वर्त्तता है और अन्य कई प्रपंचरहित आनंदस्वरूप ब्रह्म मानते है सर्वगत होनेंसे ब्रह्ममें ये सब उपासना

वन सक्ती है ॥ १२३ ॥ यह परमात्मा पृथ्वीआदि पंचभूतोंसे संपूर्ण जीवोंके संयुक्त कराके सबमें व्याप्त है और जन्म वृद्धि नाश इन करके इस संसारको चक्रकी तरंह वर्त्तता है ॥ १२४ ॥

एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥१२५॥ इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्न् द्विजः । भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥ १२६ ॥

अर्थ-इस प्रकार जो पुरुष सब भूतोंमें अपनें आत्माकरके आत्माकोही देखता है वह सबमें समताको प्राप्त होके परमपद ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ १२५ ॥ भृगुजीसे कहा हुआ इस मनुशास्त्रको पढता हुआ द्विज नित्य विहित अनुष्ठानको आचरण करनेंवाला हो जाता है और मनोवांछित स्वर्ग मोक्षआदि गतिको प्राप्त होता है ॥ १२६ ॥

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तैषा मनुसंहिता ॥

इति [illegible]वासिबुधशिवसहायसूनुवैद्यरविदत्तशास्त्रिविरचितमन्वर्थदीपिकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

रसगुणांकभूम्यब्दे श्रावणेसितपक्षके ।
मनुस्मृतेरियं टीका रविदत्तेन निर्मिता ॥ १ ॥

सुमेहपुरनिवास्यावसथियाज्युपाह्वश्रीपण्डितहरिवंशशर्मणा संशोधिताच ।

समाप्त.